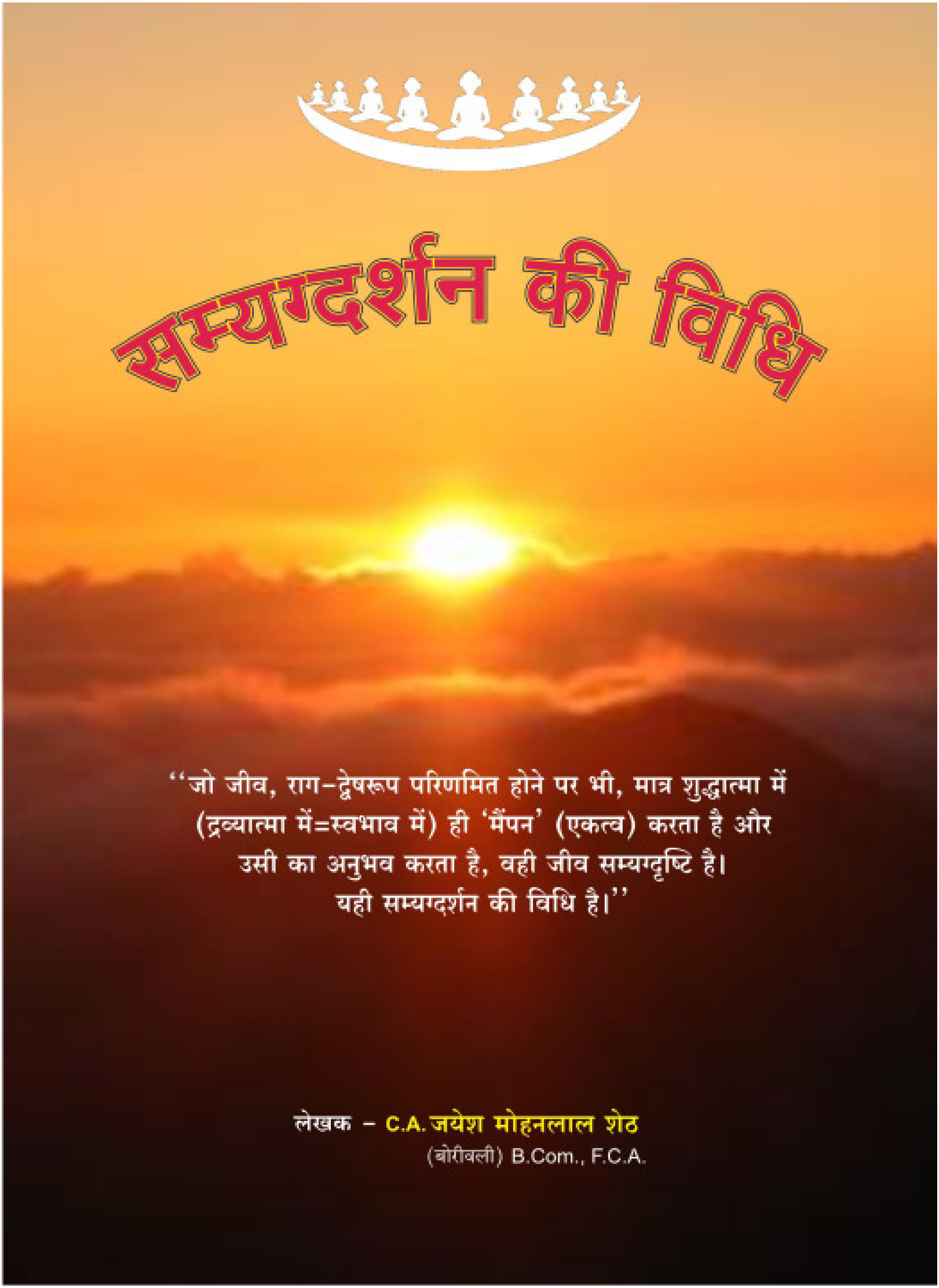

सम्यग्दर्शन की विधि

‘‘जो जीव, राग–द्वेषरूप परिणमित होने पर भी, मात्र शुद्धात्मा में
(द्रव्यात्मा में=स्वभाव में) ही ‘मैंपन’ (एकत्व) करता है और
उसी का अनुभव करता है, वही जीव सम्यग्दृष्टि है।
यही सम्यग्दर्शन की विधि है।’’

लेखक – **C.A. जयेश मोहनलाल शेठ**
(बोरीवली) B.Com., F.C.A.

सम्यग्दर्शन की विधि

लेखक
CA जयेश मोहनलाल शेठ
बी.काम., एफ.सी.ए.

अर्पण

माता - **पूज्य कान्ताबेन,** पिता - **पूज्य स्वर्गीय मोहनलाल नानचन्द शेठ**
तथा भाई - **श्री रश्मिनभाई मोहनलाल शेठ** को

''जो जीव, राग-द्वेषरूप परिणमित होने पर भी, मात्र शुद्धात्मा में (द्रव्यात्मा में=स्वभाव में) ही 'मैंपन' (एकत्व) करता है और उसी का अनुभव करता है, वही जीव सम्यग्दृष्टि है। यही सम्यग्दर्शन की विधि है।''

सम्पादन : मनीष मोदी

प्रकाशक : शैलेश पूनमचन्द शाह

अनुक्रमणिका

क्रम	विषय	पृष्ठ
१	लेखक के हृदयोद्गार	१
२	पूर्वभूमिका	५
३	सम्यग्दर्शन	१२
४	द्रव्य-गुण व्यवस्था	१६
५	द्रव्य-पर्याय व्यवस्था	२०
६	उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप व्यवस्था	२३
७	दृष्टि भेद से भेद	२४
८	पंचाध्यायी पूर्वार्द्ध के वस्तुव्यवस्था दर्शाते श्लोक	२६
९	सम्यग्दर्शन का स्वरूप	५६
१०	सम्यग्दर्शन का विषय अर्थात् दृष्टि का विषय	६०
११	पंचाध्यायी पूर्वार्द्ध के सम्यग्दर्शन का विषय दर्शाते श्लोक	६३
१२	आत्मज्ञानरूपी स्वात्मानुभूति परोक्ष या प्रत्यक्ष?	६८
१३	स्वात्मानुभूति आत्मा के किस प्रदेश में?	६९
१४	क्या इन्द्रियज्ञान ज्ञान नहीं है?	७०
१५	पर्याय परमपारिणामिकभाव की ही बनी हुई है	७३
१६	स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय	७७
१७	नव तत्त्व की सच्ची श्रद्धा का स्वरूप	७८
१८	सम्यग्दर्शन का लक्षण	८३
१९	सम्यग्दृष्टि को भोग बन्ध का कारण नहीं	८५
२०	निमित्त-उपादान की स्पष्टता	८७
२१	उपयोग और लब्धि रूप सम्यग्दर्शन	८९
२२	स्वानुभूति रहित श्रद्धा	९०
२३	सम्यग्दृष्टि जीव का निर्विचिकित्सा गुण	९२
२४	सम्यग्दर्शन के लिये योग्यता	९३
२५	शुभोपयोग निर्जरा का कारण नहीं	१३३
२६	सम्यग्दर्शन बिना द्रव्य चारित्र	१३५
२७	स्वपर विषय का उपयोग करनेवाला भी आत्म ज्ञानी होता है	१३६
२८	प्रवचनसार-अनुसार सम्यग्दर्शन का विषय	१३८
२९	नियमसार टीका में सम्यग्दर्शन का विषय	१४०

३० ध्यान के विषय में १४३
(३१) साधक को सलाह १४६
३२ नियमसार के अनुसार सम्यग्दर्शन और ध्यान का विषय... ... ... १५२
३३ पंचास्तिकाय संग्रह की गाथाएं १७३
३४ अट्ठपाहुड की गाथाएं... ... ... १७४
३५ सम्यग्दर्शन और मोक्षमार्ग १७७
३६ समयसार के अनुसार सम्यग्दर्शन का विषय १७९
३७ समयसार के अधिकारों का विहंगावलोकन २००
३८ समयसार के परिशिष्ट में से अनेकान्त का स्वरूप २१७
(३९) बारह भावना २२३
(४०) नित्य चिन्तन कणिकाएं २२५
(४१) रात्रिभोजन के सम्बन्ध में २३२
(४२) समाधिमरण चिन्तन २३३
(४३) यूनिवर्सल लॉ २३५

○ = इन प्रकरणों को बार-बार पढ़ें।

© CA. **जयेश मोहनलाल शेठ**

मूल्य : अमूल्य

नोट : यह पुस्तक किसी को प्रकाशित करवानी हो या इसकी प्रभावना करनी हो तो हम से संपर्क साधें। अगर आपको इस पुस्तक की जरुरत न हो तो नीचे दिये पते पर कृपया भिजवा दें।

Ebook available on www.jayeshsheth.com

सम्पर्क और प्राप्तिस्थान

शैलेश पूनमचन्द शाह - 402, पारिजात, स्वामी समर्थ मार्ग, (हनुमान क्रॉस रोड 2),
छत्रपति शिवाजी स्कूल के सामने, विले पार्ले (पूर्व), मुम्बई 400057 email : spshah1959@gmail.com
फ़ोन : 022-26133048 मोबाइल: 9892436799 / 7303281334
जयकला नलिन गाँधी – C-502, एडवेंट नील रेज़िडेंसी, पूर्णप्रज्ञा हाईस्कूल के पीछे, भरूचा रोड, भाटलादेवी मन्दिर के सामने, दहिसर (पूर्व) मुम्बई 400068
फ़ोन : 28952530, मोबाइल: 9833677447/9821952530

टाईप सेटिंग : **विवेक कम्प्यूटर्ज़,** अलीगढ़।
मुद्रण : **पारस प्रिंट्ज़**

– अनुमोदक –

जयकला नलिन गाँधी परिवार

स्व. जयंतिलाल नरभेराम देसाई परिवार, हस्ते : स्मिता प्रकाश देसाई

पू. पिताश्री मुकुंदराय गिरधरलाल शाह (नाथाभवानवाले) और
पू. मातुश्री ज्योतिबेन नरेन्द्रभाई परीख (लगडीवाले) के स्मरणार्थ
हस्ते : नमिता रसेश शाह का जय जिनेन्द्र

प्रस्तावना

संसार के तमाम प्रपंचों से यथासम्भव दूर रहते हुए सिर्फ़ आत्मसाधना में लीन और ज़रूरी तथा ग़ैरज़रूरी का फ़र्क़ समझने में समर्थ चिन्तक जयेशभाई शेठ की कृति 'सम्यग्दर्शन की विधि' उस अनुभव की एक प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति है जिस से वे निरंतर गुज़रते रहे हैं। अपने अनुभव को सीधे-सीधे पाठक को सौंपने के पूर्व उन्होंने उसे कुन्दकुन्द (दूसरी सदी ईस्वी), जोइन्दु (छठी सदी ईस्वी) जैसे आत्मसाधकों से लेकर पं. राजमल (१६वीं सदी ईस्वी) जैसे विद्वानों के ग्रन्थों की कसौटी पर कसा है। सब तरह से खरा उतरने पर ही बहुजन के हित और बहुजन के सुख के लिये उन्होंने उस के प्रकाशन की सहमति दी है।

पुस्तक के पीछे लेखक की एक सार्वभौमिक, सार्वजनीन दृष्टि है। वह मात्र आत्मा की बात करती है। वह किसी संकीर्ण सोच में क़ैद नहीं है। जीवन के सिद्धान्त पक्ष और व्यवहार पक्ष दोनों पर उस ने एक निश्छल तटस्थता से विचार किया है।

मुझे लगता है, लेखक का सम्पर्क, सोच और रचनाकर्म उस की साधना को दूसरों में संक्रमित करने में भी समर्थ है। उस के सहयोग में रह रहे शैलेशभाई शाह की जीवनचर्या और व्यवहार को देखकर मैं यही संकेत ग्रहण करता हूँ। दूसरों में अपने व्यक्तित्व का ऐसा संक्रमण और संप्रेक्षण कर पाना तभी सम्भव है जब लेखक की ख़ुद की जीवनचर्या, आत्मसाधना एवं जीवन उस के लेखन से भी बड़ा तथा मुख्य हो और लेखन उस का एक बाएप्रोडक्ट भर हो। कालजयी लेखन हमेशा बाएप्रोडक्ट ही होता है।

डॉ. जयकुमार जलज

30, इन्दिरा नगर,
रतलाम 457 001

ॐ श्रीमहावीराय नम:

लेखक के हृदयोद्गार

मुझ में छोटी उम्र से ही सत्य को खोजने की तड़प थी। उस के लिये सभी दर्शनों का अभ्यास किया और अन्त में जैन दर्शन के अभ्यास के पश्चात् १९९९ में ३८ वर्ष की उम्र में मुझे सत्य की प्राप्ति हुई, अर्थात् उस का अनुभव/साक्षात्कार हुआ। तत्पश्चात् जैन शास्त्रों का पुन:-पुन: स्वाध्याय करते हुए अनेक बार सत्य/शुद्धात्मा का अनुभव हुआ, जिसकी विधि इस पुस्तक में शास्त्रों के आधार सहित सभी आत्मार्थियों के लाभार्थ प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

प्रत्येक जैन सम्प्रदाय में सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध में तो अनेक पुस्तकें हैं, जिन में सम्यग्दर्शन के प्रकार, सम्यग्दर्शन के भेद, पाँच लब्धियाँ, सम्यग्दर्शन के पाँच लक्षण, सम्यग्दर्शन के आठ अंग, सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोष-इत्यादि विषयों पर विस्तार से वर्णन है, परन्तु उन में सम्यग्दर्शन के विषय पर चर्चा बहुत ही कम देखने में आती है; इसलिये हमने उस पर प्रस्तुत पुस्तक में थोड़ा प्रकाश डालने का प्रयास किया है।

हम किसी भी मत-पन्थ में नहीं हैं। हम मात्र आत्मा में हैं, मात्र आत्मधर्म में ही हैं; इसलिये यहाँ हमने किसी भी मत-पन्थ का मण्डन अथवा खण्डन न करके मात्र जो आत्मार्थ उपयोगी है, वही देने की कोशिश की है; इसलिये सब उसे इसी अपेक्षा से समझें यह अनुरोध है।

हमने इस पुस्तक में जो भी बताया है, वह शास्त्र के आधार से और अनुभव करके बताया है, तथापि यदि किसी को हमारी बात कल्पना भर लगती हो, तो वे इस पुस्तक में बताये हुए विषय को किसी भी शास्त्र के साथ मिलान कर देखें अथवा स्वयं अनुभव करके प्रमाण करके देखें-इन दो के अतिरिक्त अन्य कोई परीक्षण की विधि नहीं है। कोई अपनी धारणा के अनुकूल न होने से हमें अन्यथा माने, तो उस में हमारा कुछ नुक़सान नहीं है क्योंकि उस से हमारे आनन्द के ज्वार में कुछ भी हीनता आनेवाली नहीं है। आप को ऐसा लगता हो कि आपने जो मान रखा है, वही सच्चा है तो आप से हम कहते हैं कि आप अपनी धारणा अनुसार आत्मानुभूति कर लें तो बहुत अच्छा। यदि आप अपनी धारणा के अनुसार वर्षों तक प्रयत्न करने के बाद भी, भावभासन (तत्त्व का निर्णय) तक भी नहीं पहुँचे हों और तत्त्व की चर्चा तथा वाद-विवाद ही करते रहे हों, तो आप इस पुस्तक में दर्शाये हुए विषय पर अवश्य विचार करें।

यदि आप विचार करेंगे तो तत्त्व का निर्णय तो अचूक होगा ही–ऐसा हमें विश्वास है। इसलिये इस पुस्तक में जो विषय बताया है, उस पर सब से विचार करने के लिये हमारा अनुरोध है। हम किसी वाद–विवाद में नहीं पड़ना चाहते; इसलिये जिन्हें यह बात समझ में न आये अथवा न रुचे, वे हमें क्षमा करें। 'मिच्छामि दुक्कडं'। 'उत्तम क्षमा'।

वर्तमान काल में जैनसमाज दो भागों में विभाजित हो गया है। एक विभाग ऐसा है कि जो मात्र व्यवहार नय को ही मानता है और मात्र उसे ही प्रधानता देता है तथा मात्र उस से ही मोक्ष मानता है। दूसरा विभाग ऐसा है कि जो मात्र निश्चय नय को ही मानता है और मात्र उसे ही प्रधानता देता है तथा मात्र उससे ही मोक्ष मानता है।

परन्तु वास्तविक मोक्षमार्ग निश्चय–व्यवहार की योग्य सन्धि में ही है। यह बात कोई विरले ही जानते हैं। जैसा कि पुरुषार्थसिद्धयुपाय श्लोक ८ में भी कहा है कि 'जो जीव व्यवहार नय और निश्चय नय को वस्तु स्वरूप द्वारा यथार्थ रूप से जानकर मध्यस्थ होता है, अर्थात् निश्चय नय और व्यवहार नय में पक्षपात रहित होता है, वही उपदेश के सम्पूर्ण फल को प्राप्त करता है। (अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त करता है।)'

वर्तमान काल में बहु भाग जैनसमाज व्यवहार नय को ही प्रधानता देता है और निश्चय नय की घोर अवगणना अथवा विरोध करता है, जिस से वह जाने–अनजाने भी एकान्त मतावलम्बी होता है। वह पाखण्ड का मत है। जैनसमाज का दूसरा वर्ग निश्चय नय को ही प्रधानता देता है और व्यवहार नय की घोर अवगणना अथवा विरोध करता है, वह भी जाने–अनजाने में एकान्त मत रूप है, वह भी पाखण्ड का मत ही है।

हमने इस पुस्तक में निश्चय–व्यवहार की योग्य सन्धि समझाने का प्रामाणिक प्रयत्न किया है। उसे सारा जैनसमाज योग्य रीति से समझकर आराधन करे तो जैन धर्म में आमूल क्रान्ति आ सकती है और अभी जो एकान्त प्ररूपणायें चलती हैं, जो कि पाखण्ड मत रूप हैं, वे रुक सकती हैं।

मात्र व्यवहार नय को ही मान्य करके, उसे ही प्रधानता देता एक उदाहरण है - सम्यग्दर्शन का स्वरूप; मात्र व्यवहार नय को ही मान्य करनेवाले बहुत सारे जैन ऐसा मानते हैं कि सम्यग्दर्शन अर्थात् सात/नौ तत्त्वों की (स्वानुभूति रहित) श्रद्धा अथवा सच्चे देव–शास्त्र–गुरु की (स्वानुभूति रहित) श्रद्धा। सम्यग्दर्शन की यह व्याख्या व्यवहार नय के पक्ष की है परन्तु निश्चय नय के मत से जो एक को अर्थात् आत्मा को जानता है, वही सर्व को अर्थात् सात/नौ तत्त्वों तथा सच्चे देव–शास्त्र–गुरु को जानता है क्योंकि एक आत्मा को जानते ही वह जीव

सच्चे देव तत्त्व का अंशत: अनुभव करता है और इसीलिये वह सच्चे देव को अन्त:करण से पहचानता है तथा सच्चे देव को जानते ही अर्थात् (स्वानुभूति सहित) श्रद्धा होते ही वह जीव वैसा देव बनने के मार्ग में गतिशील सच्चे गुरु को भी अन्त:करण से पहचानता है और साथ ही साथ वह जीव वैसा देव बनने का मार्ग बतानेवाले सच्चे शास्त्र को भी पहचानता है।

निश्चय सम्यग्दर्शन की सच्ची व्याख्या ऐसी होने पर भी व्यवहार नय के पक्षवालों को सम्यग्दर्शन की ऐसी सच्ची व्याख्या मान्य नहीं होती अथवा वे ऐसी व्याख्या का ही विरोध करते हैं और इसलिये वे सम्यग्दर्शन अर्थात् सात/नौ तत्त्वों की कही जाती (स्वात्मानुभूति रहित) श्रद्धा अथवा सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की कही जाती (स्वात्मानुभूति रहित) श्रद्धा इतना ही मानने से उन्हें 'स्वात्मानुभूति रहित की श्रद्धा' और 'स्वात्मानुभूति सहित की श्रद्धा' के बीच के अन्तर की ख़बर ही नहीं होती अथवा वे जानना ही नहीं चाहते। इसलिये वे सम्यग्दर्शन, जो कि धर्म की नींव है उस के विषय में ही अनजान रहकर सम्पूर्ण ज़िन्दगी क्रिया-धर्म उत्तम रीति से करने के बावजूद संसार का अन्त करनेवाला सत्य धर्म प्राप्त नहीं करते।

इसी प्रकार जो मात्र निश्चय नय को ही मान्य करके उसे ही प्रधानता देते हैं, वे मात्र ज्ञान की शुष्क (कोरी) बातों में ही रह जाते हैं और आत्मा की योग्यता के विषय में अथवा मात्र नींव रूप सदाचार के विषय की भी घोर उपेक्षा करके, वे भी संसार का अन्त करनेवाले धर्म से तो दूर ही रहते हैं। तदुपरान्त ऐसे लोगों को प्राय: स्वच्छन्दता के कारण अर्थात् पुण्य को एकान्तत: हेय मानने के कारण पुण्य का भी अभाव होने से भव का भी ठिकाना नहीं रहता। उक्त दोनों ही बातें दयनीय हैं।

इसी प्रकार जैनसमाज में एक छोटा वर्ग ऐसा भी है जिस ने वस्तुव्यवस्था को ही विकृत कर दिया है; वे द्रव्य और पर्याय को इस हद तक अलग मानता है जैसे वे दो अलग द्रव्य ही हों! वे एक अभेद द्रव्य में उपजा (कल्पना) करके बताये हुए गुण-पर्याय को भी भिन्न समझते हैं। द्रव्य का सम्यक् स्वरूप समझाने के लिये द्रव्य को अपेक्षा से गुण और पर्याय से भिन्न बताया है। इस बात को वे वास्तविक रूप से भिन्न समझते हैं। द्रव्य और पर्याय को दो भाव न मानकर वे उसे दो भाग रूप मानने तक की प्ररूपणा कर देते हैं। आगे उस में भी सामान्य-विशेष ऐसे दो भाग की कल्पना करते हैं। इस प्रकार वस्तुव्यवस्था की विकृत रीति से प्ररूपणा करके वे भी मोक्ष देनेवाले धर्म से दूर ही रहते हैं। ऐसे लोगों के भी प्राय: स्वच्छन्दता के कारण एवं पुण्य का अभाव होने के कारण भव का ठिकाना नहीं रहता। यह बात भी दयनीय ही है।

अभी जैनसमाज में प्रवर्तमान तत्त्व की ऐसी ग़लत समझ को दूर करने के लिये हम अपनी आत्मा के अनुभूत विचार, शास्त्रों के आधार सहित इस पुस्तक में प्रस्तुत कर रहे हैं। हमें

विश्वास है कि इन विचारों पर चिन्तन-मनन आप खुले मन से और 'अच्छा वही मेरा' और 'सच्चा वही मेरा' ऐसा अभिगम अपनाकर करेंगे तो अवश्य आप भी तत्त्व की प्रतीति नि:सन्देह कर सकेंगे। यहाँ अपने लिये जो हमने 'हम' सम्बोधन प्रयोग किया है, वह कोई मानवाचक शब्द नहीं समझना। उस का अर्थ त्रिकालिक आत्मानुभवी है क्योंकि त्रिकाल वर्ती आत्मानुभवियों की स्वात्मानुभूति एक समान ही होती है।

पंचपरमेष्ठी भगवन्तों को नमस्कार करके, शास्त्र और स्वानुभूति के आधार पर सम्यग्दर्शन, सम्यग्दर्शन की विधि, सम्यग्दर्शन के लिये आवश्यक भाव, सम्यग्दर्शन के लिये चिन्तन-मनन के विषय, उस के स्पष्टीकरण के लिये द्रव्य-गुण-पर्यायमय सत् रूप वस्तु को जो कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप भी है, और जो केवलज्ञान, केवलदर्शन और मुक्ति का कारण है; उस के विषय में विशेष स्पष्टीकरण सहित समझाने का प्रयास हमने इस पुस्तक में किया है। यह पुस्तक हमारी पूर्व की पुस्तक 'दृष्टि का विषय' में कुछ नया चिन्तन जोड़कर बनायी गयी है।

मुमुक्षु जीवों से हमारा अनुरोध है वे इस पुस्तक का आदि से अन्त तक अध्ययन करके अपना मत बनाएँ। अगर वे आधा-अधूरा या कुछ अंश पढ़कर अपना मत बना लेते हैं, तो वह उन का खुद के लिये ही छल है।

इस पुस्तक की रचना में हमने जिन-जिन ग्रन्थों का आधार लिया है, उन के लिये हम उन के लेखकों, आचार्य भगवन्तों के, उन ग्रन्थों की टीका रचनेवालों के, अनुवादकों के तथा प्रकाशकों के हृदयपूर्वक आभारी हैं। प्रत्येक ग्रन्थ की गाथा का अन्वयार्थ और भावार्थ ' ' में दिया है। इस पुस्तक की रचना में अनेक लोगों ने अलग-अलग रीति से सहयोग दिया है, हम उन सभी के ऋणी हैं। उन सब का हम हृदयपूर्वक आभार मानते हैं। विशेष कर डॉ० जयकुमार जलज जी का प्रस्तावना लिखने के लिये और मनीष मोदी जी का सम्पादन करने के लिये हृदयपूर्वक आभार मानते हैं।

हमारी आत्मा की अनुभूति के विचारों को आप परीक्षा करके और यहाँ प्रस्तुत शास्त्र के आधार से स्वीकार करके सम्यग्दर्शन प्रगट करें, जिस से आप भी धर्म रूप परिणमें और मोक्षमार्ग पर अग्रसर होकर अन्त में सिद्धत्व को प्राप्त करें, इसी अभ्यर्थनासह।

प्रस्तुत पुस्तक में जाने-अनजाने मुझसे कुछ भी जिनाज्ञा विरुद्ध लिखा गया हो तो त्रिविध त्रिविध मिच्छामि दुक्कडं! उत्तम क्षमा!

मुम्बई : 12-12-2018 सी. ए. **जयेश मोहनलाल शेठ**

* * *

२

पूर्वभूमिका

पहले हम अपनी अनादि की कहानी देखते हैं। उस के लिये हमें प्राथमिक काल-गणना समझना आवश्यक है। हम काल को सेकण्ड, मिनट, घण्टा इत्यादि रूप से जानते हैं। परन्तु हमारी कहानी समझने के लिये हम को उपमा काल, जो असंख्यात वर्षों का होता है, उसे जानना आवश्यक है।

इसलिये पहले हम उपमा काल की व्याख्या करते हैं। उस में श्वेताम्बर-दिगम्बर आम्नाय में थोड़ा अन्तर हो सकता है, इसलिये यहाँ बताई गई व्याख्या से कोई सहमत न भी हो तो भी दिक्कत नहीं है; आप इसे शब्द या अंक के रूप में ग्रहण मत करना और इस व्याख्या के खरे-खोटेपन के विवाद में भी न पड़कर उस काल-गणना का भावभासन अवश्य करना, ऐसा आप सब से हमारा विनम्र निवेदन है।

(अनुमानित) ६००० किलोमीटर लम्बा, उतना ही चौड़ा और उतना ही गहरा कुँआ (पल्य) बनाकर उस को उत्तम भोगभूमि के सात दिन के जन्मे भेड़ के केश (अनुमानित अपने केश के ५१२ कतले करने जितना) के छोटे-छोटे टुकड़ों (जिसके दो टुकड़े नहीं हो सकते ऐसे बारीक टुकड़ों) से ठूँस कर भरना है। हर १०० वर्ष बाद उस कुँए से एक केश का टुकड़ा निकालना है। इस तरह से केश का एक-एक टुकड़ा निकालते-निकालते जब वह कुँआ खाली हो जाये तो उतने काल को एक व्यवहार पल्योपम कहते हैं। उस एक व्यवहार पल्योपम को असंख्यात से गुणा करने पर जो संख्या आयेगी, उतने काल को एक उदार पल्योपम कहते हैं। उस एक उदार पल्योपम को असंख्यात से गुणा करने पर जो संख्या आयेगी, उतने काल को एक अद्धो पल्योपम कहते हैं।

ऐसे एक करोड़ अद्धो पल्योपम को १० करोड़ अद्धो पल्योपम से गुणा करने पर जो संख्या आयेगी, उतने काल को एक सागरोपम कहते हैं।

इस प्रकार एक करोड़ सागरोपम को २० करोड़ सागरोपम से गुणा करने पर जो संख्या आयेगी, उतने काल को एक कालचक्र कहते हैं। ऐसे अनन्तानन्त कालचक्र बीतने पर एक पुद्गल परावर्तन काल का अनन्तवाँ हिस्सा व्यतीत होता है। इतना बड़ा है एक पुद्गल परावर्तन काल। एक पुद्गल परावर्तन काल के अनन्तवें भाग में अनन्तानन्त कालचक्र होते हैं।

अब हम अपनी कहानी समझते हैं। अनादि से हम इस संसार में भटक रहे हैं। यहाँ जैसे अपना घर होता है और हम कहीं भी यात्रा पर जाते हैं तो घूम-फिरकर घर में वापिस अवश्य आ जाते हैं। इसी तरह हमारी आत्मा का अनादि से एक ही निवासस्थान है। उस का नाम है निगोद। निगोद अर्थात् अनन्तानन्त आत्मा एक ही शरीर में रहती हैं और एक साथ ही उन सब का जन्म-मरण होता है। उन की आयु अनुमानित अपने एक श्वासोच्छ्वास के १८वें भाग प्रमाण होती है अर्थात् उन के लगातार जन्म-मरण होते रहते हैं। हमारे शरीर के ३.५ करोड़ रोम को गरम सुई से बींध कर, शरीर को मिट्टी में रगड़ेंगे तब जितना दुःख होता है, उतना दुःख भगवान ने जन्म का बताया है और मरण का दुःख, उससे कई गुणा अधिक होता है। ऐसा जन्म-मरण का दुःख, निगोद के जीव को लगातार होता है। निगोद के जीव को सातवें नरक के जीव से कई गुणा अधिक दुःख होता है ऐसा भगवान ने कहा है।

अनादि से हम निगोद में ऐसे दुःख सहते थे। उसे अव्यवहार राशि या नित्य निगोद भी कहते हैं। कई ऐसे भी भव्यजीव हैं जो नित्य निगोद से कभी निकलनेवाले ही नहीं हैं। जब एक जीव का मोक्ष होता है, तब एक जीव उस अव्यवहार राशि में से व्यवहार राशि में आता है। इस प्रकार हम अनन्तानन्त पुद्गल परावर्तन काल बीतने पर निगोद में से निकलकर दो इन्द्रियादि गति में प्रवेश पाते हैं। यह हमारे लिये अभी तक का सबसे बड़ा पारितोषिक (jackpot) है।

निगोद से बाहर निकलने के बाद एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, नरक, युगलिया मनुष्य, पंचेन्द्रिय तिर्यंच, पंचेन्द्रिय तिर्यंच युगलिया, देव आदि गतियों में असंख्यात-असंख्यात काल बिताने के पश्चात् हम कर्मभूमि में मनुष्य के रूप में जन्म पाते हैं।

ऐसे कई मनुष्य जन्म पाने के बाद कभी एक बार हमारा जन्म आर्य क्षेत्र में होता है। ऐसे कई बार आर्य क्षेत्र में मनुष्य जन्म पाने के बाद कभी एक बार हमारा जन्म उच्च कुल में होता है। ऐसे कई बार उच्च कुल में मनुष्य जन्म पाने के बाद कभी एक बार हमें इन्द्रियों की परिपूर्णता और निरोगी शरीर मिलता है। ऐसे कई बार इन्द्रियों की परिपूर्णता और निरोगी शरीर पाने के बाद कभी एक बार हमें दीर्घायु मिलती है। ऐसे कई बार दीर्घायु पाने के बाद कभी एक बार हमें सत्य धर्म मिलता है। ऐसे कई बार हमें सत्य धर्म मिलने के बाद कभी एक बार हमें उस सत्य धर्म में रुचि जगती है। ऐसे कई बार हमें सत्य धर्म में रुचि जगने के बाद कभी एक बार हमें उस सत्य धर्म पर श्रद्धा जगती है। ऐसी श्रद्धा को परम दुर्लभ बताया गया है।

इस तरह मनुष्य जन्म से लेकर सत्य धर्म में रुचि तक की प्राप्ति एक-एक से कई गुणा दुर्लभ-दुर्लभतर-दुर्लभतम बतायी गयी है। ऐसी दुर्लभतम वस्तु पाकर हमारे लिये उस का उपयोग, परम दुर्लभ कही गयी ऐसी श्रद्धा प्राप्त करने में और उस के फल स्वरूप वैराग्य प्राप्त करने में ही लगाने योग्य है। वह योग्यता की प्राप्ति भी एकमात्र आत्मप्राप्ति (सम्यग्दर्शन प्राप्ति) के लक्ष्य से होनी चाहिये, अन्यथा नहीं। क्योंकि एकमात्र सम्यग्दर्शन की प्राप्ति न होने से ही हम अनन्तानन्त काल से इस संसार में अनन्त दु:ख सहते हुए भटक रहे हैं। सम्यग्दर्शन ही मोक्ष का अनुज्ञा पत्र है।

इस प्रकार हमने अनन्तानन्त बार दुर्लभ ऐसा मनुष्य जन्म आदि प्राप्त करके भी एक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति न करके अनन्त काल निगोद में व्यतीत किया है। क्योंकि एक बार हम यदि निगोद से निकलकर २००० सागरोपम में मोक्ष प्राप्त नहीं करते तो हमें नियम से फिर निगोद में जाना पड़ता है।

एक जीव का निगोद में रहने का काल (कायस्थिति) २.५ पुद्गल परावर्तन जितना है अर्थात् वह जीव २.५ पुद्गल परावर्तन काल तक लगातार निगोद में ही जन्म-मरण करता रह सकता है। २.५ पुद्गल परावर्तन काल के बाद वह जीव थोड़े काल के लिये अगर प्रत्येक एकेन्द्रिय में जाकर वापस निगोद में आये तो दूसरे २.५ पुद्गल परावर्तन काल तक वह जीव निगोद में ही जन्म-मरण करता हुआ रह सकता है। किसी एक जीव के साथ ऐसा असंख्यात बार भी हो सकता है अर्थात् कोई एक जीव असंख्यात पुद्गल परावर्तन काल तक एकेन्द्रिय में रह सकता है। इस से उस जीव को अनन्तानन्त काल तक अनन्तानन्त दु:ख झेलने पड़ते हैं।

निगोद से निकलकर फिर से मनुष्य जन्म आदि प्राप्त करना अत्यन्त-अत्यन्त कठिन है। इसीलिये भगवान ने एकेन्द्रिय से बाहर निकलने को चिन्तामणि रत्न की प्राप्ति से भी अधिक दुर्लभ बताया है। यह तथ्य याद रखें तो वर्तमान जीवन को एकमात्र आत्मप्राप्ति में ही लगाने योग्य समझेंगे। इस बात को हर दिन याद करना चाहिये। अपितु यह बात कभी भी भूलने जैसी नहीं है।

इस कारण से हम इस पुस्तक में मुक्ति के इच्छुक मुमुक्षु जीवों के लिये सम्यग्दर्शन की विधि का यथासम्भव वर्णन करने का प्रयास कर रहे हैं।

इच्छा दु:ख का कारण है। इसलिये जब तक सभी इच्छाओं का यथार्थ शमन (नाश)

न हो तब तक सुख मिलना असम्भव ही है। इच्छा नाश, सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिये योग्यता रूप भी है। इच्छा नाश से ही वैराग्य का जन्म होता है। जब तक एक भी सांसारिक इच्छा है, तब तक संसार का नाश नहीं होता। इच्छा मन में उत्पन्न होती है, इस कारण पहले मन में से संसार का नाश आवश्यक है। मन में से संसार का नाश होते ही बाहर मात्र यन्त्रवत कार्य होते रहते हैं, परन्तु संसार का आन्तरिक चालक बल ख़त्म हो जाता है।

इच्छा इस संसार का इंजन है। अनादि से यह जीव इच्छा पूर्ति के लिये भाग रहा है। मगर आज तक जीव की इच्छा पूर्ति नहीं हो पायी है क्यों कि जब तक किसी एक इच्छा की पूर्ति होती है, तब तक दूसरी अनेक नयी इच्छाएँ जन्म ले लेती हैं। इस प्रकार यह जीव अनादि से इच्छा पूर्ति के प्रयास के कारण अनन्त संसार में भटक रहा है। यदि इस जन्म में भी हम इच्छाओं का यथार्थ शमन (नाश) न कर पायें तब और कितने काल तक हम इस संसार में भटकेंगे, इस का पता नहीं। इच्छा पूर्ति में सहायक या अवरोधक के ऊपर क्रमश: राग या द्वेष होता है, वह राग–द्वेष भी संसार बढ़ने का और अनन्त दु:खों का एक कारण बनता है।

अनादि से अपनी आत्मा इस संसार में सम्यग्दर्शन के अभाव के कारण ही भटकती है अर्थात् अनन्त पुद्गल परावर्तन से अपनी आत्मा इस संसार में अनन्त दु:ख सहन करती हुयी घूमती रही है और उस का मुख्य कारण है मिथ्यात्व अर्थात् सम्यग्दर्शन का अभाव। यह मिथ्यात्व अपना महान शत्रु है – ऐसा ज्ञात न होने के कारण बहुत से जीव अन्य–अन्य शत्रुओं की कल्पना करके आपस में लड़ते रहते हैं और इसी में यह अमूल्य जीवन पूरा करके, फिर अनन्त काल के दु:खों को आमन्त्रण देते हैं। परमात्मप्रकाश – त्रिविध आत्माधिकार गाथा ६५ में भी बताया है कि 'इस जगत में (in the universe) ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं जहाँ चौरासी लाख जीव योनि में उत्पन्न होकर, भेदाभेद रत्नत्रय के प्रतिपादक जिन वचन को प्राप्त नहीं करता हुआ यह जीव अनादि काल से न भ्रमा हो।'

आत्मा स्वभाव से सुख स्वरूप होने के कारण, सभी जीव सुख चाहते हैं तथापि सच्चे सुख की जानकारी अथवा अनुभव न होने के कारण अनादि से हमारी आत्मा शारीरिक–इन्द्रियजन्य सुख, जो कि वास्तव में सुख नहीं है मात्र सुखाभास रूप ही है, मात्र दु:खपूर्वक ही है, उस का सेवन करता रहता है। वह सुख इन्द्रियों के आकुलता रूप दु:ख को/वेग को शान्त करने को ही सेवन किया जाता है तथापि वह सुख अग्नि में ईंधन रूप ही होता है; अर्थात् वह सुख बारम्बार उसकी इच्छा रूप दु:ख जागृत करने का ही काम करता है। वह सुख (भोग)

भोगते हुए वह जो नया पाप बाँधता है वह नये दु:खों का कारण बनता है अर्थात् वैसा सुख दु:खपूर्वक और दु:खफल सहित ही होता है। फिर भी मनुष्य उस के पीछे पागल बनकर भागता है। दूसरे, शारीरिक–इन्द्रियजन्य सुख क्षणिक है क्योंकि वह सुख अमुक काल के पश्चात् नियम से जानेवाला है अर्थात् जीव को ऐसा सुख मात्र त्रस पर्याय में ही मिलने योग्य है जो कि बहुत अल्प काल के लिये होता है, पश्चात् वह जीव नियम से एकेन्द्रिय में जाता है जहाँ अनन्त काल तक अनन्त दु:ख भोगने पड़ते हैं। एकेन्द्रिय में से बाहर निकलना भी भगवान ने चिन्तामणि रत्न की प्राप्ति से भी अधिक दुर्लभ बताया है।

इन्द्रियों के विषयों से प्रीति भी संसार का कारण है। हमने अनन्त भवों में अनन्तानन्त बार इन्द्रियों के विषयों का भोग भोगा है लेकिन इन्द्रियों के विषयों को भोगने से कभी भी मन भरता नहीं बल्कि वह भोगेच्छा अधिक बलवान बनती है और अधिक माँगती है। जिस प्रकार अग्नि में लकड़ी डालने से वह अधिक बलवान बनती है, उसी प्रकार से इन्द्रियों को जितनी अधिक भोग सामग्री देंगे, उतनी उन की अभिलाषा मिटती नहीं बल्कि बढ़ती है।

आत्मानुशासन श्लोक ५१ में बताया है कि 'काले नाग जैसे प्राण नाश करनेवाले ऐसे इस भोग की तीव्र अभिलाषा से भूत, भावी और वर्तमान भवों को नष्ट करके तू अखण्डित मृत्यु से अनन्त बार मरा और आत्मा के सर्व स्वाधीन सुख का नाश किया; मुझे तो लगता है कि – तू अविवेक, परलोक भय से रहित, निर्दय और कठोर परिणामी है क्योंकि महापुरुषों से निन्दित वस्तु का ही तू अभिलाषी हुआ है। धिक्कार है उन कामी पुरुषों को जिन का अन्त:करण निरन्तर काम–क्रोध रूप महाग्रह (डाकू–पिशाच) के वश रहा करता है! ऐसा प्राणी इस जगत में क्या–क्या नहीं करता? सारे कुकर्म करता है।'

अनादि से अगर कोई मेरा सब से बड़ा दुश्मन है तो वह मैं स्वयं ही हूँ। अनादि से अगर किसी ने मुझे सब से ज़्यादा छला (ठगा) है तो वह मैं स्वयं ही हूँ। अनादि से मैंने स्वयं को ग़लत तर्कों में, पक्ष में, आग्रह में, हठाग्रह में, कदाग्रह में फँसाकर रखा हुआ है। इस कारण हम स्वयं को स्वच्छन्दता से मुक्ति दिलाने में असफल रहे हैं और ऐसे ही अपने आप को छलते रहे हैं। हम यह सब छोड़कर अपने मित्र भी बन सकते हूँ। उस का तरीक़ा बहुत ही आसान है। हमें अपना ग़लत तर्क, पक्ष, आग्रह, हठाग्रह, कदाग्रह और स्वच्छन्दता छोड़कर 'सच्चा वही मेरा' और 'अच्छा वही मेरा' इस सूत्र को अपनाकर अपना परम मित्र बनना है।

आगे आत्मानुशासन श्लोक ५४ में भी बताया है कि 'हे जीव! इस अपार और अथाह

संसार में परिभ्रमण करते-करते तूने अनेक योनियाँ धारण कीं, महादोषयुक्त सप्त धातुमय मल से निर्मित यह तेरा यह शरीर है। क्रोधादि कषाय जन्य मानसिक और शारीरिक दु:खों से तू निरन्तर पीड़ित है। हीनाचार, अभक्ष्य भक्षण और दुराचार में तू निमग्न हो रहा है और ऐसा कर-करके तू अपनी आत्मा को निरन्तर ठग रहा है और जरा रोग से ग्रस्त है। तू मृत्यु के मुख में पड़ा है तथापि व्यर्थ उन्मत्त हो रहा है, यही परम आश्चर्य है! क्या तू आत्म कल्याण का कट्टर शत्रु है? क्या तू अकल्याण चाहता है?'

कई जीव ऐसे भी हैं जो पुण्यार्जन को ही मोक्षमार्ग मानते हैं। वे निश्चय सम्यग्दर्शन प्राप्ति के लक्ष्य बग़ैर ही मात्र पुण्यार्जन में लगे रहते हैं और उस से ही मोक्ष मानते हैं। ऐसे बाल जीवों के ऊपर करुणा करके योगसार दोहा १५ में आचार्य भगवन्त ने बताया है कि 'और यदि तू अपने को तो जानता नहीं (अर्थात् सम्यग्दर्शन नहीं) और केवल पुण्य ही करता रहेगा तो भी तू बारम्बार संसार में ही भ्रमण करेगा परन्तु शिवसुख को प्राप्त नहीं कर सकेगा।' अर्थात् सम्यग्दर्शन के बिना शिवसुख (मोक्ष) की प्राप्ति शक्य ही नहीं है।

आगे योगसार दोहा ५३ में भी आचार्य भगवन्त बताते हैं कि 'शास्त्र पढ़ने पर भी जो आत्मा को नहीं जानते (अर्थात् जिन्हें सम्यग्दर्शन नहीं है), वे भी जड़ हैं; इस कारण वे जीव निश्चय से निर्वाण को प्राप्त नहीं करते, यह बात स्पष्ट है।' अर्थात् मिथ्यात्व (सम्यग्दर्शन की अनुपस्थिति) अनन्त संसार का मूल कारण है। वह सभी पापों का राजा है। वह सम्यग्दर्शन से ही नष्ट होता है। सम्यग्दर्शन निर्वाण को प्राप्त करने के लिये अर्थात् शाश्वत सुख की प्राप्ति के लिये परम आवश्यक है।

इसीलिये स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा २९० से २९६ में बताया है कि - यह मनुष्य गति, आर्य खण्ड, उच्च कुल, धन, इन्द्रियों की परिपूर्णता, निरोगी शरीर, दीर्घायु, भद्र परिणाम, सरल स्वभाव, साधु पुरुषों की संगति, सम्यग्दर्शन-सत् श्रद्धान, चारित्र इत्यादि एक से एक अधिक-अधिक दुर्लभ है।

आत्मानुशासन श्लोक ७५ में बताया है कि 'मनुष्य प्राणी की दुर्लभता और उत्तमता के कारण विधि रूप मन्त्री ने उसकी अनेक प्रकार से रक्षा करके दुष्ट परिणामी नरक के जीवों को अधो भाग में रखा, देवों को ऊर्ध्व भाग में रखा, लोक के चारों ओर अनेक महान अलंघ्य समुद्र तथा उनके चारों ओर घनोदधि घन और तनु, इस नाम के तीन पवनों से लपेटकर विस्तीर्ण

कोट कर रखा और बीच में पूर्ण यत्न से मनुष्य प्राणी को रखा...'

और कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा २९७ में भी बताया है कि 'जैसे महान समुद्र में गिरा हुआ रत्न फिर से प्राप्त होना दुर्लभ है, उसी प्रकार यह मनुष्यपना प्राप्त होना दुर्लभ है – ऐसा निश्चय करके, हे भव्य जीवो! इस मिथ्यात्व और कषाय को छोड़ो ऐसा श्रीगुरुओं का उपदेश है।'

इसलिये यह अमूल्य दुर्लभ मनुष्य जन्म मात्र शारीरिक–इन्द्रियजनित सुख और उन की प्राप्ति के लिये ख़र्च करने योग्य नहीं है। इस के एक भी पल को व्यर्थ न गँवा कर, मात्र और मात्र शीघ्रता से शाश्वत सुख ऐसे आत्मिक सुख की (सम्यग्दर्शन की) प्राप्ति के लिये लगाना ही योग्य है। यदि यह भव सम्यग्दर्शन प्राप्त किये बिना निकल गया तो फिर अनन्त काल तक ऐसा सम्यग्दर्शन पाने के योग्य भव प्राप्त होना दुर्लभ ही है इसलिये सभी जनों से हमारा अनुरोध है कि आप को अपना वर्तमान पूर्ण जीवन सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिये ही लगाना चाहिये। इसीलिये हम प्रस्तुत पुस्तक में सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की विधि/रीति और उसके लिये जिस विषय का मनन–चिन्तन करके उसी में एकत्व करने योग्य है ऐसे 'सम्यग्दर्शन (दृष्टि) का विषय' का विवेचन करेंगे।

३

सम्यग्दर्शन

सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग का द्वार है। निश्चय सम्यग्दर्शन के बिना मोक्षमार्ग में प्रवेश ही नहीं होता और मोक्षमार्ग में प्रवेश के बिना अव्याबाध सुख का मार्ग ही साध्य नहीं होता। मोक्षमार्ग में प्रवेश और बाद के पुरुषार्थ से ही सिद्धत्व रूप फल मिलता है, अन्यथा नहीं। सम्यग्दर्शन के बिना भव भ्रमण भी नहीं कटता, क्योंकि सम्यग्दर्शन होने के बाद ही जीव अर्द्ध पुद्गल परावर्तन काल से अधिक संसार में नहीं रहता, वह अर्द्ध पुद्गल परावर्तन काल में अवश्य सिद्धत्व को प्राप्त करता ही है जो कि सत्-चित्-आनन्द स्वरूप शाश्वत है। इसलिये समझ में आता है कि इस मानव भव में यदि कुछ भी करने योग्य हो तो वह एकमात्र निश्चय सम्यग्दर्शन ही सर्वप्रथम प्राप्त करने योग्य है जिससे स्वयं को मोक्षमार्ग में प्रवेश मिले और पुरुषार्थ प्रस्फुटित होने पर आगे सिद्ध पद की प्राप्ति हो।

यहाँ यह समझना आवश्यक है कि जो सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति श्रद्धा रूप अथवा नौ तत्त्व की श्रद्धा रूप सम्यग्दर्शन है, वह तो मात्र व्यावहारिक (उपचार रूप) सम्यग्दर्शन भी हो सकता है जो कि मोक्षमार्ग में प्रवेश के लिये कार्यकारी नहीं माना जाता, क्योंकि निश्चय नय के मत से जो एक को अर्थात् आत्मा को जानता है वही सर्व को अर्थात् सात/नौ तत्त्वों को और सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को जानता है। एक आत्मा को जानने से ही वह जीव सच्चे देव तत्त्व का आंशिक अनुभव करता है, इस से वह सच्चे देव को अन्त:करण से पहचानता है और सच्चे देव को जानते ही अर्थात् श्रद्धा होते ही वह जीव यह देव बनने के मार्ग पर चलते सच्चे गुरु को भी अन्त:करण से पहचानता है और साथ ही साथ वह जीव देव बनने का मार्ग बतलानेवाले सच्चे शास्त्र को भी पहचानता है। इस प्रकार स्वानुभूति (स्व की अनुभूति) सहित का सम्यग्दर्शन अर्थात् भेदज्ञान सहित का सम्यग्दर्शन ही निश्चय सम्यग्दर्शन कहलाता है और उसके बिना मोक्षमार्ग में प्रवेश भी शक्य नहीं है। यहाँ बताये गये सम्यग्दर्शन को निश्चय सम्यग्दर्शन ही समझना।

जैनसमाज में सम्यग्दर्शन के ऊपर बहुत कुछ लिखा गया है, परन्तु निश्चय सम्यग्दर्शन के दुर्लभपने से उसकी अनुभव सिद्ध रीति कम देखने में आती है। सम्यग्दर्शन के लिये अनेक सम्प्रदायों में हमने अनेक मुमुक्षु जीवों को गम्भीरता से प्रयास करते देखा है। लेकिन उनको उचित मार्गदर्शन न मिलने से वे जीव कुछ काल तक भरपूर प्रयास करने के बाद हताश हो जाते हैं। तब ऐसे लोग

निराशा से घिर जाते हैं और कई जीव उसको अपनी नियति के ऊपर छोड़ देते हैं। कई लोग अपनी पसन्द की साम्प्रदायिक क्रियाओं में या क्रम में लग जाते हैं। कई लोग आश्रम, मन्दिर, स्थानक, तीर्थ या साम्प्रदायिक व्यवस्था के कार्यों में लग जाते हैं। वे काम बुरे नहीं हैं परन्तु आत्मा का लक्ष्य भूलकर उन्हे ही धर्म मानना ग़लत है। कई लोग देव को प्रसन्न करने की आराधना में लग जाते हैं और उसे ही धर्म मानने लगते हैं। कई लोग देव को प्रसन्न करने की आराधना से उत्पन्न हुई कोई मामूली सिद्धि में ही अटक जाते हैं और उसे ही धर्म और धर्म की प्रभावना मानते हैं; उस से अपना अहंकार भी पुष्ट करते हैं। कई लोग प्राप्त हुए क्षयोपशम ज्ञान में ही रुक जाते हैं और उस से ही अपना अहंकार पुष्ट करते हैं। कई लोग ध्यान (आर्त ध्यान) के पीछे पड़ जाते हैं अर्थात् ध्यान से ही सम्यग्दर्शन मिलेगा ऐसा मानकर आत्मा का अनुभव न होने के कारण देहादिक का ही ध्यान करते रहते हैं, जिसे शास्त्र में आर्तध्यान कहा है और उसे तिर्यंच गति का कारण माना है। अन्य कई लोग कोरी भक्ति में लग जाते हैं।

यथार्थ भक्ति वही होती है, जिस में मुमुक्षु जीव भगवान के या सत्पुरुष के वचनों पर चलने का प्रयास करता है न कि भगवान या सत्पुरुष की स्तुति करके स्वयं के कल्याण का उत्तरदायित्व उन के सिर पर मढ़ देता है।

ऐसा करने के पीछे कई कारण हो सकते हैं। जैसे कि – जिसे संसार से लगाव है उसे पुरुषार्थ संसार में लगाना है और स्वयं के आत्म कल्याण की ज़िम्मेदारी भगवान/सत्पुरुष के ऊपर रखनी है अथवा संसार में जैसे अन्य वस्तुएँ चापलूसी करके पाते हैं, वैसे ही सम्यग्दर्शन को भी भगवान या सत्पुरुष की कोरी (बिना आज्ञा पाले हुए) भक्ति करके पा लेना है अथवा संसारी को जैसे हर च़ीज दिखावे या आडम्बर के लिये चाहिये, उसी तरह से सम्यग्दर्शन भी दिखावे के लिये चाहिये न कि मुक्ति के लिये। अन्य कई सांसारिक कारण भी हो सकते हैं। अन्य कई लोग संसार के आकर्षण से, धर्म के नाम पर एकत्रित की हुई धन-दौलत और उसके प्रपंच में ही फँस जाते हैं।

इस तरह से कई लोग सम्यग्दर्शन की बात तो करते हैं परन्तु वे मात्र व्यवहार सम्यग्दर्शन को ही वास्तविक/सच्चा सम्यग्दर्शन मान कर सन्तुष्ट हो जाते हैं और वे अपने आप को मोक्षमार्गी समझने लगते हैं। इसी रीति से अनादि से हमने स्वयं को ठगा है। कब तक ठगना है अपने आपको ? इस बात का विचार करके स्वयं के ऊपर करुणा कर अर्थात् स्वदया कर अनादि से दुःखमय संसार में भटकते हुए अपने आपको इस संसार से छुड़ाना है, मुक्त कराना है। इसी कारण से निश्चय

सम्यग्दर्शन आवश्यक है।

समग्र रूप से शास्त्रों के अध्ययन के अभाव के कारण वस्तुस्वरूप को समझने में कई लोगों को दिक़्क़त होती है। इसलिये शास्त्रों को समग्रता से नहीं जाननेवाले लोग किसी के भी शब्दों को पकड़ कर उस का मात्र शाब्दिक अर्थघटन करते हैं। वे उस का यथार्थ अर्थ ग्रहण नहीं कर पाते। अर्थात् वे शाब्दिक अर्थ ग्रहण करके एकान्त रूप परिवर्तित होते हैं या विकृत रूप से भी परिवर्तित होते हैं। लेकिन जताते ऐसा हैं कि हमने सब जान लिया है और ऐसे ही गुमान में वे अन्य किसी की सत्य बात भी, अपने मत के अनुकूल न होने पर, नहीं मानते। उन का शाब्दिक अर्थ ग्रहण अनुसार पकड़ी हुई अपनी बात के ऊपर अड़े रहना उन्हे आग्रही बनाता है और आगे चलकर वह आग्रह हठाग्रह, दुराग्रह और एकान्त रूपी आग्रह बनता है।

जैसे दृष्टि (सम्यग्दर्शन) का विषय यानि 'पर्यायरहित द्रव्य' इस कथन का शाब्दिक अर्थ ग्रहण करके अभेद द्रव्य में से पर्याय को भौतिक रीति से निकालने की चेष्टा करना। यह तो सबसे बड़ी ग़लती होगी क्योंकि अभेद और अखण्ड वस्तु/द्रव्य में से अगर एक अंश भी निकालने की चेष्टा करने पर पूर्ण वस्तु का ही लोप हो जाएगा। अभेद नय सम्यग्दर्शन के लिये कार्यकारी है। परन्तु वर्तमान में मुमुक्षु जीव कोई न कोई भेद मान कर, भेद में ही रमते हैं और इसी में वस्तु का निर्णय करने की चेष्टा करते हैं, इस से उन्हें अभेद वस्तु की प्राप्ति (अनुभव) असम्भव ही बनी रहती है। इसी कमी की पूर्ति हेतु हम इस पुस्तक में वस्तु का भेदाभेद स्वरूप समझाने का प्रयास करेंगे। वह अभेद अनुभूति में आनेवाली वस्तु (द्रव्य) को किस प्रकार पाना चाहिये वह बात हम अगले कुछ प्रकरणों में समझाने का प्रयास करेंगे। यह सब अनन्त काल के बाद आनेवाले हुण्डावसर्पिणी पंचम काल का ही प्रभाव है कि भगवान की उपस्थिति के मात्र २६०० वर्ष पश्चात् ही, ज़्यादातर सम्प्रदायों में धर्म का मात्र बाहरी स्वरूप ही बचा है और धर्म का प्राण अर्थात् निश्चय सम्यग्दर्शन की बात बहुत कम लोग ही करते या मानते हैं।

सम्यग्दर्शन के लिए भेदज्ञान आवश्यक है। अर्थात् पुद्गल और उसके लक्ष्य से होनेवाले भावों से आत्मा का भेदज्ञान ज़रूरी है। द्रव्य-गुण-पर्याय की समझ आवश्यक न होने पर भी, जिस ने उस द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप वस्तुव्यवस्था अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप वस्तुव्यवस्था विपरीत रूप से धारण की हो तो उस के लिये यहाँ प्रथम द्रव्य-गुण-पर्याय रूप और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप वस्तुव्यवस्था सम्यक् रूप से बताते हैं। उस पर विचार करना आवश्यक है और वह जैसा है वैसा प्रथम स्वीकार करना परम आवश्यक है, क्योंकि जैनसमाज में एक वर्ग ऐसा

भी है कि जिसने वस्तुव्यवस्था को ही विकृत कर दिया है; वे द्रव्य और पर्याय को इस हद तक अलग मानते हैं कि मानो वे दो अलग द्रव्य हों! वे एक अभेद द्रव्य में कल्पना करके बताये हुए गुण–पर्याय को भी भिन्न समझते हैं। आचार्य ने द्रव्य का सम्यक् स्वरूप समझाने के लिये द्रव्य को गुण और पर्याय से भिन्न बताया है, उसे वे वास्तविक भिन्न समझते हैं; द्रव्य और पर्याय को दो भाव न मान कर वे उन्हें दो भाग रूप मानने तक की प्ररूपणा करते हैं और आगे उस में भी सामान्य–विशेष ऐसे दो भाग की कल्पना करते हैं। इस प्रकार वस्तुव्यवस्था को ही विकृत रूप से धारण करके तथा विकृत रूप से प्ररूपणा करके वे स्वयं संसार का अन्त करनेवाले धर्म से तो दूर रहते ही हैं। वे जाने–अनजाने अनेक लोगों को भी संसार के अन्त से दूर रखते हैं। यह बात अत्यन्त करुणा उपजानेवाली है; इसलिये यहाँ प्रथम हम वस्तुव्यवस्था पर विस्तार से प्रकाश डालते हैं।

उसके पश्चात् हम निश्चय सम्यग्दर्शन की विधि भी समझाने का प्रयास करेंगे। मगर कोई ऐसा न समझे कि हम तनिक भी व्यवहार धर्म के ख़िलाफ़ हैं। वह आचरण (व्यवहार धर्म) जो हमें निश्चय धर्म की ओर ले जावे वह सब 'व्यवहार धर्म' संज्ञा पाने का अधिकारी है। ऐसी है जिनशासन की अनेकान्तमय वस्तु व्यवस्था, यह हमें कभी नहीं भूलना चाहिये। यही विधि है तत्त्व के निर्णय की जो हम आगे समझाने का प्रयास करेंगे। अब हम आगे द्रव्य–गुण की यथार्थ व्यवस्था समझाने का प्रयास करते हैं।

◆

४

द्रव्य-गुण व्यवस्था

संक्षेप में कहना हो तो कहेंगे कि द्रव्य, गुणों का समूह है और उस द्रव्य की वर्तमान अवस्था को पर्याय कहा जाता है।

प्रश्न :- गुणों का समूह अर्थात् गेहूँ की थैली समान या दूसरे किसी प्रकार?

उत्तर :- वह गेहूँ की थैली जैसा नहीं। जैसे थैली में अलग-अलग गेहूँ हैं उसी प्रकार द्रव्य में गुण नहीं हैं, परन्तु वे गुण द्रव्य में, शक्कर में मिठास की तरह हैं अर्थात् द्रव्य के सम्पूर्ण भाग में (क्षेत्र में), उस के प्रत्येक प्रदेश में (प्रदेश अर्थात् क्षेत्र का छोटे से छोटा अंश) हैं। द्रव्य के प्रत्येक प्रदेश में, उस द्रव्य के समस्त (अनन्तानन्त) गुण रहते हैं। दूसरे प्रकार से ऐसा कहा जा सकता है कि एक अखण्ड द्रव्य में रही हुई अनन्तानन्त विशेषताएँ उस द्रव्य के अनन्तानन्त गुण रूप से वर्णित की गई हैं। उन सब विशेषताओं के समूह को द्रव्य (वस्तु) रूप से बताया है, वह वस्तु (द्रव्य) तो अभेद-एक ही है परन्तु उस की विशेषताओं को दर्शाने के लिये ही उस में गुण भेद किया है। अन्यथा वहाँ कोई क्षेत्र भेद रूप गुण भेद है ही नहीं। वहाँ तो मात्र एक वस्तु में रही हुई अनन्तानन्त विशेषताओं को बताने के लिये ही गुण भेद का सहारा लिया है। उस वस्तु में वास्तविक कोई भेद है ही नहीं, क्योंकि वस्तु अभेद ही है। इसलिये उसे कथंचित् भेद-अभेद रूप बताया है अर्थात् वहाँ सर्वथा न तो भेद है और न तो अभेद है। वस्तु अपेक्षा से अभेद है और गुणों की अपेक्षा से भेद है। इसलिये उसे कथंचित् भेद-अभेद रूप बताया है।

इस का अर्थ यह है कि उस वस्तु में एक ही गुण है ऐसा नहीं, परन्तु उस वस्तु में अनन्तानन्त विशेषताएँ अर्थात् गुण हैं। इस अपेक्षा से ही भेद कहलाता है परन्तु वहाँ वस्तु में कुछ भी वास्तविक भेद नहीं, इस अपेक्षा से अभेद ही कहलाती है। इसलिये अभेद नय को ही कार्यकारी बताया है और भेद नय मात्र वस्तु का स्वरूप समझाने के लिये बताया गया है। भेद तो व्यवहार मात्र ही है क्योंकि निश्चय से वस्तु एक अभेद ही है।

यहाँ हम पंचाध्यायी पूर्वार्द्ध के (पण्डित देवकीनन्दन जी नायक कृत हिन्दी टीका के आधार से) श्लोकों पर विचार करेंगे।

श्लोक ३५ : अर्थ :- 'दूसरे पक्ष में अर्थात् अखण्ड अनेक प्रदेशी वस्तु मानने में निश्चय से जो गुणों का परिणमन होता है, वह द्रव्य के सभी प्रदेशों में समान होता है, और वह ठीक

है क्योंकि हिलाया गया एक बाँस अपने सभी पर्वों में – एक–एक गाँठ में हिल जाता है।' इस प्रकार द्रव्य अखण्ड है। सभी प्रदेशों में रहे हुए सारे गुण सभी प्रदेशों में परिणमन करते हैं।

श्लोक ३९ : अर्थ :– 'इन गुणों का आत्मा ही द्रव्य है क्योंकि ये गुण देश से (द्रव्य से) भिन्न सत्तावाले नहीं हैं। निश्चय से देश में (द्रव्य में) विशेष (गुण) नहीं रहते परन्तु वे विशेष (गुण) द्वारा ही देश (द्रव्य) जैसा गुणमय ज्ञात होते हैं।' अर्थात् गुण है, वही द्रव्य है, दूसरा कोई द्रव्य नहीं है।

श्लोक ४५ : अर्थ :– 'इसलिये यही निर्दोष कथन है कि इस निर्विशेष–निर्गुण द्रव्य के विशेष ही गुण कहलाते हैं और वे प्रति क्षण कथंचित् परिणमनशील हैं।'

द्रव्य में गुणों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। और वे सभी गुण शाश्वत (टिकते) और परिणमते हैं अर्थात् जो टिकते हैं वे ही टिक कर परिणमते भी हैं, वे कूटस्थ नहीं हैं। कथंचित् का अर्थ यह है कि जो टिकता है वही परिणमता है। मात्र अपेक्षा से टिकते और परिणमन कहते हैं। अर्थात् जो टिकता है उसका वर्तमान–वही उसका परिणमन और उस में कोई वास्तविक भेद न होने से उसे कथंचित् कहा है।

श्लोक १०५ : अर्थ :– 'प्रकट है अर्थ जिस का ऐसे गुणों के लक्षण सम्बन्धी पदों का सारांश यह है कि जिन के समान हैं प्रदेश ऐसे एक साथ रहनेवाले जो विशेष हैं, वे ही (विशेष) ज्ञान द्वारा भिन्न करने पर क्रम से श्रेणीकृत गुण जानना।'

भावार्थ – 'अनन्त गुणों के समुदाय का नाम द्रव्य है। द्रव्य के सम्पूर्ण प्रदेशों में जैसे एक विवक्षित गुण रहता है, उसी तरह द्रव्य के सब गुण भी उस द्रव्य के उन्हीं सब प्रदेशों में युगपत (एक साथ) रहते हैं। इसलिये द्रव्य के सभी गुण समान प्रदेशवाले अर्थात् अभिन्न हैं। वस्तुत: इन में कोई भेद नहीं तथापि श्रुतज्ञानान्तर्गत नय ज्ञान से विभक्त (भिन्न–भिन्न) करने पर उन की भिन्न–भिन्न श्रेणियाँ हो जाती हैं क्योंकि वस्तु में खण्ड कल्पना नय ज्ञान के कारण से ही होती है।' अर्थात् वस्तु अभेद ही है। उस में किसी भी भेद की कल्पना नय ज्ञान से ही सम्भव है।

श्लोक ४९१ : अर्थ :– '....इन सब गुणों की एक ही सत्ता होने से इन सब गुणों में अखण्डितपना प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है।'

श्लोक ४९२ : अर्थ :– ''इसलिये यह कथन निर्दोष है कि – यद्यपि भाव की अपेक्षा से सत् अखण्डित एक है, तथापि वह सारा कथन 'विवक्षावश है।' 'सर्वथा' उसी नय से नहीं।''

भावार्थ :– ''इसलिये हमारा यह कहना ठीक है कि भाव की अपेक्षा से भी 'सत्' एक

और अखण्डित है तथा ऐसा कहना वह भी नय विशेष की विवक्षा से है परन्तु सर्वथा नहीं।'' अर्थात् अभेद नय से है, भेद नय से नहीं।

श्लोक १४३ : अर्थ :- 'सत्ता, सत्त्व अथवा सत्, सामान्य, द्रव्य, अन्वय, वस्तु, अर्थ और विधि ये आठ शब्द सामान्य रूप से एक द्रव्य रूप अर्थ के ही वाचक हैं।'

इसलिये यदि ऐसा कहने में आये कि एक सत्ता के दो सत् हैं या तीन सत् हैं या चार सत् हैं या अनन्त सत् हैं तो यह कथन भेद नय की अपेक्षा से समझना। क्योंकि सत्ता और सत् ये दोनों एकार्थवाचक ही हैं, तथापि भेद की अपेक्षा से एक सत्ता के दो, तीन, चार, अथवा अनन्त भेद करके भेद नय से कथन किया जा सकता है परन्तु वास्तव में (वस्तुत:) तो सत् कहो या सत्ता कहो, वह एक, अभेद ही है अर्थात् जो भी भेद किये हैं, वे तो मात्र वस्तु को समझाने के लिये ही हैं, भेद तो व्यवहार मात्र ही है।

श्लोक ५२४ : अर्थ :- 'अनन्त धर्मवाले एक धर्मी के विषय में आस्तिक्य बुद्धि होना, वही इस व्यवहार नय का फल है...' अर्थात् व्यवहार रूप भेद मात्र आस्तिक्य बुद्धि होने के लिये ही है अन्यथा नहीं।

भावार्थ :- ''पूर्वोक्त प्रकार के व्यवहार को मानने का प्रयोजन यह है कि 'वस्तु के अनन्त धर्मी होने पर भी वह एक अखण्ड वस्तु है' ऐसी प्रतीति करना, अर्थात् गुण-गुणी अभेद होने से गुणों को जानने पर गुणी की सुप्रतीत (पहचान) जीव को हो तो यह व्यवहार नय का यथार्थ फल आया कहलाता है। व्यवहार के आश्रय का फल विकल्प-राग-द्वेष है, इसलिये भेद का आश्रय न करके अर्थात् इस नय द्वारा कहे हुए गुण के भेद में न रुक कर अभेद द्रव्य की प्रतीति करना वह इस नय के ज्ञान का फल है, यह फल न आवे तो वह नय ज्ञान यथार्थ नहीं है।''

श्लोक ६३४-६३५ : अर्थ :- 'निश्चय से व्यवहार नय अभूतार्थ है (अर्थात् सम्यग्दर्शन के लिये अर्थात् आत्मा की अभेद अनुभूति के लिये कार्यकारी नहीं है) उस में यह कारण है कि यहाँ सूत्र में जो द्रव्य को गुणवाला कहा है, उस का अर्थ करने से यहाँ पर गुण, अलग है, द्रव्य अलग है तथा गुण के योग से वह द्रव्य गुणवाला कहलाता है ऐसा अर्थ सिद्ध होता है (ज्ञात होता है) परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि न गुण है, न द्रव्य है, न उभय है, न इन दोनों का योग है परन्तु केवल अद्वैत सत् (अभेद द्रव्य) है तथा उसी सत् को चाहे गुण मानो अथवा द्रव्य मानो, परन्तु वह भिन्न नहीं अर्थात् निश्चय से अभिन्न ही है।'

भावार्थ :- ''व्यवहार नय से 'गुणवद्द्रव्यं' गुणवाले को द्रव्य कहने से ऐसा बोध हो सकता है कि गुण और द्रव्य भिन्न-भिन्न वस्तु है तथा गुण के योग से द्रव्य, द्रव्य कहलाता है, परन्तु

ऐसा अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि न गुण है, न द्रव्य है, न दोनों हैं न दोनों का योग है परन्तु निश्चय नय से केवल एक अद्वैत, अभिन्न, अखण्ड सत् ही है। उसे ही, चाहे गुण कहो, चाहे द्रव्य कहो अथवा जो चाहो वह कहो! सारांश - ''

श्लोक ६३६ : अर्थ :- 'इसलिये यह न्याय से सिद्ध हुआ कि व्यवहार नय है तो भी वह अभूतार्थ है तथा वास्तव में उस का अनुभव करनेवाले जो मिथ्यादृष्टि हैं वे भी यहाँ खण्डित ही हैं।' अर्थात् जो द्रव्य को अभेद-अखण्ड अनुभव नहीं करते, उन्हें नियम से भ्रमयुक्त मिथ्यादृष्टि मानना चाहिये।

भावार्थ :- ''व्यवहार नय, उक्त प्रकार के भेद को विषय बनाता है क्यों कि विधिपूर्वक भेद करना ही 'व्यवहार' शब्द का अर्थ है; इसलिये सिद्ध होता है कि व्यवहार नय अभूतार्थ ही है। परमार्थभूत नहीं तथा वास्तव में उस का अनुभव करनेवाले मिथ्यादृष्टि हैं, वे भी नष्ट हो चुके (अर्थात् वे अनन्त संसारी हो चुके)....'' अर्थात् जो भेद में ही रमते हों और भेद की ही प्ररूपणा करते हों उन्हें कभी अभेद द्रव्य अनुभव में आनेवाला ही नहीं है; इसलिये वे मिथ्यादृष्टि हैं - नष्ट हो चुके समान हैं।

श्लोक ६३७ : अर्थ :- 'शंकाकार कहता है कि यदि ऐसा कहो तो नियम से निश्चयपूर्वक निश्चय नय ही आदर करने योग्य मानना चाहिये क्योंकि अकिंचित्कारी होने से अपरमार्थभूत व्यवहार नय से क्या प्रयोजन है? यदि ऐसा कहो तो' - अर्थात् शंकाकार एकान्त से निश्चय नय ही मानना चाहिये ऐसा कहता है। उत्तर -

श्लोक ६३८-६३९ : अर्थ :- 'इस प्रकार कहना ठीक नहीं क्योंकि यहाँ आगे द्विप्रतिपत्ति होने पर तथा संशय की आपत्ति आने पर और वस्तु का विचार करने में बलपूर्वक व्यवहार नय प्रवृत्त होता है अथवा जो ज्ञान दोनों नयों का अवलम्बन करनेवाला है, वही प्रमाण कहलाता है। इसलिये प्रसंगवश वह व्यवहार नय किसी के लिये ऊपर के (ऊपर बताये हुए) कार्यों के लिये आश्रय करने योग्य है, परन्तु सविकल्प ज्ञानवालों की भाँति निर्विकल्प ज्ञानवालों को वह श्रेयभूत नहीं है।' अर्थात् वह मिथ्यात्वी को तत्त्व समझने/समझाने के लिये आश्रय करने योग्य है परन्तु सम्यग्दृष्टियों को अनुभव काल में उस का आश्रय नहीं होता अर्थात् वह श्रेयभूत नहीं है। क्यों कि जो विकल्प है वह व्यवहार है। जो निर्विकल्प है वह निश्चय है। अब हम आगे द्रव्य-पर्याय की यथार्थ व्यवस्था समझाने का प्रयास करते हैं।

◆

५

द्रव्य-पर्याय व्यवस्था

द्रव्य और गुण की व्यवस्था देखी, अब हम पर्याय के विषय में विचार करेंगे।

प्रश्न :- गुणों के समुदाय रूप अभेद द्रव्य (वस्तु) है तो उस में पर्याय कहाँ रहती है?

उत्तर :- पर्याय द्रव्य के सारे प्रदेश में (पूर्ण क्षेत्र में) रहती है क्योंकि गुणों के समूह रूप अभेद द्रव्य का जो वर्तमान है अर्थात् उस की जो वर्तमान अवस्था है (परिणमन है) उसे ही उस द्रव्य की पर्याय कहने में आती है और उस अभेद पर्याय में ही विशेषताओं की अपेक्षा से अर्थात् गुणों की अपेक्षा से उस में (अभेद पर्याय में) ही भेद करके उसे गुणों की पर्याय कहा जाता है। इस कारण से कहा जा सकता है कि जितना क्षेत्र द्रव्य का है, वह और उतना ही क्षेत्र गुणों का है और वह तथा उतना ही क्षेत्र पर्याय का भी है। इसलिये ही द्रव्य-पर्याय को व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध कहा जाता है।

यही बात प्रवचनसार गाथा ११४ में भी कही है कि 'द्रव्यार्थिक (नय) द्वारा सम्पूर्ण (अर्थात् पूर्ण द्रव्य) द्रव्य है; और फिर पर्यायार्थिक (नय) द्वारा वह (द्रव्य) अन्य-अन्य है क्योंकि उस काल में तन्मय होने के कारण (द्रव्य पर्यायों से) अनन्य है।'

प्रश्न :- तो द्रव्य और पर्याय के प्रदेश भिन्न हैं ऐसा किस प्रकार कहा जा सकता है?

उत्तर :- भेदविवक्षा में जब एक अभेद-अखण्ड द्रव्य में भेद उत्पन्न करके समझाया जाता है तब द्रव्य और पर्याय, ऐसे वस्तु के 'दो भावों' को अपने-अपने भाव की अपेक्षा से ऐसा कहा जा सकता है कि दोनों के प्रदेश भिन्न हैं, परन्तु वास्तव में वहाँ कोई भिन्नता ही नहीं है, वे दोनों अभेद ही हैं, तन्मय ही हैं अर्थात् एक ही आकाश प्रदेशों को अवगाहित किए हुए हैं। जैसे कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा २७७ में बताया है कि 'वस्तु जिस काल में जिस स्वभाव से परिणमन रूप होती है, उस काल में उस परिणाम से तन्मय होती है।...' पंचास्तिकाय गाथा ९ में भी बताया है कि 'उन-उन सदभाव पर्यायों को जो द्रवता है-प्राप्त होता है, उसे सर्वज्ञों द्वारा द्रव्य कहा जाता है। क्योंकि वह सत्ता से (अर्थात् द्रव्य से) अनन्यभूत है।'

इस अभेद पर्याय को, आकार की अपेक्षा से व्यंजन पर्याय अथवा द्रव्य पर्याय कहा जाता है और उसी अभेद पर्याय को विशेषताओं की अपेक्षा से गुण पर्याय अथवा अर्थ पर्याय भी कहा

जाता है। यहाँ समझना यह है कि जो गुणों का समूह रूप द्रव्य है, उस का कोई न कोई आकार अवश्य होगा और उस का कोई न कोई रूप और कार्य भी अवश्य होगा ही अर्थात् उस में जो आकार है, उसे उस द्रव्य की द्रव्य पर्याय अथवा व्यंजन पर्याय कहा जाता है और जो उस का वर्तमान कार्य है (परिणाम है=अवस्था है), उसे उस द्रव्य की गुण पर्याय अथवा अर्थ पर्याय कहा जाता है।

जैसा हमने पहले देखा, वैसा भेद रूप व्यवहार, अभूतार्थ है; वह मात्र तत्त्व समझने अथवा समझाने के लिये प्रयोग में लिया जाता है अन्यथा वह कार्यकारी नहीं है। वस्तु का स्वरूप तो अभेद ही है और वही भूतार्थ है। इसीलिये सभी कथन अपेक्षा से ग्रहण करने योग्य है, अन्यथा अर्थ का अनर्थ हो जाता है अर्थात् उसे जो कोई एकान्त से ग्रहण करे अथवा समझावे तो वह मिथ्यादृष्टि है और वह नष्ट हो चुका है अर्थात् यह मनुष्य भव हार चुका है। (पीछे बतायी गाथा ६३६ देखें)

प्रत्येक वस्तु का कार्य वस्तु से अभेद होता है। उसे ही उस का उपादान रूप परिणमन कहा जाता है। उस कार्य को अथवा अवस्था को, वर्तमान समय अपेक्षा से वर्तमान पर्याय कहा जाता है। भेद नय से ऐसा कहा जा सकता है कि – पर्याय द्रव्य में से आती है, और द्रव्य में ही जाती है क्योंकि कोई भी द्रव्य (वस्तु) का कार्य उससे अभेद ही होता है, तथापि भेद नय से ऐसा कथन किया जा सकता है कि वे दोनों भिन्न–भिन्न हैं। द्रव्य और पर्याय को कथंचित् भिन्न कहा जाता है वह इसी अपेक्षा से।

कोई भी द्रव्य है वह नित्य है परन्तु कूटस्थ नित्य नहीं क्योंकि यदि उस वस्तु का कोई भी कार्य ही नहीं मानने में आये तो उस वस्तु का ही अभाव हो जायेगा, इसलिये प्रत्येक नित्य वस्तु का, जो वर्तमान कार्य है उसे ही उस की पर्याय कहने में आता है और ऐसी भूत–भविष्य और वर्तमान की पर्यायों का समूह ही द्रव्य (वस्तु) है। अर्थात् अनुस्यूति (continuity) से रचित पर्यायों का समूह ही द्रव्य है।

वस्तु का स्वभाव है कि वह कायम रहकर परिवर्तित होती है। इसलिये उस वस्तु में एक स्थिरता भाव है और एक परिवर्तन का भाव है। जो स्थिरता भाव है उसे नित्य रूप अर्थात् द्रव्य कहा जाता है, त्रिकाली ध्रुव कहा जाता है। जो परिवर्तन का भाव है, उसे पर्याय कहा जाता है। फिर भी वस्तु में एक स्थिरता भाग और एक परिवर्तन भाग ऐसे दो भाग अर्थात् विभाग नहीं हैं।

यदि ऐसे कोई विभाग मानने में आयेंगे तो वस्तु एक–अखण्ड–अभेद न रहकर दो और भिन्न हो जायेगी। फिर तो द्रव्य का एक भाग कूटस्थ और दूसरा भाग क्षणिक हो जायेगा। अर्थात् द्रव्य कूटस्थ और क्षणिक हो जाएगा ऐसा होने से तो वस्तु की सिद्धि ही नहीं होगी क्योंकि ऊपर बताये अनुसार कोई भी द्रव्य कार्य बिना कूटस्थ हुए नहीं होता और कोई द्रव्य क्षणिक हो तो उस द्रव्य का ही अभाव हो जायेगा। इस से तो ऐसे दो दोष वस्तुव्यवस्था न समझने से आ जायेंगे और वस्तु की सिद्धि ही नहीं होगी।

इसलिये पहले बताये अनुसार वस्तु का जो वर्तमान है, अर्थात् उस की जो अवस्था है, उसे ही पर्याय समझना अत्यन्त आवश्यक है। जब ऐसा कहा जाये कि पर्याय तो द्रव्य में से ही आती है और द्रव्य में ही जाती है तो ऐसे कथन को ऊपर बताये अनुसार अपेक्षा से मात्र 'व्यवहार' अर्थात् उपचार – कथन मात्र समझना, वास्तविक नहीं। अब आगे हम उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य की यथार्थ व्यवस्था समझाने का प्रयास करते हैं।

◆

६

उत्पाद–व्यय–ध्रुवरूप व्यवस्था

अब उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य से भी यही भाव समझते हैं। जो उत्पाद–व्यय है, वह पर्याय है और जो ध्रुव है वह द्रव्य है अर्थात् जो द्रव्य है, वह नित्य है और उस से ही 'यह वही है' ऐसा निर्णय होता है इसलिये उसे ही ध्रुवभाव अथवा अपरिणामी भाव भी कहा जाता है।

जैनधर्म में ध्रुव भाव एकान्त अपरिणामी अर्थात् कूटस्थ नहीं परन्तु परिणमनशील वस्तु है। जैसे कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा २२६ में बताया है कि – 'और एकान्त स्वरूप द्रव्य है, वह लेशमात्र भी कार्य नहीं करता तथा जो कार्य नहीं करे, वह द्रव्य ही कैसा? वह तो शून्य रूप जैसा है।' भावार्थ – 'जो अर्थक्रिया रूप हो, उसे ही परमार्थ वस्तु कहा है परन्तु जो अर्थक्रिया रूप नहीं, वह तो आकाश के फूल की भाँति शून्य रूप है।' अर्थात् जो अपने कार्यसहित वस्तु है, उस का जो स्थिरता भाव है, वही ध्रुवभाव अथवा अपरिणामी भाव है और उस वस्तु का जो कार्य है अर्थात् उस का जो वर्तमान भाव अथवा उस की जो वर्तमान अवस्था है, उसे ही उस का परिणमता भाव कहा जाता है, उसे ही उत्पाद–व्यय कहा जाता है। वह इस प्रकार कि पुरानी पर्याय का क्षय और नयी पर्याय का उत्पाद, यह उत्पाद–व्यय किसी नयी वस्तु के उत्पाद–व्यय रूप नहीं, वे तो मात्र एक वस्तु के (द्रव्य के) एक समय पहले के रूप का व्यय और वर्तमान समय के रूप का उत्पाद ही है। एक–अभेद–अखण्ड–अभिन्न वस्तु का समय अपेक्षा से कार्य (परिणमन), वही उस की उत्पाद–व्यय रूप पर्याय कही जाती है।

यहाँ कोई वास्तविक उत्पाद–व्यय अथवा आना–जाना नहीं है। परन्तु वस्तु नित्य परिणमती रहती है अर्थात् अनुस्युति से रचित पर्यायों का समूह, वही वस्तु और उस में समय अपेक्षा से उत्पाद–व्यय कहा जाता है अर्थात् उसी वस्तु को वर्तमान से देखने पर उसे उस द्रव्य की वर्तमान अवस्था अर्थात् पर्याय कहा जाता है। वस्तु में उत्पाद–व्यय–ध्रुव ऐसे वास्तविक भेद न होने पर भी, मात्र 'व्यवहार' से ही, भेद नय की अपेक्षा से ऐसा कहा जाता है। उस का फल मात्र वस्तु का स्वरूप समझाने तक ही है, न कि भेद में ही अटक जाने के लिये। भेद में ही अटकने से वस्तु का अभेद स्वरूप जो स्वात्मानुभूति के लिये कार्यकारी है पकड़ में नहीं आता। अब हम आगे, भेदाभेद स्वरूप किस अपेक्षा से प्राप्त होता है, उस की यथार्थ विधि समझाने का प्रयास करते हैं।

* * *

७

दृष्टि भेद से भेद

कई लोग संसारी जीव को एकान्त अशुद्ध मानते हैं। वे पर्यायदृष्टि जीव कहे जाते हैं। वे लोग चौथे गुणस्थान में शुद्धात्मा के अनुभव की बात भी नहीं मानते। संसारी जीव शुद्ध नय/ द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से परम शुद्ध है अर्थात् त्रिकाल शुद्ध है, यह बात कई शास्त्रों में बतायी है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के समय जो शुद्धात्मा का अनुभव होता है, वह इस त्रिकाल शुद्धात्मा का अनुभव होता है ना कि आत्मा के मध्य के आठ रुचक प्रदेशों का। उस शुद्धात्मा को कारण परमात्मा या कारण समयसार भी कहते हैं। वह कारण परमात्मा त्रिकाल शुद्ध है, जिस के बल/ अनुभव से ही कार्य परमात्मापना प्राप्त होता है, यह बात हम आगे विस्तार से समझायेंगे। उस को यथायोग्य समझ कर पहले उस का निर्णय करना अर्थात् भावभासन करना है ताकि उस का अनुभव अपनी योग्यता के अनुसार हो सके।

वस्तु में सभी भेद दृष्टि अपेक्षा से हैं, न कि वास्तविक। जैसे कि-प्रमाणदृष्टि से देखने पर वस्तु द्रव्य-पर्यायमय है अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप ही है, जब कि उसी वस्तु को पर्यायदृष्टि से देखें अर्थात् उसे मात्र उस के वर्तमान कार्य से, उस की वर्तमान अवस्था से ही देखें तो वह मात्र उतनी ही है। पूर्ण द्रव्य उस समय मात्र वर्तमान अवस्था रूप ही ज्ञात होता है। उस वर्तमान अवस्था में ही पूर्ण द्रव्य छिपा हुआ है। यही भाव समयसार गाथा १३ में दर्शाया गया है अर्थात् वर्तमान, त्रिकाली का ही बना हुआ है। जैसे कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा २६९ में बताया है कि 'जो नय वस्तु को मात्र विशेष रूप से (पर्याय से) अविनाभूत (अर्थात् पर्यायरहित द्रव्य को नहीं परन्तु पर्यायसहित द्रव्य को) सामान्य रूप को नाना प्रकार की युक्ति के बल से (अर्थात् पर्याय को गौण करके द्रव्य को) साधे वह द्रव्यार्थिक नय (द्रव्यदृष्टि) है।' भावार्थ - 'वस्तु का स्वरूप सामान्य विशेषात्मक है। विशेष के बिना सामान्य नहीं होता...' और गाथा २७० में भी बताया है कि 'जो नय अनेक प्रकार से सामान्य सहित सर्व विशेष को उस के साधन का जो लिंग (चिह्न) उस के वश से साधता है, वह पर्यायार्थिक नय (पर्यायदृष्टि) है।' भावार्थ-'सामान्य (द्रव्य) सहित उसके विशेषों को (पर्यायों को) हेतुपूर्वक साधे (अर्थात् द्रव्य को गौण करके पर्याय को ग्रहण करे), वह पर्यायार्थिक नय (पर्यायदृष्टि) है....' अर्थात् पूर्ण द्रव्य जब मात्र वर्तमान

अवस्था रूप–पर्याय रूप ही ज्ञात होता है, उसे ही पर्यायदृष्टि कहा जाता है और उस समय उस वर्तमान पर्याय में ही पूर्ण द्रव्य छिपा हुआ है।

इसलिये यदि ऐसा कहा जाये कि वर्तमान पर्याय का सम्यग्दर्शन के विषय में समावेश नहीं, तो वहाँ समझना पड़ेगा कि किसी भी द्रव्य की वर्तमान पर्याय का लोप होते ही, पूर्ण द्रव्य का ही लोप हो जायेगा, वहाँ वस्तु का ही अभाव हो जायेगा। इसलिये दृष्टि के विषय में (सम्यग्दर्शन के विषय में) वर्तमान पर्याय का अभाव न करके, मात्र उस में रही हुई अशुद्धि को (विभावभाव को) गौण करना ठीक है; जो हम आगे स्पष्ट करेंगे।

उसी पूर्ण वस्तु को यदि द्रव्यदृष्टि से देखें तो वह सम्पूर्ण वस्तु मात्र द्रव्य रूप ही–ध्रुव रूप ही–अपरिणामी रूप ही ज्ञात होती है, वहाँ पर्याय ज्ञात ही नहीं होती क्योंकि तब पर्याय उस द्रव्य में अन्तर्भूत हो जाती है। पर्याय गौण हो जाती है और पूर्ण वस्तु ध्रुव रूप–द्रव्य रूप ही ज्ञात होती है। इसीलिये ही द्रव्यदृष्टि कार्यकारी है। यही बात हम आगे विस्तार से बतायेंगे।

यहाँ बताये अनुसार द्रव्य–गुण–पर्याय और उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य रूप वस्तु व्यवस्था सम्यक् रूप से न समझ में आयी हो अथवा तो विपरीत रूप से धारणा हुई हो तो, सर्वप्रथम उसे सम्यक् रूप से समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि उस के बिना सम्यग्दर्शन का विषय (दृष्टि का विषय) समझना अशक्य ही है। इसलिये अब हम यही भाव शास्त्रों के आधार से भी दृढ़ करेंगे।

८

पंचाध्यायी पूर्वार्द्ध के वस्तुव्यवस्था दर्शाते श्लोक

श्लोक ६७ : 'अर्थ :- ......जैसे परिणमनशील आत्मा यद्यपि ज्ञान गुणपने से अवस्थित है तथापि ज्ञान गुण के तरतम रूप (कम-ज़्यादा) अपनी अपेक्षा से अनवस्थित है।'

अर्थात् आत्मा (द्रव्य) परिणमनशील है और फिर भी उसे टिकते भाव से = ज्ञान गुण से = ज्ञायकभाव से देखने में आवे तो वह वैसा का वैसा ही ज्ञात होता है अर्थात् अवस्थित है और यदि ज्ञान गुण की ही कम-ज़्यादा अवस्था से अर्थात् विकल्प रूप = ज्ञेय रूप अवस्था से देखने में आवे तो वह वैसा का वैसा नहीं रहता अर्थात् अनवस्थित ज्ञात होता है, यही अनुक्रम से द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टि है।

श्लोक ६८-६९ : अर्थ :- 'यदि ऊपर के कथन के अनुसार गुण-गुणांश की (गुण-पर्याय की) कल्पना न मानने में आवे तो द्रव्य, गुणांश की भाँति निरंश हो जाता अथवा वह द्रव्य, कूटस्थ की भाँति नित्य हो जाता, परिणमनशील बिल्कुल नहीं होता अथवा क्षणिक हो जाता अथवा यदि तुम्हारा ऐसा अभिप्राय हो कि अनन्त अविभागी गुणांशों का मानना तो ठीक है परन्तु उन सब निरंश अंशों का परिणमन समान अर्थात् एक सरीखा होना चाहिये परन्तु तारतम रूप (तीव्र-मंद रूप) नहीं होना चाहिये।'

भावार्थ :- 'द्रव्यार्थिक नय से वस्तु अवस्थित है तथा पर्यायार्थिक नय से वस्तु अनवस्थित है। इस प्रकार की (वस्तु में) प्रतीति होने के कारण से गुण-गुणांश कल्पना सार्थक है ऐसा पहले सिद्ध किया है, अब उसी (वस्तुस्वरूप को) दृढ़ करने के लिये व्यतिरेक रूप से ऊहापोह की जाती है कि - यदि गुण-गुणांश कल्पना मानने में न आवे तो द्रव्य के स्वरूप में चार अनिष्ट पक्ष उत्पन्न होने का प्रसंग आयेगा, और वे इस प्रकार हैं :- १. एक गुणांश की भाँति द्रव्य को निरंश मानना पड़ेगा; २. द्रव्य में मात्र गुणों का ही सद्भाव मानने से कीलक की भाँति उसे कूटस्थ अर्थात् अपरिणामी मानना पड़ेगा; ३. गुणों के अतिरिक्त मात्र गुणांश कल्पना ही मानने पर उसे (द्रव्य को) क्षणिक मानना पड़ेगा; तथा ४. गुणों के अनन्त अंश मानने पर भी उन का समान परिणमन मानना पड़ेगा परन्तु तरतम अंश रूप नहीं माना जा सकेगा।'

श्लोक ७० : अर्थ :- 'ऊपर के चारों पक्ष भी दोषयुक्त हैं क्योंकि वे प्रत्यक्ष रूप से बाधित हैं और वे प्रत्यक्ष बाधित इसलिये हैं कि - उन पक्षों को सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण नहीं है

तथा उन के साधक प्रमाण का अभाव इसलिये है कि – उन पक्षों की सिद्धि के लिये इस लोक में कोई दृष्टान्त भी नहीं मिल सकता।'

अर्थात् द्रव्य को परिणामी सिद्ध किया और फिर भी उसे टिकते भाव (स्थिरता के भाव) की अपेक्षा से अपरिणामी भी कहा जाता है परन्तु एकान्त से नहीं क्योंकि जिनसिद्धान्त में अनेकान्त की ही जय होती है, एकान्त की नहीं।

श्लोक ८३–८४ : अर्थ :- 'जैसे आम के फल में स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण ये चारों पुद्गल द्रव्य के गुण अपने–अपने लक्षण से भिन्न हैं तथा निश्चय से वे सब अखण्ड देशी (द्रव्य) होने से किसी भी प्रकार से पृथक् भी नहीं किये जा सकते। वास्तव में जैसे विशेष रूप होने के कारण वे पर्यायदृष्टि (भेद विवक्षा) से देश, देशांश, गुण और गुणांश रूप स्वचतुष्टय कहा जा सकता है तथा सामान्य रूप की अपेक्षा से अर्थात् द्रव्यार्थिकदृष्टि से (अभेद विवक्षा से) वे ही सब एक आलाप से एक अखण्ड द्रव्य कहे जा सकते हैं।' अर्थात् जो विशेष अपेक्षा से पर्याय है, वही सामान्य अपेक्षा से द्रव्य है, जैसे कि उपादान स्वयं ही कार्य रूप परिणमता है, यह बात तो सर्वविदित है, उस में उपादान वही द्रव्य है और कार्य पर्याय है। इस से यह बात सिद्ध होती है कि द्रव्य स्वयं ही परिणमन करता है और द्रव्य स्वयं ही वर्तमान अवस्था की अपेक्षा से पर्याय कहलाता है।

जैसे मिट्टी का पिण्ड नष्ट होकर मिट्टी के घड़े रूप बनने से मिट्टी रूपी द्रव्य की एक पर्याय का नाश हुआ और नयी पर्याय का उत्पाद हुआ, परन्तु दोनों में मिट्टीपन तो कायम ही रहा, नित्य ही रहा, इस अपेक्षा से कूटस्थ रहा – अपरिणामी रहा। मिट्टी रूप द्रव्य किसी अन्य द्रव्य रूप नहीं परिणमन करता, इसलिये उसे इस अपेक्षा से भी कूटस्थ अथवा अपरिणामी कहा जा सकता है और दूसरा, उस पिण्ड और घड़े में मिट्टीपन वैसा का वैसा ही रहता है, इस अपेक्षा से उसे कथंचित् कूटस्थ अथवा कथंचित् अपरिणामी कहा जा सकता है। एकान्त से अपरिणामी कहने पर तो वहाँ एक भाग अपरिणामी और एक भाग में परिणामी–ऐसा मानने से तो द्रव्य का ही नाश हो जायेगा। वह द्रव्य द्रवे भी नहीं, इसलिये उस का कुछ कार्य ही न मानने पर द्रव्यपने का ही नाश हो जायेगा। इस प्रकार उपादान से कार्य को भिन्न मानने से आकाशकुसुमवत द्रव्य का ही अस्तित्व नहीं रहेगा और उस के कार्य का भी अस्तित्व नहीं रहेगा।

इसलिये इसी प्रकार समझना कि उपादान स्वयं ही कार्य रूप परिणमित हुआ है और इस कारण से उस परिणाम में पूर्ण उपादान उपस्थित ही है। परिणाम (कार्य) स्वयं उपादान का ही

बना है अर्थात् जो पर्याय है, वह द्रव्य की ही बनी है, क्योंकि वह द्रव्य का ही वर्तमान है। इसलिये ही उसे द्रव्यदृष्टि से देखने पर, वहाँ मात्र द्रव्य ही ज्ञात होता है – त्रिकाली ध्रुव ही ज्ञात होता है, वहाँ उस की वर्तमान अवस्था (पर्याय) गौण हो जाती है और उसे ही द्रव्यदृष्टि कहा जाता है। जब कि पर्यायदृष्टि में, उसी द्रव्य को उस की वर्तमान अवस्था से अर्थात् पर्याय से ही देखने पर द्रव्य गौण हो जाता है, द्रव्य ज्ञात ही नहीं होता, पूर्ण द्रव्य मात्र पर्याय रूप ही भासित होता है। ऐसी ही मुख्य–गौण की व्यवस्था है। इसके अतिरिक्त दूसरी कोई अभाव की व्यवस्था ही नहीं है, क्योंकि अखण्ड–अभेद द्रव्य में किसी भी अंश का अभाव चाहने पर पूर्ण द्रव्य का ही अभाव अर्थात् लोप हो जाता है। इसलिये अभाव अर्थात् मुख्य–गौण, अन्यथा नहीं।

श्लोक ८९ : अर्थ :– 'जैसे वस्तु स्वत:सिद्ध है उसी प्रकार वह स्वत: परिणमनशील भी है इसलिये यहाँ वह सत् नियम से उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य स्वरूप है।'

भावार्थ :– 'जैनदर्शन में जैसे वस्तु का सद्भाव स्वत:सिद्ध माना है (अर्थात् उस वस्तु का कभी नाश नहीं होता और इस अपेक्षा से वह ध्रुव है – नित्य है) वैसे ही उसे परिणमनशील भी माना है (द्रव्य स्वयं ही पर्याय रूप परिणमता है), इसीलिये सत् स्वयं ही नियम से उत्पाद–स्थिति–भंगमय है (मिट्टी स्वयं ही पिण्डपन छोड़कर घट रूप होती है)। अर्थात् सत् स्वयं सिद्ध होने से ध्रौव्यमय और परिणमनशील होने से उत्पाद–व्ययमय है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु त्रितयात्मक (उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यमय) है।'

यदि द्रव्य को ही परिणाम रूप मानें तो परिणाम के नाश से द्रव्य का भी नाश हो जायेगा। ऐसा तो नहीं है क्योंकि उत्पाद–व्यय वह द्रव्य का नहीं परन्तु द्रव्य की अवस्था का है। वह द्रव्य ही स्वयं पिण्डपन छोड़कर घटपन धारण करता है और वहाँ पिण्ड का व्यय और घट का उत्पाद कहा जाता है, परन्तु उन दोनों में रहे हुए मिट्टीपने का नाश किसी काल में नहीं होता और इसीलिये उसे त्रिकाली ध्रुव अथवा अपरिणामी कहा जाता है। अन्य किसी प्रकार से नहीं।

श्लोक ९० : अर्थ :– 'परन्तु वह सत् भी परिणाम बिना उत्पाद, स्थिति, भंग रूप नहीं हो सकता क्योंकि ऐसा मानने से जगत में असत् का जन्म (आकाश के फूल का जन्म) और सत् का विनाश (वृक्ष के फूल का विनाश) दुर्निवार हो जायेगा।'

भावार्थ :– 'सत्, केवल स्वत:सिद्ध और परिणमनशील होने के कारण ही उत्पाद, स्थिति तथा भंगमय मानने में आया है, अर्थात् ये तीनों अवस्थायें हैं क्योंकि प्रतिसमय सत् की अवस्थाओं में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य हुआ करते हैं परन्तु केवल सत् में नहीं, इसलिये (भेद नय से) उत्पाद,

व्यय, ध्रौव्य को सत् के परिणाम कहने में आता है। यदि ऐसा न मानकर सत् में ही उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य मानने में आवे तो असत् की उत्पत्ति तथा सत् के विनाश को दुर्निवार मानना पड़ेगा।'

श्लोक ९१ : अर्थ :- 'इसलिये नियम से द्रव्य कथंचित् किसी अवस्था रूप से उत्पन्न होता है तथा किसी अन्य अवस्था से नष्ट होता है परन्तु परमार्थ रूप से (द्रव्यार्थिक नय से) निश्चय से वे दोनों ही नहीं हैं अर्थात् द्रव्य न तो उत्पन्न होता है तथा न नष्ट होता है।'

अर्थात् द्रव्यदृष्टि से तो वह नित्य त्रिकाली ध्रुव रूप ही ज्ञात होता है, उस में कोई उत्पाद-व्यय ज्ञात होते ही नहीं क्योंकि उन पर दृष्टि ही नहीं, दृष्टि केवल त्रिकाली ध्रुव द्रव्य पर ही है इसलिये उत्पाद-व्यय गौण हो जाते हैं और नित्यत्व मुख्य हो जाता है, यही विधि है पर्याय के अभाव की।

भावार्थ :- 'इसलिये द्रव्य, पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से नवीन-नवीन अवस्था रूप से उत्पन्न तथा पूर्व-पूर्व अवस्थाओं से नष्ट कहने में आता है, परन्तु द्रव्यार्थिक नय से द्रव्य, न तो नष्ट होता है और न उत्पन्न होता है।' इस भाव को अपेक्षा से ध्रुव भाव, अपरिणामी भाव भी कहा जा सकता है परन्तु एकान्त से नहीं।

श्लोक १०८ : अर्थ :- 'जैनधर्म का यह सिद्धान्त है कि जैसे द्रव्य नित्य-अनित्यात्मक है, उसी प्रकार गुण भी अपने द्रव्य से अभिन्न होने के कारण नित्य-अनित्यात्मक है-ऐसा समझना।'

भावार्थ :- '...द्रव्यदृष्टि से वे गुण परस्पर में तथा द्रव्य से अभिन्न ही है..'

श्लोक ११० : अर्थ :- 'जैसे ज्ञान, घट के आकार से पट के आकार रूप होने के कारण परिणमनशील है तो क्या उस का ज्ञानपन नष्ट हो जाता है? यदि वह ज्ञानत्व नष्ट नहीं होता, तो इस अपेक्षा से नित्य क्यों सिद्ध नहीं होगा? अर्थात् अवश्य ही (नित्य सिद्ध) होगा।'

यहाँ समझना यह है कि कोई ऐसा कहे कि ज्ञान गुण तो अकबन्ध-कूटस्थ-अपरिणामी रहता है और उस में से ज्ञान की पर्याय निकलती है, तो ऐसी मान्यता से तो ज्ञान गुण का ही अभाव हो जायेगा क्योंकि ज्ञान गुण परिणमनशील है, अर्थात् ज्ञान गुण स्वयं किसी न किसी कार्य बिना रहता ही नहीं, वह ज्ञान गुण स्वयं ही उस कार्य रूप परिणमता है, अर्थात् स्व-पर को जानने रूप परिणमता है और उस स्व-पर रूप प्रतिबिम्ब को गौण करते ही सामान्यपने से ज्ञान गुण वैसा का वैसा ही ज्ञात होता है, इसलिये कहा जाता है कि वह ज्ञानपने का उल्लंघन करता ही नहीं, इस अपेक्षा से उसे कूटस्थ अथवा अपरिणामी कहा जा सकता है, अन्यथा नहीं।

भावार्थ :- ‘घट को छोड़कर पट को और पट को छोड़कर अन्य पदार्थ को जानते समय ज्ञान पर्यायार्थिक नय से अन्य रूप कहलाने पर भी उस के ज्ञानपने का उल्लंघन नहीं करता परन्तु सामान्यपने से (उस प्रतिबिम्ब को गौण करने पर जो भाव रहता है, उसे ही उस का सामान्य कहा जाता है। विशेष, सामान्य का ही बना हुआ होता है। पर्याय रूप विशेष द्रव्य रूप सामान्य का ही बना हुआ होता है अर्थात् विशेष को = पर्याय को गौण करते ही सामान्य = द्रव्य की अनुभूति होती है) निरन्तर **“तदेवेदं”** - वह ही यह है। अर्थात् यह वही ज्ञान है कि जिस की पहले वह पर्याय थी और अभी यह पर्याय है (अर्थात् ज्ञान ही = ज्ञान गुण ही उस पर्याय रूप में परिणमित हुआ है)। ऐसी प्रतीति होती है, इसलिये ज्ञानत्व सामान्य की अपेक्षा से ज्ञान नित्य है। जैसे कि-’

श्लोक १११ : अर्थ :- ‘आम्रफल में रूप नाम का गुण परिणमन करते-करते हरित में से पीला हो जाता है तो क्या इतने में उस के वर्णपने का नाश हो जाता है? अर्थात् नहीं होता। इसलिये वह वर्णपन नित्य है।’ ऐसा है जैन सिद्धान्त का त्रिकाली ध्रुव।

भावार्थ :- ‘... सामान्य रूप से तो वर्णपन वही का वही है, वह (वर्ण सामान्यपन) कहीं नष्ट नहीं हो गया, इसलिये वर्ण सामान्य की अपेक्षा से वह वर्ण गुण नित्य ही है।’ इस प्रकार सामान्य की अपेक्षा से उसे कूटस्थ अथवा अपरिणामी कहा जा सकता है, अन्यथा नहीं। अन्यथा मानने पर जैन सिद्धान्त के विरुद्ध अर्थात् अन्यमती मिथ्यात्व रूप परिणाम आयेगा जो अनन्त संसार का कारण बनेगा।

श्लोक ११२ : अर्थ :- ‘जैसे वस्तु (द्रव्य) परिणमनशील है, उसी प्रकार गुण भी परिणमनशील है (अन्यथा मानने से मिथ्यात्व का उदय समझना) इसलिये निश्चय से गुण के भी उत्पाद-व्यय दोनों होते हैं।’

भावार्थ :- ‘इसलिये जैसे द्रव्य, परिणमनशील है, वैसे द्रव्य से अभिन्न रहनेवाले गुण भी परिणमनशील हैं, और वे परिणमनशील होने से उनमें प्रति समय उत्पाद-व्यय (कोई न कोई कार्य) भी हुआ ही करता है; और इस युक्ति से गुणों में उत्पाद-व्यय होने से उसे अनित्य भी कहने में आता है, सारांश कि-’

श्लोक ११३ : अर्थ :- ‘इसलिये जैसे ज्ञान नाम का गुण सामान्य रूप से नित्य है तथा उसी प्रकार घट को छोड़कर पट को जानने पर, ज्ञान नष्ट और उत्पन्न रूप भी है अर्थात् अनित्य भी है।’

समझना यह है कि जो उपादान है अर्थात् जो द्रव्य अथवा गुण है, वह स्वयं ही कार्य रूप परिणमन करता है और उस कार्य की अपेक्षा से वह अनित्य है। लेकिन उपादान की अपेक्षा से नित्य है, ऐसा स्वरूप है नित्य-अनित्य का। यदि कोई इस स्वरूप से विपरीत धारणा सहित स्वयं को सम्यग्दृष्टि मानते हों अथवा मनाते हों तो उन्हें नियम से भ्रम में ही समझना क्योंकि भ्रम की भी शान्ति और आनन्द वेदन में आता है। यदि अनन्त संसार से बचना हो तो हमारा निवेदन है कि आप अपनी धारणा सम्यक् कर लें और अगर कोई संसारी जीव को एकान्त अशुद्ध मानकर स्वयं को सम्यग्दृष्टि माने या समझे तो वह भी भ्रम में ही है। वह मान्यता भी एकान्त है क्योंकि संसारी जीव पर्यायार्थिक नय से अशुद्ध अवश्य है, मगर वही संसारी जीव द्रव्यार्थिक नय से परम शुद्ध है अर्थात् त्रिकाल शुद्ध है। ऐसा है वस्तुस्वरूप जिनशासन का, जो एकान्त नयों से समझा नहीं जा सकता। द्रव्यार्थिक नय से कोई भी आत्मा में रागादि का अस्तित्व नहीं है परन्तु पर्यायार्थिक नय से अज्ञानी आत्मा नियम से रागादि रूप परिणमता है, ऐसा है जिनशासन का अनेकान्त। जिसे यह अनेकान्तमय स्वरूप यथार्थ रूप से समझ में नहीं आता, उन्हें अपने आप को जिनशासन से बाह्य ही समझना चाहिये।

भावार्थ :- 'जिस समय ज्ञान घट को छोड़कर पट को विषय करने लगता है, उस समय पर्यायार्थिकदृष्टि से घट ज्ञान का व्यय और पट ज्ञान का उत्पाद होने से ज्ञान को अनित्य कहा जाता है तथा उसी समय पर्यायार्थिक नय की गौणता और द्रव्यार्थिक नय की मुख्यता से (समझना यह है कि जिनसिद्धान्त की समस्त बातें मुख्य-गौण अपेक्षा से ही होती हैं, एकान्त से नहीं। इसलिये जो एकान्त के आग्रही हैं, वे ऊपर बताये अनुसार नियम से मिथ्यात्वी हैं, अनन्त संसारी हैं, इसलिये वैसी धारणा हो तो अपने ऊपर कृपा करके यानी अपने ऊपर दया लाकर शीघ्रता से अपनी धारणा ठीक कर लेना अत्यन्त आवश्यक है) देखने पर घटज्ञान और पटज्ञान रूप दोनों अवस्थाओं में ज्ञान सामान्य होने से (अर्थात् वे अवस्थाएँ ज्ञान गुण की ही बनी हुई हैं, इसलिये उन अवस्थाओं को गौण करते ही अर्थात् ज्ञेयाकारों को गौण करते ही वहाँ ज्ञान गुण साक्षात् हाज़िर ही है, इसी प्रकार द्रव्य में भी अवस्थाओं को गौण करते ही साक्षात् द्रव्य हाज़िर ही है-पूर्ण द्रव्य अवस्था रूप से ही व्यक्त होता है और जो सामान्य रूप से द्रव्य है उसे ही अव्यक्त कहने में आता है। इसलिये वह व्यक्त, अव्यक्त का ही बना हुआ है) ज्ञान को ध्रौव्य अर्थात् नित्य (ऐसा है जैन सिद्धान्त का त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा) भी कहने में आता है (ऐसा है जैन सिद्धान्त का त्रिकाली ध्रुव-कूटस्थ-अपरिणामी, अन्यथा नहीं)। इसलिये अपेक्षावाद से ज्ञान गुण कथंचित् नित्य-

अनित्यात्मक सिद्ध होता है, परन्तु एकान्तवाद से नहीं।' अर्थात् जिन्हें एकान्त का ही आग्रह है उन्हें अपने पर दया लाकर शीघ्रता से उस एकान्त का आग्रह - पक्ष छोड़कर, यथार्थ धारणा कर लेना अत्यन्त आवश्यक है। यही बात आगे अधिक दृढ़ होती है-

श्लोक ११७ : अर्थ :- 'गुण नित्य हैं तो भी वे निश्चय से अपने स्वभाव से ही प्रत्येक समय परिणमन करते रहते हैं और वह परिणमन भी उन गुणों की ही अवस्था है परन्तु गुणों की सत्ता से उनकी सत्ता (सत्) कहीं भिन्न नहीं है।'

इसलिये एक सत्ता के दो, तीन, चार... सत् माननेवाले यदि अपेक्षा से समझें तो दिक्कत नहीं है परन्तु सत् अर्थात् सत्ता एक द्रव्य की वास्तविक (यथार्थ) अभेद-अखण्ड एक ही होती है, भेद अपेक्षा से एक सत्ता के दो, तीन, चार,.. सत् कहे जाते हैं परन्तु वैसा एकान्त से नहीं माना जाता।

भावार्थ :- 'गुणों की प्रतिसमय होनेवाली अवस्था का नाम ही पर्याय है, पर्यायों की सत्ता (सत्) कहीं गुणों से भिन्न नहीं है इसलिये द्रव्य की भाँति वे गुण भी गुण की दृष्टि से नित्य तथा अपनी पर्याय रूप अवस्थाओं से उत्पन्न तथा नष्ट होने के कारण से अनित्य कहने में आते हैं...'

इसलिये समझना यह है कि यदि कोई द्रव्य और पर्याय के प्रदेश भिन्न मानते हों तो उनके भाव की अपेक्षा से कहे जा सकते हैं परन्तु वास्तविक प्रदेश भेद नहीं है। इसलिये ऐसी एकान्त धारणा जीव को मिथ्यादृष्टि बनाती है। विधान कोई भी हो उस की अपेक्षा समझकर बोलना अथवा मानना, एकान्त से नहीं; अन्यथा ऐसी बातें अनेक लोगों के अध:पतन का कारण बनती हैं; इसलिये ऐसे एकान्त प्ररूपणा के आग्रही मिथ्यादृष्टियों से दूर ही रहना आवश्यक है, अन्यथा आप स्वयं भी अनन्त संसारी मिथ्यादृष्टि रूप अनन्त दु:ख का ही घर बनेंगे।

एकान्त आग्रही लोगों से हमारा अनुरोध है कि आप किसी भी विधान की अपेक्षा समझे बिना उसे एकान्त से ग्रहण करके, एकान्त का आग्रह रखकर यदि जिनशासन का भला करना चाहते हों तो वह आपकी महान भूल है, वह तो जिनशासन के अध:पतन का ही निमित्त बनेगा और कितने ही जीवों के अध:पतन का कारण भी बनेगा। उन सब के अध:पतन की जवाबदारी ऐसे एकान्त प्ररूपणा और एकान्त का आग्रह करनेवालों की ही है, इसलिये उन की दशा के विषय में विचार कर हमें बहुत ही करुणा उत्पन्न होती है और इसी कारण से हमको यहाँ इतना अधिक स्पष्टीकरण करने की आवश्यकता हुई।

श्लोक ११९ : अर्थ :- 'गुणों के तद्‌वस्थ (अर्थात् अपरिणामी-कूटस्थ), उन के

अवस्थान्तर को पर्याय तथा दोनों के मध्यवर्ती को (अर्थात् वे दोनों मिलकर) द्रव्य, यह शंकाकार का कहना ठीक नहीं है। क्योंकि जैसे सम्पूर्ण गुण की अवस्थाएँ आम्रेडित (एकरूप) होकर अर्थात् एक आलाप से पुनः पुनः प्रतिपादित होकर (अनुस्युति से रचित पर्यायों का प्रवाह, वही द्रव्य) वस्तु अर्थात् द्रव्य कहलाता है। उसी प्रकार उस की उन अवस्थाओं से भिन्न (अर्थात् पर्यायों से भिन्न) कोई भी भिन्न सत्तावाली वस्तु (अर्थात् द्रव्य = ध्रौव्य) कही नहीं जा सकती।'

इस का अर्थ स्पष्ट है कि जो द्रव्य है, वही पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से पर्याय है और जो पर्याय है, वही द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से द्रव्य है। वे दोनों भिन्न न होने पर भी अपेक्षा से (प्रमाणदृष्टि से) उन्हें कथंचित् भिन्न कहा जा सकता है और इसीलिये उन के प्रदेश भी अपेक्षा से भिन्न कहे जा सकते हैं, अन्यथा नहीं, सर्वथा नहीं। वास्तव में तो वहाँ कोई भेद है ही नहीं, भेद रूप व्यवहार तो मात्र समझाने के लिये ही है, निश्चय नय से तो द्रव्य अभेद ही है।

भावार्थ :- 'सत् की सम्पूर्ण अवस्थायें ही बारम्बार प्रतिपादित होकर वस्तु कहलाती हैं (अर्थात् सम्पूर्ण पर्यायों का समूह ही वस्तु है, द्रव्य है), परन्तु वस्तु अपनी अवस्थाओं से कहीं भिन्न नहीं है। (यहाँ जो वस्तु में अपरिणामी और परिणामी ऐसे विभाग मानते हों, उन का निराकरण किया है अर्थात् वैसी मान्यता मिथ्यात्व के घर की है)। इसलिये जैसे गुणमय द्रव्य होने से द्रव्य और गुणों में स्वरूपभेद नहीं होता, उसी प्रकार द्रव्य की अवस्थायें ही गुण की अवस्थायें कहलाती हैं। इसलिये द्रव्य भी उस की पर्यायों से भिन्न नहीं है (प्रदेश भेद नहीं है), इसलिये गुण को तद्वस्थ (अपरिणामी) तथा अवस्थान्तरों को पर्याय मानकर इन दोनों के किसी मध्यवर्ती को अलग द्रव्य मानना ठीक नहीं है इसलिये -'

श्लोक १२० : अर्थ :- 'नियम से जो गुण परिणमनशील होने के कारण (यहाँ लक्ष्य में लेना आवश्यक है कि गुणों को नियम से परिणमनशील कहा है उस में कोई अपवाद नहीं है और दूसरे, होने के कारण कहा है अर्थात् वे तीनों काल में उसी प्रकार हैं) उत्पाद-व्ययमय कहलाते हैं, वे ही गुण टंकोत्कीर्ण न्याय से (अर्थात् वे गुण अन्य गुणरूप न होने के कारण से) अपने स्वरूप को कभी भी उल्लंघन नहीं करते, इसलिये वे नित्य कहलाते हैं।' टंकोत्कीर्ण का अर्थ सामान्य रूप से वैसा का वैसा ही रहता है ऐसा लिया है, कोई दूसरे प्रकार से अर्थात् अपरिणामी इत्यादि रूप नहीं।

दूसरे, यहाँ कोई ऐसा समझे कि ऐसी तो पुद्गल द्रव्य की व्यवस्था भले हो परन्तु जीव

द्रव्य की बात तो निराली ही है, तो उन्हें हम बताते हैं कि मात्र पुद्गल द्रव्य ही नहीं, परन्तु छहों द्रव्य की द्रव्य-गुण-पर्याय रूप अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप वस्तुव्यवस्था तो एक समान ही है। यदि जीव द्रव्य की कोई अन्य व्यवस्था होती तो भगवान ने और आचार्य भगवन्तों ने शास्त्रों में अवश्य बतायी होती, परन्तु वैसा न होने से ही कुछ बताया नहीं है; इसलिये ऐसे मिथ्यात्व रूप आग्रह को छोड़कर वस्तुव्यवस्था जैसी है वैसी ही मानना आवश्यक है, अन्यथा उस जीव ने अनन्त संसारी यानी अनन्त दु:खी होने को ही आमन्त्रण दिया है। उस पर करुणा भाव से ही यह लिखा जा रहा है।

भावार्थ :- 'परिणमन की अपेक्षा से जो गुण उत्पाद-व्यययुक्त कहलाते हैं, वे ही गुण गुणत्व सामान्य की अपेक्षा से नित्य कहलाते हैं। उन दोनों अपेक्षाओं से द्रव्य से अभिन्न रूप गुण भी उत्पाद-व्यय और ध्रौव्ययुक्त कहे हैं...'

मिट्टी में किसी गुण का नाश होता है और कोई गुण उत्पन्न होता है - ऐसी शंका व्यक्त करने पर आगे की गाथा में बताते हैं कि -

श्लोक १२३ : अर्थ :- 'इस विषय में यह उत्तर ठीक है कि इस मृतिका का (मिट्टी का पक्का बर्तन रूप होने का) ऐसा होने पर क्या उस का मृतिकापन (मिट्टीपन) नाश हो जाता है? यदि (मृतिकापन) नष्ट नहीं होता तो वह नित्य रूप क्यों नहीं होगा?' अर्थात् इस अपेक्षा से द्रव्य नित्य है, ध्रुव है, अन्यथा नहीं।

भावार्थ :- 'कच्ची मिट्टी को पकाने पर प्रथम के मिट्टी सम्बन्धी (सभी) गुण नष्ट होकर नवीन पक्व गुण पैदा होते हैं इस प्रकार माननेवाले के लिये यह उत्तर ठीक है कि - मृतिका की घटादि अवस्था होने पर, क्या उस का पृथ्वीपन-मृतिकापन भी नष्ट हो जाता है? यदि वह मृतिकापन नष्ट नहीं होता तो वह मृतिकापन क्या नित्य नहीं है?'' अर्थात् नित्य ही है, इस अपेक्षा से द्रव्य को नित्य-ध्रुव इत्यादि कहा जाता है।

अब शंकाकार शंका करता है कि द्रव्य और पर्याय को सर्वथा भिन्न मानने में क्या दोष है? उत्तर -

श्लोक १४२ : अर्थ :- 'अनु शब्द का अर्थ है - जो बीच में कभी भी स्खलित नहीं होनेवाले प्रवाह से (अनुस्यूति से रचित पर्यायों का प्रवाह, वही द्रव्य) वर्त रहा हो तथा 'अयति' वह क्रियापद गति अर्थवाली 'अय' धातु का रूप है इसलिये अविच्छिन्न प्रवाह रूप से जो गमन कर रहा है वह अन्वयार्थ की अपेक्षा से अन्वय शब्द का अर्थ द्रव्य है।'

भावार्थ :- '... जो निरन्तर अपनी उत्तरोत्तर होनेवाली पर्यायों में गमन करे, वह द्रव्य है (यानी द्रव्य, पर्यायों में ही छिपा हुआ है)। गति 'अन्वय' शब्द 'अनु' उपसर्गपूर्वक गत्यर्थक 'अय' धातु से बना है, द्रव्य की यह व्युत्पत्ति अन्वय शब्द में भलीभाँति घटित हो सकती है। जैसे 'अनु'-अव्युच्छिन्न प्रवाह रूप से जो अपनी प्रति समय होनेवाली पर्यायों में बराबर 'अयति' अर्थात् गमन करता हो, उसे अन्वय कहते हैं; इसलिये अन्वय और द्रव्य ये दोनों पर्यायवाचक शब्द हैं।' पर्यायों का जो प्रवाह रूप समूह है वही सत् है और वही द्रव्य है। यानी जो पर्यायें हैं, उन में ही द्रव्य छिपा हुआ गति करता है मतलब जो पर्याय है वह द्रव्य की ही बनी हुई है और इसलिये ही पर्यायों को व्यतिरेक = विशेष = व्यक्त और द्रव्य को अन्वय रूप = सामान्य = अव्यक्त कहा जाता है।

श्लोक १५९ : अर्थ :- 'सारांश यह है कि निश्चय से गुण स्वयंसिद्ध है तथा परिणामी भी है, इसलिये वे नित्य और अनित्य रूप होने से भली प्रकार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक भी है।'

भावार्थ :- 'अनादि सन्तान रूप से जो द्रव्य के साथ अनुगमन करता है वह गुण है। यहाँ 'अनादि' इस विशेषण से स्वयंसिद्ध, 'सन्तान रूप' इस विशेषण से परिणमनशील तथा 'अनुगतार्थ' इस विशेष से निरन्तर द्रव्य के साथ रहनेवाले, ऐसा अर्थ सिद्ध होता है। सारांश यह है कि प्रत्येक द्रव्य के गुण स्वयंसिद्ध और निरन्तर द्रव्य के साथ रहनेवाले हैं। इसलिये तो उन्हें नित्य अर्थात् ध्रौव्यात्मक कहा जाता है। और प्रतिसमय परिणमनशील हैं, इसलिये उन्हें अनित्य और उत्पादव्ययात्मक भी कहा जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण गुण उत्पाद-व्यय और ध्रौव्यात्मक है।' जिनसिद्धान्त की वस्तुव्यवस्था ऐसी है।

श्लोक १७८ : अर्थ :- 'सारांश यह है कि जिस प्रकार द्रव्य नियम से स्वत:सिद्ध है, उसी प्रकार वह परिणमनशील भी है, इसलिये वह द्रव्य प्रति समय बारम्बार प्रदीप (दीपक) की शिखा की भाँति परिणमन करता ही रहता है।'

भावार्थ :- 'जैसे द्रव्य, स्वत:सिद्ध होने से नित्य - अनादि-अनन्त है, उसी अनुसार वह परिणमनशील होने से प्रदीप शिखा की (दीपक की) भाँति प्रति समय परिणमन भी करता ही रहता है। इसलिये वह अनित्य भी है और उस का वह परिणमन पूर्व-पूर्व भाव के विनाशपूर्वक (मिट्टी के पिण्ड के विनाशपूर्वक) तथा उत्तर-उत्तर भाव के उत्पाद से (मिट्टी के घट के उत्पाद से) होता रहता है। इसलिये द्रव्य, कथंचित् नित्य-अनित्यात्मक कहने में आता है। (एक ही वस्तु के दो स्वभाव हैं, नहीं कि एक वस्तु के दो भाग-एक नित्य और दूसरा अनित्य-ऐसा भाग रूप मानने

से मिथ्यात्व का दोष आता है) जैसे कि जीव मनुष्य से देव पर्याय को प्राप्त करने पर द्रव्यार्थिकदृष्टि से उस की प्रत्येक पर्यायों में जीवत्व सदृश (समान) रहने पर भी (अर्थात् उस पर्याय का सामान्य, वही जीवत्व अर्थात् द्रव्य) पर्यायार्थिकदृष्टि से प्रत्येक पर्याय में (उस की एक-एक पर्याय में) वह कथंचित् भिन्नता को धारण करता है। उसी प्रकार प्रति समय होनेवाले क्रम में भी द्रव्यार्थिक नय से सदृशता रहने पर भी (अर्थात् उस क्रम रूप पर्याय में सामान्यभाव रूप से द्रव्य हाज़िर ही है) परन्तु पर्यायार्थिक नय से कथंचित् विसदृशपना (अन्यथापना) भी देखने में आता है (अर्थात् उस क्रम में होती पर्याय में विशेषभाव रूप से अन्य-अन्य भाव भी देखने में आते हैं)। इस विषय में दूसरा दृष्टान्त गोरस का भी दिया जाता है-जैसे दूध, दही, मट्ठा इत्यादि दूध की अवस्थाओं में द्रव्यार्थिक नय से गोरसपन की सदृशता होने पर भी पर्यायार्थिक नय से दूध से दही इत्यादि अवस्थाओं में कथंचित् विसदृशपना भी देखने में आता है। इस प्रकार अनुमान से अथवा स्वानुभव प्रत्यक्ष से नित्य-अनित्य की प्रतीति होने से यद्यपि क्रम में भी कथंचित् सदृशता-विसदृशता दोनों होती हैं परन्तु ऐसा होने पर भी केवल उन का काल सूक्ष्म समयवर्ती होने से वह क्रम प्रतिसमय लक्ष्य में नहीं आता, इसलिये उसमें अन्यथात्व' (यह वैसा नहीं) और तथात्व (यह वैसा ही है) की विवक्षा ही नहीं की जा सकती। ऐसा नहीं।'

जिस समय ज्ञान घटाकार मात्र है उस समय घट की जानने की योग्यता से और जिस समय लोकालोक को जानता है, उस समय वैसी योग्यता से ज्ञान गुण में कुछ न्यूनाधिकता नहीं होती, मात्र अगुरुलघु गुण का ही वह फल समझने योग्य है।

श्लोक १९३-१९४-१९५ : अर्थ :- 'शंकाकार का कहना ऐसा है कि इस प्रकार मानने से परमार्थ दृष्टि से घटाकार और लोकाकार रूप ज्ञान एक होने से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य बन नहीं सकेंगे और न कोई किसी का उपादान कारण तथा न कोई किसी का कार्य भी बन सकेगा तथा गुण अपने अंशों से (पर्याय से) कम होने से दुर्बल और उत्कर्ष होने से बलवान क्यों नहीं होंगे? इस प्रकार से ऐसा भी बहुत भारी और दुर्जय दोष आयेगा। (उत्तर) यदि ऐसा कहें तो - ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि द्रव्य तो पहले भलीभाँति परिणमनशील निरूपण किया है, (सिद्ध किया है) इसलिये उस में उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य ये तीनों भलीभाँति घटित हो सकते हैं। परन्तु इस से उल्टा सर्वथा नित्य या अनित्य अर्थ मानने से नहीं घटित होंगे।'

यदि वस्तु के (द्रव्य के) दो भाग मानने में आवें कि जिसमें का एक भाग सर्वथा नित्य मानने में आवे और एक भाग सर्वथा अनित्य अर्थात् नित्य और अनित्य को वस्तु के भाव की

जगह विभाग अथवा भाग रूप मानने में आवे तो उस में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य घटित नहीं हो सकेगा और इसी कारण वैसी मान्यता जिनसिद्धान्त बाह्य है और मिथ्यात्व है, इसलिये ऐसी धारणा किसी की हो तो उसे शीघ्र ही सुधार लेनी चाहिये। अपेक्षा से सब कहा जाता है परन्तु वैसा एकान्त से माना नहीं जाता।

भावार्थ :- 'शंकाकार का कहना ऐसा है कि यदि अवगाहन गुण की विचित्रता से द्रव्य में केवल आकार से आकारान्तर ही हुआ करता है तो द्रव्य की पूर्व-उत्तर अवस्थाओं में अभेदता होने के कारण उस में (यहाँ शंकाकार द्रव्य-पर्याय रूप वस्तु को एक अभेद रूप अनुस्युति से रचित प्रवाह रूप नहीं मानता) उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य नहीं बन सकेगा तथा किसी भी प्रकार का कार्य-कारण भाव (यहाँ शंकाकार कार्य-कारण भाव को भेद रूप मानता है, भिन्न मानता है) ही सिद्ध नहीं हो सकेगा तथा यदि गुणांश के तदवस्थ रहने पर भी अगुरु-लघु गुण के निमित्त से उस में भूत्वा-भवन रूप परिणमन होता रहता है (यहाँ शंकाकार ध्रौव्य को/गुण को अपरिणामी मानता है-उसे अगुरु-लघु गुण के निमित्त से पर्याय मानता है और उस में से पर्याय निकलती है कि जो ध्रौव्य से/गुण से भिन्न है ऐसा मानता है) तो यह आपत्ति आयेगी कि - गुण अपने अंशों से कम होने पर दुर्बल और अपने अंशों से बढ़ने पर क्या बलवान नहीं होंगे?

समाधान :- शंकाकार का उपरोक्त कहना ठीक नहीं है क्योंकि हमने पहले ही स्वत:सिद्ध द्रव्य को भलीभाँति परिणामी सिद्ध किया है अर्थात् द्रव्य स्वत:सिद्ध होने से, कथंचित् नित्यानित्यात्मक द्रव्य में ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य घटित हो सकते हैं। (अर्थात् द्रव्य स्वयं ही पर्याय रूप परिणमता है और इस कारण से पर्याय द्रव्य की ही बनी हुई है और द्रव्य पर्याय में ही छिपा हुआ है। अर्थात् पर्याय रूप विशेषभाव को गौण करते ही सामान्य रूप द्रव्य अनुभव में आता है)। परन्तु सर्वथा नित्य या अनित्य पदार्थ में नहीं।

सारांश यह है कि आकार से आकारान्तर रूप होने से उत्पाद, व्यय की और वस्तुता से (सामान्य भाव अपेक्षा से) तद्वस्थ रूप होने से ध्रौव्यांश की (सामान्य भाव की) सिद्धि होती है। इसलिये उक्त प्रकार से (ऐसी रीति से) द्रव्य को कथंचित् नित्यानित्यात्मक मानने से उत्पादादि त्रय की तथा कारण-कार्य भाव की सिद्धि नहीं होती, ऐसी शंका निरर्थक है। यहाँ दृष्टान्त-'

श्लोक १९६ : अर्थ :- 'जैसे सोने के अस्तित्व में ही कुण्डलादिक अवस्थायें उत्पन्न होती हैं और वे कुण्डलादिक अवस्थायें होने से ही नियम से उत्पादादिक तीनों सिद्ध होते हैं।' अर्थात्

द्रव्य को परिणामी मानने से ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप व्यवस्था शक्य है, अन्यथा नहीं। ऐसी है जिनसिद्धान्त की वस्तु व्यवस्था।

भावार्थ :- 'जैसे स्वर्ण के अस्तित्व में ही उसकी कुण्डल-कंकण आदि अवस्थायें सिद्ध होती हैं, क्योंकि उन अवस्थाओं के होने से ही स्वर्ण में उत्पादादिक होते हैं अर्थात् स्वर्ण का स्वर्णपना द्रव्यदृष्टि से तदवस्थ रहने पर भी पर्यायार्थिकदृष्टि से कुण्डल-कंकण आदि के ही उत्पादादिक होते हैं परन्तु यदि वास्तविक विचार किया जाये तो उन कुण्डलादिक अवस्थाओं में मात्र आकार से आकारान्तर ही है, परन्तु असत् की उत्पत्ति और सत् का विनाश नहीं। इसलिये शंकाकार का कथंचित् नित्यानित्यात्मक पदार्थ में उत्पादादिक नहीं बनेंगे, यह कहना युक्तिसंगत नहीं है। कारण-कार्य भाव भी निम्न प्रकार सिद्ध होता है।'

श्लोक १९७ : अर्थ :- 'इस प्रक्रिया अर्थात् शैली से ही निश्चय से कारण और कार्य की सिद्धि भी समझ लेना चाहिये क्योंकि इस सत् के ही सत् अर्थात् ध्रौव्य तथा उत्पाद और व्यय ये दोनों होते हैं।'

भावार्थ :- ''जिस प्रकार कथंचित् नित्य-अनित्यात्मक पदार्थों में ही उत्पादादिकत्रय होते हैं, परन्तु सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य पदार्थों में नहीं हो सकते-ऐसा सिद्ध किया, उसी प्रकार पदार्थों को नित्य-अनित्यात्मक मानने से ही कारण-कार्य भाव भी सिद्ध हो सकता है, परन्तु सर्वथा नित्य या अनित्य पदार्थों में नहीं, क्योंकि सर्वथा नित्य पक्ष में परिणाम बिना कार्य-कारण भाव नहीं बन सकता तथा सर्वथा अनित्य पक्ष में पदार्थ मात्र क्षणवर्ती सिद्ध होने से और उन का प्रतिसमय निरन्वयनाश मानने से 'नित्य शक्ति पिण्ड रूप सत् (द्रव्य) कारण है तथा अनित्य परिणाम रूप उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य उस के कार्य हैं।' ऐसा कार्य-कारण भाव नहीं बन सकता, इसलिये कथंचित् नित्य-अनित्यात्मक पदार्थों में ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य और कार्य-कारण भाव भलीभाँति सिद्ध होता है। क्योंकि नित्य-अनित्यात्मक पदार्थों में ही सत् के उत्पादादिक मानने में आये हैं परन्तु निरन्वयनाश रूप या कूटस्थ नित्य में नहीं....''

द्रव्य और पर्याय ये वस्तु के दो भाव हैं, न कि दो भाग। इसलिये ही उसे कथंचित् नित्य-अनित्य कहा जाता है तथा सर्वथा नित्य-अनित्य ऐसा नहीं कहा जाता अथवा माना जाता। इसलिये जो कोई द्रव्य को एकान्त से नित्य-अपरिणामी और पर्याय को एकान्त से अनित्य-परिणामी मानते हों, उन का यहाँ निराकरण किया है। इसलिये ऐसी जिन की धारणा हो, उन से अपनी धारणा सुधार लेने का अनुरोध है।

श्लोक २०० : अर्थ :- 'निश्चय से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य ये तीनों पर्यायों में होते हैं परन्तु सत के नहीं होते। परन्तु चूँकि उत्पादादिक पर्यायें ही द्रव्य हैं इसलिये द्रव्य को उत्पादादिकत्रयवाला कहा जाता है।'

यहाँ अंश-अंशी रूप भेद नय की अपेक्षा से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य इन तीनों को भेद रूप पर्याय सिद्ध किया है क्योंकि अंश-अंशी रूप भेद न किया जाये तो सत् का नाश-सत् का उत्पाद और सत् का ही ध्रौव्य ऐसी विरुद्धता उद्‌भवित होती है। इसलिये भेद नय से समझाया है कि सत् तो स्वत:सिद्ध होने पर उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप ही है और इसलिये भेद नय से ये तीनों उस की पर्याय कही जाती हैं। प्रश्न उठता है कि उत्पाद का स्वरूप और उत्पाद किसका होता (कहा जाता) है? उत्तर -

श्लोक २०१ : अर्थ :- ''तद्‌भाव ('यह वही है') और अतद्‌भाव ('यह वह नहीं') को विषय करनेवाले नय की अपेक्षा से (अर्थात् द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से) सत् सद्‌भाव और असद्‌भाव से युक्त है इसलिये वह उत्पादादिक में नवीन रूप से परिणमित उस सत् की अवस्था का नाम ही उत्पाद है।''

अर्थात् द्रव्य की अवस्था बदलती है उसे ही उत्पाद कहा और पूर्व अवस्था को व्यय। व्यय का स्वरूप और वह किस का होता है? उत्तर -

श्लोक २०२ :- अर्थ :- 'तथा व्यय भी सत् का नहीं होता परन्तु उस सत् की अवस्था का नाश व्यय कहलाता है, तथा प्रध्वंसाभाव रूप वह व्यय सत्, परिणामी होने से सत् का भी अवश्य कहने में आया है।'

अर्थात् अपेक्षा से कुछ भी कहा जा सकता है परन्तु समझना यह है कि उपादान रूप द्रव्य स्वयं ही कार्य रूप परिणमता है और उसे ही उस द्रव्य का उत्पाद कहा जाता है और पूर्व समयवर्ती कार्य को उस द्रव्य का व्यय कहा जाता है और उन दोनों कार्य रूप परिणमित जो उपादान रूप द्रव्य है, वही ध्रौव्य है। ध्रौव्य का स्वरूप और वह किस का होता है? उत्तर -

श्लोक २०३ : अर्थ :- 'पर्यायार्थिक नय से (भेद विवक्षा से) ध्रौव्य भी कथंचित् सत् का होता है। केवल सत् का नहीं इस के लिये उत्पाद-व्यय की भाँति वह ध्रौव्य भी सत् का एक अंश है, परन्तु सर्वदेश नहीं।' क्योंकि यदि वह सत् का (द्रव्य का) मानने में आवे तो द्रव्य कूटस्थ/अपरिणामी गिना जाये कि जो वह नहीं है।

श्लोक २०४ : अर्थ :- 'अथवा तद्भाव से नाश न होना ऐसा जो ध्रौव्य का लक्षण दर्शाया है वहाँ भी अर्थात् उस का भी यह वास्तविक अर्थ है कि जो परिणाम पहले थे वे - वे परिणाम ही बाद में होते रहते हैं।'

अर्थात् जो द्रव्य रूप ध्रौव्य है, वह ही प्रत्येक पर्याय में स्वयं ही कार्य रूप परिणमता है और उस में रही हुई सदृशता से (सामान्य अपेक्षा से) उसका तद्भाव से नाश न होने से उसे ध्रौव्य कहते हैं। जैसे कि ज्ञान आकारान्तरपना पाने पर भी ज्ञानपने का नाश न होने से उस आकार में रहे हुए ज्ञान को (सामान्य को) ही ध्रौव्य कहा जाता है अर्थात् टंकोत्कीर्ण कहा जाता है।

श्लोक २०५ : अर्थ :- 'जैसे पुष्प की गन्ध वह परिणाम है तथा वह गन्ध गुण परिणमन कर रहा है इसलिये गन्ध (गुण) अपरिणामी नहीं है तथा निश्चय से निर्गन्ध अवस्था से पुष्प गन्धवाला हुआ है ऐसा भी नहीं है।'

इस कारण से कहा जा सकता है कि ध्रौव्य रूप द्रव्य/गुण स्वयं ही पर्याय रूप उत्पन्न होता है और तभी पूर्व पर्याय का व्यय होता है; इसलिये अभेद नय से द्रव्य को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप कहा जाता है और भेद नय से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप तीनों सत् की पर्याय कही जाती है, यह भेद रूप पर्याय है। यही भाव आगे भी समझाते हैं।

श्लोक २०७ : अर्थ :- 'निश्चय से सर्वथा नित्य कोई सत् है - गुण कोई है ही नहीं तथा केवल परिणति रूप व्यय तथा उत्पाद ये दोनों उस सत् से अतिरिक्त अर्थात् भिन्न है, ऐसी आशंका भी नहीं करना चाहिये क्योंकि'' भेद नय से जो ऊपर भेद रूप उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य को पर्याय रूप से समझाने से किसी को ऐसी आशंका उत्पन्न होती है कि क्या द्रव्य और पर्याय भिन्न है? तो कहते हैं कि ऐसी आशंका भी नहीं करनी चाहिये।

श्लोक २०८ : अर्थ :- 'ऐसा होने पर सत् को भिन्नतायुक्त देश का प्रसंग आने से सत् वह न गुण, न परिणाम अर्थात् पर्याय और न द्रव्य रूप सिद्ध हो सकेगा, सर्व विवादग्रस्त हो जायेगा।'

भावार्थ :- 'गुणों को न मानकर द्रव्य को सर्वथा नित्य तथा उत्पाद-व्यय को द्रव्य से भिन्न केवल परिणति रूप मानने से द्रव्य तथा पर्यायों को भिन्न-भिन्न प्रदेशीपने का प्रसंग आयेगा तथा सत्, द्रव्य-गुण व पर्यायों में से किसी भी रूप से सिद्ध नहीं हो सकेगा और इसलिये सत्, द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक न होने से उस सत् का भी क्या स्वरूप है? यह भी निश्चित नहीं हो सकेगा; इसलिये द्रव्य-गुण-पर्याय और सत् स्वयं वे सब विवादग्रस्त हो जायेंगे।' यहाँ कहे अनुसार यदि

कोई द्रव्य को अपरिणामी और पर्याय उससे भिन्न (भिन्न प्रदेशी) परिणामी ऐसा मानता हो तो यहाँ बताया हुआ पहला दोष आयेगा। अब दूसरा दोष बताते हैं।

श्लोक २०९ : अर्थ :- 'तथा यहाँ दूसरा भी यह दोष आयेगा कि - जो नित्य है वह निश्चय से नित्य रूप ही रहेगा तथा जो अनित्य है वह अनित्य ही रहेगा। इस प्रकार किसी भी वस्तु में अनेक धर्मत्व सिद्ध नहीं हो सकेगा अर्थात् वस्तु अनेक धर्मात्मक सिद्ध नहीं होगी।' अब तीसरा दोष बताते हैं।

श्लोक २१० : अर्थ :- 'तथा यह एक द्रव्य है, यह गुण है और यह पर्याय है इस प्रकार का जो काल्पनिक भेद होता है (अर्थात् यह भेद वास्तविक नहीं है) वह भी नियम से भिन्न द्रव्य की भाँति बनेगा नहीं।' अर्थात् जिस अभेद वस्तु में समझाने के लिये काल्पनिक भेद किये हैं और इसलिये ही उसे कथंचित् कहा गया है, उसे यदि वास्तविक भेद समझा जाये तो द्रव्य और पर्याय ये दोनों भिन्न प्रदेशी, दो द्रव्य रूप ही बन जाने से भेद रूप व्यवहार न रहकर नियम से भिन्न द्रव्य की भाँति भिन्न प्रदेशी ही बन जायेंगे और द्रव्य-गुण-पर्याय रूप जो काल्पनिक भेद होते हैं, वैसे काल्पनिक भेद नहीं बनेंगे।

आगे शंकाकार नयी शंका करता है कि -

श्लोक २११ : अर्थ :- 'शंकाकार का कहना ऐसा है कि - समुद्र की भाँति वस्तु को नित्य मानें तथा गुण को भी नित्य मानें और पर्यायें लहर की भाँति उत्पन्न और नाश होनेवाली मानें तो' - पदार्थ को समुद्र और लहर के उदाहरण से ऐसा मानें कि-द्रव्य = समुद्र का दल एकान्त से नित्य और पर्याय = लहर एकान्त से अनित्य मानें तो क्या हानि है? उस का समाधान-

श्लोक २१२ : अर्थ :- 'ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि समुद्र और लहरों का दृष्टान्त शंकाकार के प्रकृत-उपरोक्त अर्थ का ही बाधक है तथा शंकाकार द्वारा नहीं कहे गये प्रकृत अर्थ के विषयभूत इस वक्ष्यमान (कथन करने से) कथंचित् नित्य-अनित्यात्मक अभेद अर्थ का साधक है।'

यहाँ याद रखना कि अभेद का साधक कहा है अर्थात् द्रव्य अभेद है उस में भेद उत्पन्न करके कहा जाता है, भिन्न प्रदेश रूप वास्तविक नहीं और दूसरे, प्रस्तुत उदाहरण से ही अभेद द्रव्य सिद्ध होता है। क्योंकि जो लहर है, वह समुद्र की ही बनी है अर्थात् वह समुद्र ही उस रूप में परिणमित हुआ है इसलिये वह समुद्र ही है ऐसा अभेद स्वरूप है द्रव्य का।

भावार्थ :- 'शंकाकार के कथनानुसार गुणों को और वस्तु (द्रव्य) को सर्वथा नित्य तथा उत्पाद-व्यय को सर्वथा अनित्य मानना ठीक नहीं है, क्योंकि इस सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिये जो समुद्र और लहरों का दृष्टान्त दिया, वह शंकाकार के उपरोक्त पक्ष का साधक न होकर बिना कहे ही उपरोक्त पक्ष के (शंकाकार के पक्ष के) विपक्ष का अर्थात्-जैन सिद्धान्तानुसार माने हुए कथंचित् अभेदात्मक पक्ष का साधक है। आगे इसी अर्थ का स्पष्टीकरण करते हैं-'

यदि कोई व्यक्ति द्रव्य को चक्की की तरह समझता हो, जैसे कि चक्की में नीचे का भाग स्थिर और ऊपर का भाग घूमता है तो द्रव्य में जैन सिद्धान्तानुसार ऐसी व्यवस्था भी नहीं है, यह भी इस गाथा से सिद्ध होता है।

श्लोक २१३ :अर्थ :- 'लहरों से व्याप्त समुद्र की भाँति निश्चय से किसी भी गुण के परिणामों से अर्थात् पर्यायों से सत् की अभिन्नता होने से उस सत् का अपने परिणामों से कुछ भी भेद नहीं है।'

अर्थात् जो पर्याय है वह द्रव्य का वर्तमान ही होने से, द्रव्य की ही बनी हुई होने से (लहर में समुद्र ही होने से) वास्तव में कोई भेद नहीं है परन्तु भेद नय से भेद कहने में आता है, इसलिये उसे कथंचित् भेदाभेद भी कहा जाता है।

भावार्थ :- 'जिस प्रकार लहरों के समूह को छोड़ने पर समुद्र कुछ भिन्न वस्तु सिद्ध नहीं हो सकता; इसी प्रकार अपने त्रिकालवर्ती परिणामों को छोड़ने पर गुण तथा द्रव्य भी कोई भिन्न वस्तु सिद्ध नहीं हो सकते।' अर्थात् पर्याय में ही द्रव्य छिपा है, द्रव्य पर्याय से वास्तविक भिन्न प्रदेशी नहीं है।

श्लोक २१४ : अर्थ :- 'परन्तु जो समुद्र है वही लहरें होता है क्योंकि वह समुद्र स्वयं ही लहर के रूप में परिणमन करता है।' अर्थात् द्रव्य ही (अव्यक्त ही) पर्याय रूप से (व्यक्तरूप से) व्यक्त होता है, परिणमन करता है।

श्लोक २१५ : अर्थ :- 'इसलिये सत् वह स्वयं ही उत्पाद है तथा वह सत् ही ध्रौव्य है तथा व्यय भी है क्योंकि सत् (द्रव्य) से पृथक् कोई उत्पाद अथवा व्यय अथवा ध्रौव्य नहीं है।'

द्रव्य-गुण-पर्याय और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य व्यवस्था समझने के लिये इस गाथा का मर्म समझना अत्यन्त आवश्यक है कि वास्तव में द्रव्य अभेद है, भेद मात्र समझाने के लिये ही है, व्यवहार मात्र ही है।

श्लोक २१६ : अर्थ :- 'अथवा शुद्धता को विषय करनेवाले नय की अपेक्षा से उत्पाद भी नहीं, व्यय भी नहीं तथा ध्रौव्य, गुण और पर्याय भी नहीं परन्तु केवल एक सत् ही है।'

अर्थात् शुद्ध नय से एक मात्र पंचमभाव रूप = परमपारिणामिकभाव रूप सत् ही है, वह वैसा का वैसा ही परिणमता है जो हम आगे देखेंगे।

भावार्थ :- 'शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, गुण और पर्याय इत्यादि कुछ भी नहीं है। केवल सब के समुदाय रूप एक सत् ही पदार्थ है (यह कथन वास्तविकता रूप = अभेद नय का है और यही कार्यकारी है इसलिये भेद रूप व्यवहार में रमने योग्य नहीं है परन्तु अभेद रूप वस्तु में ही स्थिर होने योग्य है, जो हम आगे देखेंगे।) क्योंकि जितनी कोई भेद विवक्षा है, वह सब पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से ही कल्पित करने में आती है (अर्थात् वास्तविक स्वरूप तो मात्र अभेद ही है, बाक़ी सब मात्र कल्पना ही है)। शुद्धद्रव्यार्थिक नय, किसी भी प्रकार के भेद को विषय नहीं बनाता इसलिये शुद्धद्रव्यार्थिक नय से निरन्तर सब अवस्थाओं में सत् ही प्रतीतिमान होता है (सब अवस्थाओं में = पर्याय में एकमात्र पंचमभाव रूप = परमपारिणामिकभाव रूप सत् ही प्रतीतिमान होता है) परन्तु उत्पाद-व्ययादिक नहीं। इसका स्पष्टीकरण-'

श्लोक २१७ : अर्थ :- 'सारांश यह है कि जो भेद होता है अर्थात् जिस समय भेद विवक्षित होता है, उस समय निश्चय से वे उत्पादादि तीनों प्रतीत होने लगते हैं तथा जिस समय वह भेद मूल से ही विवक्षित करने में नहीं आता, उस समय वे तीनों (भेद) भी प्रतीत नहीं होते।'

भावार्थ :- 'ऊपर के कथन का सारांश यह है कि - पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक है और दोनों नय (द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक) पदार्थ के सामान्य, विशेष धर्मों में से परस्पर सापेक्ष किसी एक धर्म को मुख्य रूप से तथा दूसरे धर्म को गौण रूप से विषय बनाते हैं (इसलिये द्रव्यार्थिक चक्षुवाले को जहाँ प्रमाण रूप द्रव्य, मात्र सामान्य रूप ही ज्ञात होता है, वहाँ पर्यायार्थिक चक्षुवाले को वह प्रमाण रूप द्रव्य मात्र पर्याय रूप ही ज्ञात होता है और प्रमाण चक्षु से देखने में आने पर वही प्रमाण रूप द्रव्य, उभय रूप अर्थात् द्रव्य-पर्याय स्वरूप ज्ञात होता है; इसलिये समझना यह है कि जैन सिद्धान्त में सब कुछ विवक्षावश अर्थात् अपेक्षा से कहा जाता है, न कि एकान्त से। इसलिये जब ऐसा प्रश्न होता है कि पर्याय किस की बनी है? और उत्तर - द्रव्य की = ध्रौव्य की, ऐसा दिया जावे तो जैन सिद्धान्त नहीं समझनेवालों को लगता है कि पर्याय में द्रव्य कहाँ से आ गया? अरे भाई! पर्याय द्रव्य का ही वर्तमान है और कोई भी वर्तमान उस द्रव्य का ही बना हुआ होगा न! दृष्टान्त - जैसे समुद्र में लहरें किस की बनी हुई हैं? तो कहना पड़ेगा कि

पानी की अर्थात् समुद्र की और मिट्टी का घड़ा किस का बना हुआ है? तो कहना पड़ेगा कि मिट्टी का। इसी प्रकार स्वर्ण के कुण्डलादिक आकारों की पर्यायें किस की बनी हुई है? तो कहना पड़ेगा कि स्वर्ण की। अब पूछते हैं कि ज्ञेयाकार रूप पर्यायें किस की बनी हुई है? तो कहना पड़ेगा कि ज्ञान की और वह ज्ञानसामान्य ही ज्ञायक है। ऐसी ही द्रव्य पर्याय रूप वस्तुव्यवस्था है कि जिसे समझे बिना मिथ्यात्व का दोष खड़ा ही रहनेवाला है; इसीलिये यह वस्तुव्यवस्था सर्वप्रथम स्पष्ट समझना अत्यन्त आवश्यक है।) जिस समय भेद विवक्षित होता है, उस समय अभेद गौण हो जाने से उत्पादादिक तीनों प्रतीत होने लगते हैं और जिस समय द्रव्यार्थिक नय द्वारा अभेदता विवक्षित होती है, उस समय भेद गौण हो जाने से उत्पादादिक तीनों में से किसी की प्रतीति नहीं होती। मात्र एक सत् ही सत् प्रतीतिमान होता है।'

जैन सिद्धान्त में त्रिकाल ध्रुव रूप वस्तु अथवा पर्यायरहित द्रव्य को लक्ष्य में लेने की ऐसी ही विधि है। अभेद द्रव्य में से कुछ भी निकालना हो तो वह मात्र प्रज्ञा से = बुद्धि से ही (लक्ष्य करने से – मुख्य गौण करने से ही) निकाला जा सकता है, अन्यथा नहीं। इस पर हम आगे विचार करेंगे।

अब शंकाकार नयी शंका करता है कि –

श्लोक २१८ : अर्थ :– 'शंकाकार का कहना ऐसा है कि निश्चय से उत्पाद और व्यय ये दोनों ही अंश स्वरूप भले हों, परन्तु त्रिकालगोचर जो ध्रौव्य है, वह किस प्रकार अंशात्मक होगा?' – इस शंका का समाधान –

श्लोक २१९ : अर्थ :– 'ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वास्तव में ये तीनों अंश स्वयं सत् ही हैं सत् के नहीं। यहाँ सत् अर्थान्तरों की भाँति एक-एक होकर अनेक है, ऐसा नहीं है।'

भावार्थ :– 'ऊपर की शंका ठीक नहीं है, क्योंकि जैन सिद्धान्त में सत् के उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य रूप अंश नहीं माने हैं परन्तु सत् स्वयं ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक माना है (अर्थात् द्रव्य को एक, अखण्ड, अभेद स्वरूप ही माना है जो वास्तविकता है और वह स्वयं ही उत्पाद-व्यय रूप होता है) उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य ये तीनों प्रत्येक भिन्न-भिन्न पदार्थों की भाँति मिलकर अनेक नहीं हैं परन्तु विवक्षावश ही (भेद नय से अथवा मुख्य-गौण से) ये तीनों भिन्न – भिन्न रूप से प्रतीत होते हैं। इसका स्पष्टीकरण –'

श्लोक २२० : अर्थ :– 'इस विषय में यह उदाहरण है कि – यहाँ जो उत्पाद रूप से

परिणत सत् जिस समय उत्पाद द्वारा लक्ष्यमान होता है, उस समय वस्तु को केवल उत्पाद मात्र कहने में आता है।'

भावार्थ :- 'पदार्थ, अनन्त धर्मात्मक है, शब्द व नयात्मक ज्ञान के अंश द्वारा उस के सम्पूर्ण धर्म विषयभूत नहीं हो सकते इसलिये उन अनन्त धर्मों में जो ज्ञानांश या शब्द द्वारा जो कोई भी एक धर्म विषयभूत होता है, उस ज्ञानांश (प्रज्ञा = बुद्धि द्वारा) या शब्द द्वारा वस्तु उस समय केवल उसी धर्म रूप जानने में आती है या कहने में आती है। (जैसे कि आत्मा को ज्ञानमात्र कहने पर उसका मात्र ज्ञान गुण ही लक्ष्य में नहीं लेना है परन्तु पूर्ण वस्तु अर्थात् पूर्ण आत्मा ही ज्ञानमात्र कहने से ग्रहण करना) इस न्यायानुसार जिस समय में नवीन-नवीन रूप से परिणत सत् उत्पाद रूप, ज्ञान तथा शब्द द्वारा विवक्षित होता है, उस समय वह सत् केवल उत्पाद मात्र कहने में आता है।'

यहाँ कोई ऐसा कहे कि ध्रुव तो उत्पाद-व्यय से अलग होना ही चाहिये अथवा रखना ही चाहिये, द्रव्य को केवल उत्पाद मात्र कैसे कह सकते हैं? तो उत्तर यह है कि वस्तु के (सत् के) एक अंश को लक्ष्य में लेकर अर्थात् मुख्य करके कथन करने में आये तो बाक़ी के समस्त अंश उस में ही अन्तर्गर्भित हो जाते हैं अर्थात् एक को मुख्य करने पर बाक़ी के सब अपने आप ही गौण हो जाते हैं और उस मुख्य अंश से ही पूर्ण वस्तु का व्यवहार होता है अर्थात् प्रतिपादन, प्रस्तुति होती है। वहाँ प्रतिपादन अन्य अंशों को छोड़कर एक अंश का नहीं होता परन्तु एक अंश को मुख्य और अन्य अंशों को गौण करके होता है और यही जैन सिद्धान्त की प्रतिपादन की शैली है, इसे ही स्याद्वाद कहा जाता है जो कि जिनसिद्धान्त का प्राण है।

श्लोक २२१ : अर्थ :- 'अथवा जिस समय यहाँ व्यय रूप से परिणत वह सत् केवल व्यय द्वारा निश्चय रूप से लक्ष्यमान होता है, उस समय वही सत् निश्चय से केवल व्यय मात्र क्या नहीं होगा? अवश्य होगा।'

श्लोक २२२ : अर्थ :- 'अथवा जिस समय ध्रौव्य रूप से परिणत सत् (केवल) ध्रौव्य द्वारा लक्ष्यमान होता है, उस समय उत्पाद-व्यय की भाँति वही का वही सत् ध्रौव्य मात्र है, ऐसा ही प्रतीत होता है।'

अर्थात् पूर्व में बताये अनुसार द्रव्यार्थिक चक्षुवाले को जहाँ प्रमाण रूप द्रव्य, मात्र सामान्य रूप ही ज्ञात होता है अर्थात् ध्रुव रूप ही ज्ञात होता है, वहाँ पर्यायार्थिक चक्षुवाले को वही प्रमाण रूप द्रव्य मात्र पर्याय रूप ही ज्ञात होता है अर्थात् उत्पाद-व्यय रूप ही ज्ञात होता है और प्रमाण

चक्षु से देखने में आने पर वही प्रमाण रूप द्रव्य, उभय रूप अर्थात् द्रव्य-पर्याय रूप ज्ञात होता है अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप ज्ञात होता है। इसलिये समझना यह है कि जिनसिद्धान्त में प्रत्येक कथन विवक्षावश ही अर्थात् अपेक्षा से ही कहा जाता है, न कि एकान्त से। इसलिये जब ऐसा प्रश्न होता है कि पर्याय किस की बनी है? और उत्तर- द्रव्य की = ध्रौव्य की, ऐसा दिया जाय तो जिनसिद्धान्त नहीं समझनेवालों को लगता है कि यह पर्याय में द्रव्य कहाँ से आ गया? अरे भाई! पर्याय है वह द्रव्य का ही वर्तमान है और कोई भी वर्तमान उस द्रव्य का ही बना हुआ होगा न? ऐसा है जिनसिद्धान्त के अनुसार त्रिकाली ध्रुव वस्तु का स्वरूप, अन्यथा नहीं; अन्यथा लेने पर वह जिनमत बाह्य है। दृष्टान्त -

श्लोक २२३ : अर्थ :- 'मिट्टी रूप द्रव्य, सतात्मक घट द्वारा लक्ष्यमान होता हुआ केवल घट रूप ही कहने में आता है तथा वहाँ ही असतात्मक पिण्ड रूप द्वारा लक्ष्यमान होता हुआ केवल पिण्ड रूप ही कहने में आता है।' और अब मिट्टी रूप (ध्रुव रूप) कहते हैं।

श्लोक २२४ : अर्थ :- 'अथवा वह मिट्टी रूप द्रव्य अगर यहाँ केवल मृतिकापने (मिट्टीपने) से लक्ष्यमान होता है तो वह मिट्टी ही कहने में आता है, इस प्रकार एक सत् के ही उत्पादादिक तीनों इस सत् के अंश हैं।'

एक अभेद सत् रूप वस्तु को अलग - अलग विवक्षाओं से देखने पर वह पूर्ण वस्तु ही उस स्वरूप कही जाती है, जैसे कि घट को मात्र मिट्टी रूप अर्थात् त्रिकाली ध्रुव रूप देखने से वह पूर्ण वस्तु (घट) मात्र मिट्टी रूप ही ज्ञात होती है, अर्थात् उस में से घटत्व अथवा पिण्डत्व निकाल देना नहीं पड़ता, वह अपने आप ही मिट्टीपन में अन्तर्भूत हो जाता है, अत्यन्त गौण हो जाता है और यही विधि है त्रिकाली ध्रुव द्रव्य को द्रव्यदृष्टि से निहारने की; अन्य विधि नहीं। यही आगे बताते हैं।

श्लोक २२५ : अर्थ :- 'परन्तु वृक्ष में फल, फूल तथा पत्र की भाँति कोई अंश रूप एक भाग से सत् का उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्य नहीं है।'

अर्थात् वास्तव में द्रव्य में ध्रुव और पर्याय ऐसे दो भाग नहीं हैं और उनके क्षेत्र भेद (भिन्न प्रदेश) भी नहीं हैं परन्तु एक ही वस्तु को अपेक्षा से - भेद नय से ऐसा कहा जाता है।

भावार्थ :- ''जिस प्रकार वृक्ष में फूल, फल तथा पत्र इत्यादि भिन्न - भिन्न अंशों से रहते हैं और वह वृक्ष भी उन के संयोग से फल, फूल, पत्रादि वाला कहने में आता है, उस प्रकार

सत् के किसी एक अंश से अलग उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य नहीं है तथा न तो अलग - अलग अंशात्मक उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से, द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य वाला ही कहा जाता है। इसलिये शंकाकार का 'उत्पाद-व्यय को अंशात्मक मानना और ध्रौव्य को अंशात्मक न मानना' यह कथन (शंका) ठीक नहीं है।''

अब शंकाकार शंका करता है कि उत्पादादिक तीनों अंशों के होते हैं या अंशी के (द्रव्य के = सत् के) होते हैं? और ये तीनों सत्तात्मक अंश हैं या असत्तात्मक? इसका समाधान देते हैं-

श्लोक २२७ : अर्थ :- 'ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि जिनसिद्धान्त में निश्चय से अनेकान्त ही बलवान है। एकान्त बलवान नहीं है। इसलिये अनेकान्तपूर्वक समस्त ही कथन अविरुद्ध होते हैं तथा अनेकान्त के बिना समस्त कथन विरोधाभासपूर्ण हो जाते हैं।'

अर्थात् मात्र शब्दों को पकड़कर कभी एकान्त अर्थ नहीं निकालना चाहिये क्योंकि जिनसिद्धान्त में प्रत्येक शब्द - प्रत्येक वाक्य किसी न किसी अपेक्षा के साथ ही होता है। इसलिये उन शब्दों अथवा वाक्यों को उस - उस अपेक्षानुसार समझकर ग्रहण करना आवश्यक है। अनेकान्त स्वरूप जैन सिद्धान्त के अनुसार ही अर्थ समझना योग्य है, अन्यथा एकान्त के दोष से मिथ्यात्व का दोष अवश्य ही आता है जो कि अनन्त भव भ्रमण बढ़ाने के लिये शक्तिमान है। इसीलिये एकान्त ग्रहण और एकान्त के आग्रह से बचकर प्रस्तुत किसी भी विधान को अनेकान्त स्वरूप समझाये अनुसार ग्रहण करके शीघ्रता से संसार से मुक्त होना चाहिये। मोक्षमार्ग पर चलने के लिये अनेकान्त ही सहायक है।

श्लोक २२८ : अर्थ :- 'यहाँ केवल अंशों के उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्य नहीं होते, तथा अंशी के भी उत्पादादि तीनों नहीं होते परन्तु निश्चय से अंश से युक्त अंशी के ये उत्पादादिक तीनों होते हैं।'

अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप द्रव्य कहा है, वह पूर्ण अभेद है और वह अभेद रूप ही परिणमता है और वह पूर्ण द्रव्य ही उत्पादादि रूप होता है; उस में कोई अंश रूप विभाग नहीं है, मात्र अपेक्षा से कहे जाते हैं।

श्लोक २२९ : भावार्थ :- 'शंकाकार का कहना ऐसा है कि शब्द या अर्थ दृष्टि से उत्पादादि एक पदार्थ में बन सकते हैं, वैसे ध्रौव्य और उत्पाद-व्यय किसी एक पदार्थ में सिद्ध नहीं हो सकते, क्योंकि उत्पाद-व्यय अनित्यपने के साधक हैं और ध्रौव्य नित्यपने का साधक है, इसलिये ध्रौव्य और उत्पाद-व्यय, ये दोनों परस्पर विरोधी होने से उन्हें एक पदार्थ का मानना तो प्रत्यक्ष बाधित

है। उस का समाधान-'

श्लोक २३०-२३१ : अर्थ :- 'ध्रौव्य और उत्पाद-व्यय परस्पर विरोधी हैं, यह बात ठीक है, परन्तु यदि निश्चय से इन तीनों में क्षण भेद अर्थात् भिन्न-भिन्न समय हो तो अथवा निश्चय से सत् स्वयं ही नाश होता हो (अर्थात् सत् परिवर्तित न होकर नाश होता हो), तथा सत् स्वयं ही उत्पन्न होता हो (अर्थात् सत् परिवर्तित न होकर नाश होकर नया उत्पन्न होता हो) तो परस्पर विरुद्ध कथन होता परन्तु इन उत्पादादिक तीनों का क्षण भेद अथवा स्वयं सत् का ही नाश पाना या उत्पन्न होना वह किसी भी जगह, किसी भी हेतु से कुछ भी, किसी का भी, किसी भी प्रकार से नहीं होता, क्योंकि इस जगह उस का दृष्टान्त भी नहीं मिलने से, उस के साधक प्रमाण का अभाव है।'

श्लोक २३८ : अर्थ :- 'न्याय बल से यह सिद्ध हुआ कि ये तीनों (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य) एक कालवर्ती है, क्योंकि जो वृक्षपन है वही अंकुर रूप से उत्पन्न और बीज रूप से नष्ट होनेवाला है।'

अर्थात् पूर्ण द्रव्य ही एक पर्याय से नष्ट होकर दूसरी पर्याय रूप परिवर्तित होता रहता है और इसीलिये ही उसे ध्रुव कहा जाता है, उस की पूर्व पर्याय को व्यय रूप और वर्तमान पर्याय को उत्पाद रूप कहा जाता है, अर्थात् उस द्रव्य में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप कोई अलग अंश नहीं, मात्र वस्तुव्यवस्था समझाने के लिये ऐसे भेद करके बतलाया है कि - जो भी द्रव्य है, वह द्रवता है अर्थात् परिणमता है, अर्थात् परिवर्तित होता रहता है और वह परिवर्तित होते हुए द्रव्य को ध्रुव कहा जाता है। जब कि उस के परिणाम को - अवस्था को पर्याय (उत्पाद-व्यय) रूप कहा जाता है।

श्लोक २४३ : अर्थ :- 'प्रकृत कथन में ऐसा मानने में आया है कि सत् को किसी अन्य (पूर्व) पर्याय से विनाश तथा किसी अन्य (वर्तमान) पर्याय से उत्पाद तथा उन दोनों से भिन्न किसी सदृश पर्याय से (द्रव्य सामान्य रूप कि जिस की दोनों पर्यायें बनी हैं और जो सामान्य रूप होने से वैसा का वैसा ही उत्पन्न होता है इसलिये उसे सदृश पर्याय रूप = परमपारिणामिकभाव रूप कहा जाता है) ध्रौव्य होता है।' अब इस का ही उदाहरण बताते हैं-

श्लोक २४४ : अर्थ :- 'यहाँ उदाहरण वृक्ष की भाँति है कि जैसे वह वृक्ष सत्तात्मक अंकुर रूप से स्वयं ही (अर्थात् वृक्ष स्वयं ही अर्थात् द्रव्य स्वयं ही) उत्पन्न है, बीज रूप से नष्ट

है (पूर्व पर्याय से नष्ट कहा जाता है) तथा दोनों अवस्थाओं में वृक्षपने से ध्रौव्य (अर्थात् समझना यह है कि वृक्ष रूप ध्रौव्य किसी पर्याय से भिन्न अपरिणामी विभाग नहीं, परन्तु जो पर्याय है वह विशेष है और उस का ही सामान्य अर्थात् वह जिस की बनी हुई है, उसे ही ध्रौव्य कहा जाता है अर्थात् अन्य कोई अपरिणामी ध्रौव्य अलग नहीं है, यह समझना आवश्यक है कि – वह द्रव्य ही है कि जिस की पर्याय बनी हुई है, वह द्रव्यपने से ध्रौव्य) ऐसा भी है अर्थात् वृक्ष में (अर्थात् द्रव्य में) अलग-अलग अपेक्षा से ये तीनों (बीज, अंकुर और वृक्षपन अर्थात् व्यय, उत्पाद और ध्रौव्यपन) एक समय में होता है।' यही जिनसिद्धान्त के अनुसार वस्तु का स्वरूप है। मोक्ष के इच्छुक व्यक्ति को यही स्वीकार्य होना चाहिये।

भावार्थ :- '...बीज के अभाव और अंकुर के उत्पाद रूप दोनों अवस्थाओं में सामान्य रूप से वृक्षत्व मौजूद है...' अर्थात् समझना यह है कि विशेष रूप अवस्थायें (पर्यायें) सामान्य रूप (द्रव्य) की ही बनी हुई है।

श्लोक २४६ : अर्थ :- 'जिस कारण से उत्पाद और व्यय इन दोनों की आत्मा स्वयं सत् है (अर्थात् उत्पाद, व्यय रूप पर्याय सत् रूप द्रव्य की ही बनी है कि जिसे सामान्य रूप से ध्रौव्य कहा जाता है) ये दोनों तथा ध्रौव्य ये तीनों सत् ही हैं, सत् से भिन्न नहीं (भिन्न प्रदेशी नहीं)।' वास्तव में वस्तु अभेद होने से ही ऐसी वस्तुव्यवस्था घटित होती है। अब सारांश-

श्लोक २४७ : अर्थ :- 'पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से उत्पाद है, व्यय है तथा ध्रौव्य है परन्तु द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से न उत्पाद है, न व्यय है तथा न ध्रौव्य है।'

इसलिये हम जब द्रव्य-पर्याय स्वरूप वस्तु को अर्थात् प्रमाण रूप द्रव्य को मात्र द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से त्रिकाली ध्रुव कहते हैं तब किसी को प्रश्न होगा कि – इस में प्रमाण का द्रव्य क्यों लिया जाता है? तो उस का उत्तर यह है कि – जैसी आप की दृष्टि होगी, वैसा ही द्रव्य आप को दिखेगा। जो द्रव्य को प्रमाण दृष्टि से देखते हैं, उन्हें वह द्रव्य = वस्तु प्रमाण रूप दिखेगा, जो पर्यायदृष्टि से देखे उसे वह द्रव्य मात्र पर्याय रूप ज्ञात होगा और उसी प्रमाण के द्रव्य को यदि द्रव्यार्थिक नय के चक्षु से निरखा जाये तो वह पूर्ण वस्तु (पूर्ण द्रव्य) मात्र त्रिकाली ध्रुव रूप ही ज्ञात होगा कि जो पर्याय से निरपेक्ष रूप सामान्य मात्र ही है। यही जिनसिद्धान्त की विलक्षणता है, कमाल है और यही विधि है पर्यायरहित द्रव्य पाने की। इसलिये सभी से हमारा निवेदन है कि सर्वप्रथम आप 'जैसा है वैसा' वस्तुव्यवस्था समझेंगे तो अपने प्रश्न का उत्तर, आप को अपने

आप ही मिल जायेगा। इसी कारण यह बात इतने विस्तार से समझायी है और उस में पुनरावर्तन का दोष सेवन करके भी बारम्बार उसी बात को स्पष्ट किया है कि वस्तुव्यवस्था और स्याद्वाद शैली समझे बिना शब्द और वाक्यों के अर्थ समझना अत्यन्त कठिन है। लेकिन अनेकान्त स्वरूप वस्तुव्यवस्था समझने के बाद वह अत्यन्त सरल है, यही बात आगे स्पष्ट करते हैं।

श्लोक २५४ : अर्थ :- 'ध्रौव्य भी उत्पाद-व्यय के बिना नहीं होता क्योंकि वहाँ विशेष के अभाव में सतात्मक सामान्य का भी अभाव होता है' अर्थात् उत्पाद-व्यय रूप विशेष ध्रौव्य रूप सामान्य का ही बना है। इसी से एक के अभाव में दूसरे का भी अभाव होता है।

भावार्थ :- 'वस्तु सामान्य विशेषात्मक है, विशेष निरपेक्ष सामान्य तथा सामान्य निरपेक्ष विशेष वह कोई वस्तु ही सिद्ध नहीं होती, ध्रौव्य सामान्य रूप है और उत्पाद-व्यय विशेष रूप है। इसलिये उत्पाद-व्यय बिना ध्रौव्य भी नहीं बन सकता, क्योंकि उत्पाद-व्ययात्मक विशेष बिना ध्रौव्यात्मक सामान्य की भी सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिये -'

श्लोक २५५ : अर्थ :- 'इस प्रकार यहाँ उत्पादादिक तीनों की व्यवस्था बहुत सुन्दर है परन्तु उन उत्पादादिक तीनों में से किसी एक के निषेध को कहनेवाला अपने पक्ष का भी घातक होता है। इसलिये उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य में से केवल एक की व्यवस्था मानना ठीक नहीं है।'

यहाँ स्पष्ट होता है कि यदि कोई अभेद द्रव्य में से पर्याय को अलग करने का प्रयत्न करेगा अर्थात् जिसे पर्यायरहित द्रव्य इष्ट होगा तो उस के लिये पूर्ण द्रव्य का ही लोप हो जायेगा, अर्थात् वह मात्र भ्रम में ही रह जायेगा। इसलिये पर्यायरहित द्रव्य पाने की विधि जो ऊपर बतायी है, वैसे द्रव्यार्थिक नय के चक्षु से अर्थात् द्रव्यदृष्टि से है। मात्र द्रव्य को ही ध्यान में लेने से वह पूर्ण द्रव्य कि जिसे आप प्रमाण का द्रव्य भी कह सकते हैं, वैसा पूर्ण द्रव्य ही मात्र द्रव्य रूप अर्थात् ध्रुव रूप ही ज्ञात होगा, उस का ही लक्ष्य होगा। इसलिये पर्यायरहित द्रव्य चाहिये तो उस की विधि ऐसी ही है। अन्य किसी प्रकार से तो द्रव्य का ही अभाव हो जायेगा और वह स्वयं अपने पक्ष का ही घातक बनकर मात्र भ्रम में ही रहेगा।

दूसरे, कोई वर्तमान पर्याय को दृष्टि के विषय से बाहर रखे तो पूर्ण द्रव्य ही बाहर हो जायेगा। ऐसा है वस्तुस्वरूप। ऐसी है वस्तुव्यवस्था जैन सिद्धान्त की, जो कि अनेकान्त रूप है, एकान्त रूप नहीं। इस विधि से द्रव्य को परिणामी नहीं माननेवाले को क्या दोष आयेगा? उत्तर-

श्लोक २५८ : अर्थ :- 'निश्चय से केवल एक ध्रौव्यपने का विश्वास करने - माननेवाले

के लिये भी द्रव्य परिणामी नहीं बनेगा। उस का परिणामीपना न होने से वह ध्रौव्य, ध्रुव भी नहीं रह सकेगा।'

यहाँ समझना यह है कि जो कोई ध्रौव्य रूप द्रव्य को अपरिणामी मानते हों तो, वह ऐसा एकान्त से नहीं क्योंकि यदि ध्रौव्य अपरिणामी हो तो द्रव्य का ही अभाव होगा। इस कारण से ध्रौव्य का भी अभाव ही होगा, क्योंकि कोई भी वस्तु उस के वर्तमान के बिना नहीं होती। कोई भी द्रव्य (ध्रौव्य) उस की अवस्था (वर्तमान = पर्याय) बिना होता ही नहीं और यदि ऐसा माना जाये तो उस द्रव्य के ध्रौव्य का ही अभाव हो जायेगा; इस कारण से उस ध्रौव्य को अवश्य परिणामी मानना पड़ेगा और वह परिणाम (अर्थात् उपादान रूप ध्रौव्य का कार्य – उस की अवस्था) को ही उत्पाद–व्यय रूप पर्याय कहा जाता है। और उस में (पर्याय में) रहे हुए सामान्य भाव (अर्थात् पर्याय जिस की बनी है वह भाव) को ध्रौव्य कहा जाता है। 'यह वैसा ही है' यही उस का लक्षण है। और इस लक्षण अपेक्षा से उसे अपरिणामी भी कहा जाता है। अन्यथा नहीं। अन्यथा समझने से तो मिथ्यात्व का ही दोष आयेगा। उपसंहार–

श्लोक २६० : अर्थ :– 'ऊपर के दोषों के भय से तथा प्रकृत आस्तिकता को चाहनेवाले पुरुषों को यहाँ पर उत्पादादिक तीनों को उपरोक्त अविनाभावी ही मानना चाहिये।'

अर्थात् यह बात लक्ष्य में लेने योग्य है कि – जो कोई इस प्रकार से वस्तुव्यवस्था न मानते हों, उन्हें मिथ्यात्वी ही समझना। जो आत्मार्थी हैं, उन्हें यहाँ बतायी गई वस्तुव्यवस्था को ही सम्यक् समझकर अपनाना परम आवश्यक है, अन्यथा मिथ्यात्व के दोष के कारण उन्हें अनन्त दु:खों से छुटकारा मिलेगा ही नहीं।

दूसरे, पंचाध्यायी शास्त्र में इसके अतिरिक्त भी इसी बात को पुष्ट करनेवाले अनेक श्लोक हैं परन्तु विस्तार भय के कारण अब हम विशेष महत्त्व के श्लोक ही देखेंगे; विस्तार रुचिवालों को इस शास्त्र का पूर्ण रूप से स्वाध्याय करना चाहिये।

श्लोक ३०३ : अर्थ :– 'जो सत् विधि रूप (अन्वय रूप, ध्रुव रूप, सामान्य रूप, द्रव्य रूप) अथवा निषेध रूप (अर्थात् व्यतिरेक रूप, उत्पादव्यय रूप, विशेष रूप, पर्याय रूप) भी कहा है, वही सत् (वस्तु = द्रव्य) यहाँ परस्पर की अपेक्षा से किसी एक में कोई दूसरा गर्भित हो जाने से कहा जा सकता है अर्थात् परस्पर सापेक्ष होने से एक–दूसरे में गर्भित हो जाता है।'

निषेध रूप पर्याय है। वह विधि रूप ध्रुव की ही बनी है। इसलिये वे दोनों एक–दूसरे में

गर्भित हो जाते हैं और अपेक्षा अनुसार कोई एक ही (द्रव्यार्थिक नय या पर्यायार्थिक नय से) ज्ञात होते हैं, जब कि प्रमाण चक्षु से उभय अर्थात् दोनों ज्ञात होते हैं।

भावार्थ :- 'वस्तु अन्वय-व्यतिरेकात्मक सिद्ध होने से जिस समय वस्तु विधि रूप कही जाती है, उस समय निषेध रूप विशेष धर्म गौण रूप से उस विधि में गर्भित हो जाता है (अर्थात् ध्रुव में पर्याय गर्भित हो जाती है) ऐसा समझना, तथा जिस समय वही वस्तु निषेध रूप से विवक्षित होती है, उस समय विधि रूप सामान्य भी उसी निषेध में गौण रूप से गर्भित हो जाता है (अर्थात् पर्याय में ध्रुव गर्भित हो जाता है - अर्थात् पर्याय ध्रुव की ही बनी है) ऐसा समझना, क्योंकि अस्ति-नास्ति सर्वथा पृथक् नहीं परन्तु परस्पर सापेक्ष है। इसलिये विवक्षित की मुख्यता में अविवक्षित गौण रूप से गर्भित रहता है।'

जिनसिद्धान्त में अभाव करने की यह विधि मुख्य गौण रूप व्यवस्था है। इसलिये जिसे अन्य विधि का आग्रह है - पक्ष है, उसे नियम से मिथ्यात्वी जानना चाहिये।

श्लोक ३०७ : अर्थ :- 'सारांश यह है कि विधि ही स्वयं (अन्वय ही स्वयं, ध्रुव ही स्वयं, सामान्य ही स्वयं, द्रव्य ही स्वयं) युक्तिवशात् (अर्थात् पर्यायार्थिक नय से, पर्यायदृष्टि से, भेददृष्टि से) निश्चय से (यहाँ याद रखना निश्चय से बताया है) निषेध रूप (अर्थात् व्यतिरेक रूप, उत्पाद-व्यय रूप, विशेष रूप, पर्याय रूप) हो जाता है तथा उसी तरह निषेध भी (अर्थात् व्यतिरेक रूप, उत्पाद-व्यय रूप, विशेष रूप, पर्याय रूप) स्वयं ही युक्तिवश से (अर्थात् द्रव्यार्थिक नय से, द्रव्यदृष्टि से, अभेददृष्टि से) विधि रूप (अर्थात् अन्वय रूप, ध्रुव रूप, सामान्य रूप, द्रव्य रूप) हो जाता है।'

वस्तुव्यवस्था समझने के लिये अब इस गाथा से अधिक प्रमाण क्या चाहिये! यहाँ यही बताया है कि द्रव्यदृष्टि अथवा पर्यायदृष्टि अनुसार एक ही वस्तु क्रम से द्रव्य रूप (ध्रुव रूप) अथवा पर्याय रूप (उत्पाद रूप, व्यय रूप) ज्ञात होती है। वहाँ कोई क्षेत्र अपेक्षा से विभाग नहीं है। यही विधि है जिनसिद्धान्त की पर्यायरहित द्रव्य को देखने की, इसलिये ही आचार्य भगवान ने आगे के श्लोक में कहा है कि -

श्लोक ३०८ : अर्थ :- 'इस प्रकार यहाँ तत्त्व को जाननेवाले कोई भी जैन तत्त्वज्ञाता स्याद्वादी कहलाते हैं तथा इस से अन्यथा जाननेवाले सिंहमाणवक (बिल्ली को सिंह माननेवाले) कहलाते हैं।'

भावार्थ :- 'इस प्रकार अनेकान्तात्मक तत्त्व को विवक्षावश विधि और निषेध रूप

जाननेवाला कोई जैन ही सच्चा तत्त्वज्ञानी तथा स्याद्वादी कहलाता है। इस से अन्य प्रकार से वस्तु स्वरूप को जाननेवाला पुरुष सच्चा तत्त्वज्ञानी या स्याद्वादी नहीं कहा जा सकता। वह सिंहमाणवक कहलाता है अर्थात् जैसे बिल्ली को सिंह कहा जाता है परन्तु वास्तव में वह सिंह नहीं किन्तु बिल्ली ही है। उपरोक्तानुसार तत्त्व को न जानकर अन्यथा प्रकार से जाननेवाले पुरुषों को भी उपचार से ही तत्त्वज्ञानी कहा जा सकता है। वास्तव में नहीं।'

यह बात लक्ष्य में लेने योग्य है कि जो कोई यहाँ बतायी गयी विधि से वस्तुव्यवस्था न मानते हों, उन्हें नियम से मिथ्यात्वी ही समझना चाहिये। आगे भी आचार्य भगवन्त यही वस्तु व्यवस्था पुष्ट करते हैं। जैसे कि –

श्लोक ३३१ : भावार्थ :– 'तद्भाव और अतद्भाव को (परस्पर) निरपेक्ष मानने से पूर्वोक्त कार्य–कारण भाव के अभाव का प्रसंग आता है, परन्तु यदि दोनों को (परस्पर) सापेक्ष माना जाये तो 'तदिदं' (यह वैसा ही है) 'तदिदं न' (यह वैसा नहीं) इस आकारवाले तत्भाव और अतत्भाव प्रतीति में कार्य–कारण तथा क्रिया–कारक ये सब सिद्ध हो जाते हैं।'

श्लोक ३३२ : अर्थ :– 'सारांश यह है कि सत्–असत् की तरह तत् तथा अतत् भी विधि निषेध रूप होते हैं परन्तु निरपेक्ष रूप से नहीं, क्योंकि परस्पर सापेक्ष रूप से तत्–अतत् ये दोनों भी तत्त्व हैं।' अन्यथा निरपेक्ष रूप से वह अतत्त्व ही है यह समझना आवश्यक है।

श्लोक ३३३ : अर्थ :– 'पूर्वोक्त कथन का स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि जिस समय केवल तत् की विधि मुख्य होती है, उस समय कथंचित् अपृथक् होने के कारण से अतत् गौण हो जाता है। इसलिये वस्तु सामान्य रूप से तन्मात्र कहलाती है।' यही विधि है त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा की प्राप्ति की।

श्लोक ३३४ : अर्थ :– 'तथा जिस समय पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से केवल अतत्, यह विवक्षा करने योग्य विधि मुख्य होती है, उस समय तत् वह स्वयं गौण होने से अविवक्षित रहता है इसलिये वस्तु को अतन्मात्र कहने में आता है।'

ऐसा है जिनसिद्धान्तानुसार वस्तु का स्वरूप, जो समझे बिना विकृत धारणाओं का अन्त शक्य ही नहीं है। विकृत धारणाओं का अन्त मोक्षमार्ग के प्रवेश के लिये अत्यन्त आवश्यक है। सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिये विकृत धारणाओं का अन्त और सम्यक् धारणा का स्वीकार बहुत ज़रूरी है।

श्लोक ३३७ : अर्थ :- 'ठीक है, परन्तु निश्चय से 'सर्वथा' इस पदपूर्वक सभी कथन स्व-पर के घात के लिये हैं परन्तु स्यात् पद द्वारा युक्त सभी पद स्व-पर के उपकार के लिये हैं।' अर्थात् स्याद्वाद के बिना किसी का भी उद्धार नहीं है, यह बात सभी को ज़रा भी भूलने योग्य नहीं है।

श्लोक ३३८ : अर्थ :- 'अब इस का स्पष्टीकरण यह है कि जैसे सत् स्वत:सिद्ध है (नित्य है), उसी प्रकार वह परिणमनशील भी है। (उत्पाद-व्यय रूप = अनित्य भी है) इसलिये एक ही सत् दो स्वभाववाला होने से (यहाँ दो स्वभाव वाला बताया है-दो भाग वाला नहीं समझना) वह नित्य तथा अनित्य रूप है।' ऐसा नहीं कि एक भाग अपरिणामी और एक भाग परिणामी हो। अपेक्षा से ध्रुव को अपरिणामी कहा जाता है परन्तु वैसा माना नहीं जाता।

श्लोक ३३९-३४० : अर्थ :- 'सारांश यह है कि जिस समय यहाँ केवल द्रव्य (ध्रुव = द्रव्य) दृष्टिगत होता है, परिणाम दृष्टिगत नहीं होते, उस समय वहाँ द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से वस्तुपने (द्रव्यत्व) का नाश नहीं होने से सम्पूर्ण वस्तु (यहाँ ध्यान में लेने योग्य बात यह है कि सम्पूर्ण वस्तु बतायी हुई है उस में से कुछ भी निकालने में नहीं आया - सम्पूर्ण वस्तु अर्थात् प्रमाण का विषय) नित्य है (ध्रुव है)। अथवा जिस समय निश्चय से केवल परिणाम दृष्टिगत होते हैं, वस्तु (ध्रुव = द्रव्य) दृष्टिगत नहीं होती, उस समय पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से नवीन पर्याय की उत्पत्ति तथा पूर्व पर्याय का अभाव होने से सम्पूर्ण वस्तु ही अनित्य है (अर्थात् पर्याय रूप है)।'

इसलिये समझना यह है कि जो पर्यायार्थिक नय के विषय रूप पर्याय है, उसी में द्रव्य अन्तर्गत = गर्भित हो जाने से वह पर्याय, उस द्रव्य की ही बनी है, ऐसा कहा जा सकता है और वही द्रव्य अगर शुद्ध नय से शुद्ध देखने में आवे तो वही पंचमभाव अर्थात् परमपारिणामिकभाव है। इस कारण से किसी को प्रश्न हो कि समयसार गाथा १३ में बताया है कि 'नौ पदार्थ में (तत्त्व में) छिपी हुई आत्म ज्योति' क्या है ? तो उस का उत्तर यह है कि वह शुद्ध नय से परमपारिणामिकभाव ही है। यह बात हम आगे विस्तार से समझेंगे।

श्लोक ४११ : अर्थ :- 'निश्चय से अभिन्न प्रदेश होने से कथंचित् सत् (ध्रुव = द्रव्य) और परिणाम में अद्वैतता है तथा दीपक और प्रकाश की भाँति संज्ञा-लक्षणादि द्वारा भेद होने से सत् और परिणाम में द्वैत भी है।' अर्थात् द्रव्य और पर्याय ये दोनों अभिन्न प्रदेशी होने से अभेद रूप हैं और लक्षण द्वारा भेद करने पर भेद रूप भी हैं, इसलिये कथंचित् भेद-अभेद रूप कहे जाते हैं।

श्लोक ४१२ : अर्थ :- 'सत् और परिणाम की द्वैतता जल और उस की तरंगों की भाँति अभिन्न तथा भिन्न भी है, क्योंकि जल तथा तरंगों में से जिस समय तरंगों की अपेक्षा से विचार किया जाता है, उस समय तरंगें उदित होती हैं तथा विलीन होती हैं, इसलिये वे जल से कथंचित् भिन्न हैं तथा जिस समय जल की अपेक्षा से विचार किया जाता है, उस समय वे तरंगें उदयमान तथा विलयमान ही नहीं होती परन्तु केवल जल ही जल प्रतीतिमान होता है; इसलिये वे जल से कथंचित् अभिन्न भी हैं। इस प्रकार सत् (ध्रुव) और परिणाम भी कथंचित् भिन्न तथा कथंचित् अभिन्न हैं।' यही विधि है त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा की प्राप्ति की, दूसरी नहीं। इस से अन्यथा मानने से मिथ्यात्व का दोष आता है। अब आगे घट और मृत्तिका का दृष्टान्त बताते हैं।

श्लोक ४१३ : अर्थ :- 'घट और मृत्तिका के द्वैत की भाँति यह सत् और परिणाम का द्वैत, द्वैत होने पर भी अद्वैत है, क्योंकि केवल मिट्टीपने के रूप से नित्य है, तथा केवल घटपने के रूप से अनित्य है।'

श्लोक ४१४ : अर्थ :- 'सत् के विषय में प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त होने से सत् नित्य है जैसे कि 'यह वही है' तथा नियम से 'यह वह नहीं' इस प्रतीति से सत् नित्य नहीं अर्थात् अनित्य है।'

श्लोक ५९१ : भावार्थ :- 'नयों की परस्पर सापेक्षता वह नयों के अन्यथा रूप से न होनेवाले अविनाभाव की द्योतक है क्योंकि जिस के बिना जिस की सिद्धि न हो उसे अविनाभावी कहते हैं। सामान्य के बिना विशेष की तथा विशेष के बिना सामान्य की सिद्धि नहीं हो सकती, इसलिये सामान्य को विषय करने वाला जो द्रव्यार्थिक नय है तथा विशेष को विषय करने वाला जो पर्यायार्थिक नय है, उन दोनों में परस्पर सापेक्षता है।'

हमने यहाँ द्रव्य-गुण-पर्याययुक्त सत् स्वरूप वस्तु अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप सत् रूप द्रव्य की व्यवस्था पूर्णत: समझायी है। उसे समझकर आशा है, सभी व्यक्ति सम्यग्दर्शन की विधि और उसके लिये सम्यग्दर्शन के विषय (दृष्टि के विषय) पर थोड़ा विचार करेंगे और उस का शास्त्रीय आधार देखेंगे।

* * *

९

सम्यग्दर्शन का स्वरूप

सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग के द्वार समान है। पूर्ण भेदज्ञान स्वरूप स्वात्मानुभूति रूप सम्यग्दर्शन हुए बिना मोक्षमार्ग में प्रवेश सम्भव ही नहीं है। ऐसे भेद ज्ञानयुक्त-स्वात्मानुभूतियुक्त सम्यग्दर्शन को ही निश्चय सम्यग्दर्शन कहा जाता है। वही मोक्षमार्ग के प्रवेश के लिये वास्तविक अनुमति पत्र है और यह अनुमति पत्र मिलने के बाद वह जीव नियम से अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल में सिद्ध हो ही जाता है, इस कारण से इस जीवन में सबसे पहले यदि कुछ प्राप्त करने योग्य है तो वह सम्यग्दर्शन ही है।

सर्वप्रथम हम सम्यग्दर्शन का स्वरूप समझेंगे। सम्यग्दर्शन अर्थात् देव-शास्त्र-गुरु का स्वरूप जैसा है वैसा समझना, अन्यथा नहीं और जब तक कोई भी आत्मा अपना यथार्थ स्वरूप नहीं समझती अर्थात् स्व की अनुभूति नहीं करती, तब तक देव-शास्त्र-गुरु का यथार्थ स्वरूप भी नहीं जानती परन्तु वह देव-शास्त्र-गुरु के मात्र बाह्य स्वरूप की ही श्रद्धा करती है। वह उसे ही सम्यग्दर्शन समझती है परन्तु देव-शास्त्र-गुरु के बाह्य स्वरूप की ही श्रद्धा यथार्थ श्रद्धा नहीं है और इसलिये वह निश्चय सम्यग्दर्शन का लक्षण नहीं, क्योंकि जो एक को (आत्मा को) जानता है वह सब को (जीव-अजीव इत्यादि नौ तत्त्व और देव-शास्त्र-गुरु के यथार्थ स्वरूप को) जानता है, अन्यथा नहीं। क्योंकि अन्यथा है वह व्यवहार (उपचार) कथन है और इसलिये वह सम्यग्दर्शन भव के अन्त के लिये कार्यकारी नहीं है। एक आत्मा को जानने से ही वह जीव सच्चे देव तत्त्व का आंशिक अनुभव करता है और इसीलिये वह सच्चे देव को अन्त:करण से पहचानता है और वैसे सच्चे देव को जानते ही अर्थात् (स्वात्मानुभूति सहित की) श्रद्धा होते ही वह जीव वैसे देव बनने के मार्ग में गमनशील सच्चे गुरु को भी अन्त:करण से पहचानता है और साथ ही साथ वह जीव वैसा देव बनने के मार्ग बतानेवाले सच्चे शास्त्र को भी पहचानता है।

इसलिये प्रथम तो शरीर को आत्मा न समझना और आत्मा को शरीर न समझना अर्थात् शरीर में आत्मबुद्धि होना, वह मिथ्यात्व है। शरीर तो पुद्गल (जड़) द्रव्य का बना हुआ है और आत्मा, वह अलग ही (चेतन) द्रव्य होने से पुद्गल को आत्मा समझना अथवा आत्मा को पुद्गल समझना, वह विपरीत समझ है। वास्तव में पुद्गल से भेदज्ञान और स्व के अनुभव रूप ही वास्तविक सम्यग्दर्शन होता है और वह कर्म से देखने में आये तो कर्मों की पाँच/सात प्रकृति का उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय को सम्यग्दर्शन कहा जाता है, परन्तु छद्मस्थ को कर्मों का

ज्ञान तो होता नहीं, इसलिये अपने को तो प्रथम कसौटी से अर्थात् पुद्गल से भेदज्ञान और स्वानुभव रूप (आत्मानुभूति रूप) ही सम्यग्दर्शन समझना उचित है।

प्रश्न :– सम्यग्दर्शन के लिये क्या करना ज़रूरी है?

उत्तर :– भगवान ने कहा है कि सभी जीव स्वभाव से सिद्ध समान ही हैं तो यह बात समझना आवश्यक है। नियमसार श्री पद्मप्रभमलधारिदेव कृत टीका में कहा है कि–

गाथा ४७ : अर्थ :– 'जैसे सिद्ध आत्मा हैं, वैसे ही भवलीन (संसारी) जीव हैं। संसारी जीव भी सिद्धों की भाँति जन्म–मरण से रहित और आठ गुणों से अलंकृत हो सकते हैं।'

गाथा ४८ : अर्थ :– 'जैसे लोकाग्र में सिद्ध अशरीरी, अविनाशी, अतीन्द्रिय, निर्मल, और विशुद्धात्मा (विशुद्ध स्वरूपी) हैं, वैसे ही संसार में (सभी) जीव को जानना।' यह बात शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से है जो कि सम्यग्दर्शन का स्वरूप समझने के लिये उपयोगी है।

गाथा १५ : अर्थ :– 'मनुष्य, नारक, तिर्यंच और देव रूप पर्यायें, वे विभावपर्यायें कही गयी हैं; व कर्मोपाधि रहित पर्यायें स्वभावपर्यायें कही जाती हैं।'

गाथा ४९ : अर्थ :– 'ये (पूर्वोक्त) सभी भाव वास्तव में व्यवहार नय के आश्रय से (संसारी जीवों में विद्यमान) कहे जाते हैं; शुद्ध नय से संसार में स्थित सभी जीव सिद्ध स्वभावी हैं।'

श्लोक ७३ : श्लोकार्थ :– 'शुद्ध निश्चय नय से मुक्ति में तथा संसार में अन्तर नहीं है – ऐसा ही वास्तव में तत्त्व विचारने पर (परमार्थ वस्तुस्वरूप का विचार अथवा निरूपण करने पर) शुद्ध तत्त्व के ज्ञानीपुरुष कहते हैं।'

गाथा ५०: अर्थ :– 'पूर्वोक्त सभी भाव परस्वभाव हैं, परद्रव्य हैं, इसलिये हेय हैं। अन्त:तत्त्व ऐसा स्वद्रव्य–आत्मा ही उपादेय है।'

गाथा १०६ : अर्थ :– 'इस प्रकार जो सदा जीव और कर्म के भेद का अभ्यास करता है, वह संयत नियम से प्रत्याख्यान धारण करने में समर्थ है।'

गाथा १० : अर्थ :– 'जीव उपयोगमय है। उपयोग ज्ञान और दर्शन है। ज्ञानोपयोग दो प्रकार का है; स्वभावज्ञान और विभावज्ञान।'

योगसार : दोहा २१ : अर्थ :– 'जो जिन है, वह आत्मा है – यह सिद्धान्त का सार है। ऐसा तुम समझो। ऐसा समझकर हे योगियो! अब मायाचार को छोड़ो।'

योगसार : दोहा २२ : अर्थ :– 'जो परमात्मा है, वही मैं हूँ और जो मैं हूँ, वही परमात्मा हैं। ऐसा जानकर हे योगी! अन्य विकल्प न करो।'

प्रश्न :– ऊपर बतायी गयी गाथाओं के सन्दर्भ में विचारेंगे तो लगेगा कि दिखते रूप से तो संसारी जीव शरीरस्थ हैं और सिद्ध के जीव मुक्त हैं, तो संसारी को सिद्ध जैसा किस अपेक्षा से कहा गया?

उत्तर :– वह शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से कहा गया। जैसे कि संसारी जीव शरीरस्थ होने पर भी, उन की आत्मा एक जीवत्व रूप पारिणामिकभाव रूप होती है। वह जीवत्व रूप भाव छद्मस्थ को (अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय से) अशुद्ध होता है और वह अशुद्ध जीवत्वभाव अर्थात् अशुद्ध रूप से परिणमित आत्मा में से अशुद्धि को (विभावभाव को) गौण करते ही, जो जीवत्व रूप भाव शेष रहता है, उसे ही 'परमपारिणामिकभाव', 'ध्रुवभाव', 'शुद्धात्मा', 'कारण परमात्मा', 'कारण शुद्ध पर्याय', 'सिद्धसदृशभाव', 'स्वभावभाव' – इत्यादि अनेक नामों से पहचाना जाता है और उस भाव की अपेक्षा से ही सभी जीव स्वभाव से सिद्ध समान ही हैं – ऐसा कहा जाता है; अब हम इसी बात को दृष्टान्त से देखेंगे–

पहला दृष्टान्त :– जैसे गन्दले पानी में शुद्ध पानी छिपा हुआ है, वैसे निश्चय से जो कोई उस में फिटकरी घुमाता है तो कुछ समय के बाद पानी में रही हुई गन्दगी रूपी मिट्टी तल में बैठ जाने से, पूर्व का गन्दा पानी स्वच्छ रूप ज्ञात होता है। इसी प्रकार जो अशुद्ध रूप (राग–द्वेष रूप) परिणमित आत्मा है, उस में, विभाव रूप अशुद्धभाव को प्रज्ञाछैनी से = बुद्धिपूर्वक गौण करते ही जो शुद्धात्मा ध्यान में आता है अर्थात् ज्ञान में विकल्प रूप आता है, उसे भावभासन कहते हैं और उस शुद्धात्मा की अनुभूति होते ही जीव को सम्यग्दर्शन होता है। वह जीव जो पहले शरीर में एकत्व करता था अब शुद्ध आत्म रूप में (स्वभाव में = स्वरूप में) एकत्व करते ही 'मैंपन' करते ही सम्यग्दर्शन का अधिकारी होता है; यह विधि है सम्यग्दर्शन की। अर्थात् **जो जीव राग–द्वेष रूप परिणमित होने पर भी केवल शुद्धात्मा में ही (द्रव्यात्मा में ही= स्वभाव में ही) 'मैंपन' (एकत्व) करता है और उसी का अनुभव करता है, वही जीव सम्यग्दृष्टि है। बस यही सम्यग्दर्शन की विधि है।**

दूसरा दृष्टान्त :– जैसे दर्पण में अलग – अलग प्रकार के अनेक प्रतिबिम्ब होते हैं परन्तु उन प्रतिबिम्बों को गौण करते ही स्वच्छ दर्पण दृष्टि में आता है; इसी प्रकार आत्मा में अर्थात् ज्ञान में जो ज्ञेय होते हैं, उन ज्ञेयों को गौण करते ही निर्विकल्प रूप ज्ञान का अर्थात् 'शुद्धात्मा' का अनुभव होता है; यही सम्यग्दर्शन की विधि है। इसी विधि से अशुद्ध आत्मा में भी सिद्ध समान शुद्धात्मा का निर्णय करना और उसी के साथ एकत्व करने से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

कोई ऐसा माने कि द्रव्य में शुद्ध भाग और अशुद्ध भाग ऐसे दो भाग होते है। जो शुद्ध

भाग है वह द्रव्य है तथा अशुद्ध भाग है वह पर्याय है। वैसा नहीं है। यह बात हमने प्रथम ही शास्त्र की गाथाओं से नि:सन्देह सिद्ध की ही है कि द्रव्य को अपेक्षा से समझने से द्रव्य में दो भाग नहीं परन्तु दो भाव होते हैं। वे दो भाव इस प्रकार हैं कि जो विशेष है, वह पर्याय कहलाता है और वह विभावभाव सहित होने से अशुद्ध कहलाता है। जो उस का ही सामान्यभाव है यानी परमपारिणामिकभाव रूप द्रव्य है, जो त्रिकाल शुद्ध ही होता है; इस अपेक्षा से द्रव्य शुद्ध और पर्याय अशुद्ध ऐसा कहा जाता है परन्तु ऐसे दो भाग नहीं होते।

छद्मस्थ जीवों की आत्मा के प्रत्येक प्रदेश में अनन्तानन्त कर्म वर्गणायें हैं और वे कर्म वर्गणायें आत्मा के सभी प्रदेशों के साथ क्षीर-नीरवत् (दूध में पानी की भाँति) सम्बन्ध से बन्धी हुई होने की अपेक्षा से आत्मा का कोई भी प्रदेश शुद्ध नहीं है। अर्थात् यदि कोई ऐसा कहे कि आत्मा के मध्य के आठ रुचक प्रदेश तो निरावरण ही होते हैं, तो उन्हें हम बताते हैं कि यदि आत्मा का मात्र एक भी प्रदेश निरावरण हो तो उस प्रदेश में इतनी शक्ति है कि वह सारे लोकालोक को जान ले, क्योंकि यदि एक भी प्रदेश निरावरण हो तो उस प्रदेश में केवलज्ञान और केवलदर्शन मानने का प्रसंग आयेगा और इस से वह आत्मा सारा लोकालोक सहज रीति से जाननेवाली हो जायेगी परन्तु प्रगट में देखने से यह ज्ञात होता है कि ऐसा तो किसी भी जीव में घटित होता नहीं दिखता। इस कारण जीव के मध्य के आठ रुचक प्रदेश निरावरण होते हैं, इस बात का निराकरण होता है। यह बात सत्य नहीं है, जिस का प्रमाण है धवल पुस्तक १२ में पृष्ठ क्रमांक ३६५ से ३६८ के अन्तर्गत गाथा २ से १० को जिज्ञासु जीव कृपया उक्त गाथा को देख लें।

कई लोग नयविवक्षा न समझने के कारण ऐसी भी प्ररूपणा करते हैं कि इन आठ निरावरण प्रदेशों की अपेक्षा से 'सभी जीव सिद्ध समान हैं' ऐसा शास्त्र का कथन है। परन्तु वास्तव में 'सभी जीव सिद्ध समान हैं' यह कथन द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से है, यह बात नयों की यथार्थ समझ नहीं होने से फैली है। और ऐसे लोग उन निरावरण प्रदेशों के (जो कि संसारी जीव को नहीं होते) अनुभव को (जो कि छद्मस्थ जीव को नहीं होता) ही शुद्धात्मा का अनुभव मानते हैं। उन को द्रव्य की अभेदता का और नयों का भी यथार्थ ज्ञान नहीं होता। यह अत्यन्त करुणाजनक बात है।

आगे हम सम्यग्दर्शन की विधि और उस के विषय के बारे में बताने का प्रयास करते हैं।

* * *

१०

सम्यग्दर्शन का विषय अर्थात् दृष्टि का विषय

प्रश्न :– अगर छद्मस्थ आत्मा के प्रत्येक प्रदेश में अनन्त कर्म वर्गणाएँ होने से वह अशुद्ध आत्मा रूप से ही परिणमित होती है, तो उस में यह शुद्धात्मा कहाँ रहती है?

उत्तर :– जीव के लक्षण से जीव को ग्रहण करने से और पुद्‌गल के लक्षण से पुद्‌गल को ग्रहण करने से तथा फिर उन में प्रज्ञाछैनी से (तीव्र बुद्धि से) भेदज्ञान करने से शुद्धात्मा प्राप्त होती है।

सर्वप्रथम तो प्रगट में आत्मा के लक्षण से अर्थात् ज्ञान रूप देखने – जानने के लक्षण से आत्मा को ग्रहण करते ही, पुद्‌गल मात्र के साथ भेदज्ञान हो जाता है और फिर उस से आगे बढ़ने पर जीव के जो चार भाव उदयभाव, उपशमभाव, क्षयोपशमभाव और क्षायिकभाव ये चार भाव जो कर्म की अपेक्षा से कहे गये हैं और कर्म पुद्‌गल रूप ही होते हैं; इसलिये इन चार भावों को भी पुद्‌गल के खाते में डालकर, प्रज्ञा रूप बुद्धि से अर्थात् इन चार भावों को जीव में से गौण करते ही, जो जीवभाव शेष रहता है, उसे ही परम पारिणामिकभाव, शुद्धात्मा, कारण शुद्ध पर्याय, स्वभावभाव, सहज ज्ञान रूपी साम्राज्य, शुद्ध चैतन्यभाव, स्वभाव दर्शनोपयोग, कारण स्वभाव दर्शनोपयोग, कारण स्वभाव ज्ञानोपयोग, कारण समयसार, कारण परमात्मा, नित्य शुद्ध निरंजन ज्ञान स्वरूप, दर्शन–ज्ञान–चारित्र रूप परिणमता ऐसा चैतन्य सामान्य रूप, चैतन्य–अनुविधायी परिणाम रूप, सहज गुणमणि की खान, सम्यग्दर्शन का विषय (दृष्टि का विषय), इत्यादि अनेक नामों से पहचाना जाता है और उस के अनुभव से ही निश्चय सम्यग्दर्शन कहलाता है। उस भाव की अपेक्षा से ही सभी जीव स्वभाव से सिद्ध समान ही हैं – ऐसा कहा जाता है। उस के अनुभव को ही निर्विकल्प अनुभूति कहा जाता है क्योंकि वह सामान्यभाव स्वरूप होने से उस में किसी भी विकल्प को स्थान ही नहीं है। इसलिये उस की अनुभूति होते ही अंशत: सिद्धत्व का भी अनुभव होता है।

भेदज्ञान (सम्यग्दर्शन) की विधि ऐसी है कि जिस में जीव के जो चार भावों को गौण करने पर जो शुद्ध जीवत्व प्राप्त हुआ, उस अपेक्षा से उसे कोई 'पर्यायरहित द्रव्य दृष्टि का विषय है' ऐसा भी कहते हैं। अर्थात् द्रव्य में से कुछ भी निकालना नहीं है, मात्र विभावभावों को ही गौण करना है और उस अपेक्षा से कोई कहते हैं कि 'वर्तमान पर्याय के अतिरिक्त का पूरा द्रव्य

वह दृष्टि का विषय है' अर्थात् कथन कोई भी हो परन्तु व्यवस्था तो यहाँ बतायी है वैसी अर्थात् गौण करने की और मुख्य करने की ही है जो पूर्व में हम विस्तार से समझ चुके हैं।

यदि कोई कहे कि – आत्मा बाहर से अशुद्ध और अन्दर से शुद्ध तो ऐसा कथन अपेक्षा से समझना। एकान्ततः अर्थात् वास्तविक रूप नहीं क्योंकि जैसी आत्मा बाहर है, वैसी ही अन्दर है, अर्थात् आत्मा के अन्दर के और बाहर के प्रत्येक प्रदेश में (क्षेत्र में) अनन्तानन्त कर्म वर्गणायें क्षीर-नीरवत् लगी होने से, जैसी अशुद्धि बाहर के क्षेत्र में है, वैसी ही अशुद्धि अन्दर के क्षेत्र में भी है, परन्तु अपेक्षा से बाहर अर्थात् विशेषभाव रूप विभावभाव और अन्दर अर्थात् सामान्यभाव रूप परमपारिणामिकभाव जो कि तीनों काल शुद्ध ही हैं और इसलिये ही व्यक्त रूप आत्मा अशुद्ध और अव्यक्त रूप आत्मा शुद्ध है। इसी अपेक्षा से अन्दर से शुद्ध और बाहर से अशुद्ध ऐसा कहा जा सकता है, अन्यथा नहीं। कोई आत्मा में अन्दर एकान्त शुद्ध ध्रुवभाव खोजता हो तो, वैसा एकान्त शुद्ध ध्रुवभाव आत्मा में नहीं है। अर्थात् कोई भी कथन उस की अपेक्षा सहित समझना अनिवार्य है, नहीं तो ऐसा मानने वाले के नियम से भ्रमित करने वाले परिणाम ही निकलेंगे।

यदि कोई कहता है कि आप तो दृष्टि के विषय में प्रमाण का द्रव्य लेते हो तो दोष आयेगा। उन्हें हम बताते हैं कि पूर्व में विस्तार से समझाये अनुसार द्रव्य के जितने प्रदेश (क्षेत्र) प्रमाण के हैं, उतने ही प्रदेश (क्षेत्र) परमपारिणामिकभाव रूप दृष्टि के विषय के हैं अर्थात् उतने ही प्रदेश शुद्धात्मा के हैं। दूसरे, उस प्रमाण के द्रव्य को ही हम शुद्ध द्रव्यार्थिक नय के चक्षु से देखते हैं और इस कारण से हम उसे ही परमपारिणामिकभाव कहते हैं कि जिसे आप प्रमाण चक्षु से देखने पर, प्रमाण का विषय कहते हैं और उस प्रमाण के विषय में आप शुद्ध और अशुद्ध भाव नहीं परन्तु भाग मानते हैं, इसलिये आप की दृष्टि में दोष है। उस में हमारा कोई दोष नहीं है। हम तो उसे ही अर्थात् प्रमाण के द्रव्य को ही शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से परम शुद्ध परमपारिणामिकभाव अनुभव करते हैं और परम सुख का अनुभव करते हैं। इसलिये आप भी दृष्टि बदलकर उसे ही शुद्ध देखें और आप भी उस का अर्थात् सत्-चित्-आनन्द स्वरूप का आनन्द लें, ऐसा हमारा अनुरोध है; यही सम्यग्दर्शन का स्वरूप है और यही सम्यग्दर्शन की विधि है। स्थूल से ही सूक्ष्म में, प्रगट से ही अप्रगट में और व्यक्त से ही अव्यक्त में जाया जाता है। यही तो नियम है।

इस कारण हमारा आग्रह है कि 'जैसी है वैसी' वस्तुव्यवस्था समझकर प्रमाण के विषय का 'जैसा है वैसा' ज्ञान करके फिर उस में से ही शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय ग्रहण करने योग्य है। परन्तु जो यहाँ बतायी हुई युक्ति अनुसार दृष्टि का विषय न मानकर, अन्यथा ग्रहण करते हैं,

जो शुद्ध नयाभास रूप एकान्त शुद्धात्मा को खोजते और मानते हैं, वे मात्र भ्रम रूप ही परिणमते हैं। वैसा एकान्त शुद्धात्मा कार्यकारी नहीं, क्योंकि वैसा एकान्त शुद्धात्मा प्राप्त ही नहीं होता। इस कारण वह जीव भ्रम में ही रहकर अनन्त संसार बढ़ाकर अनन्त दु:खों को प्राप्त करता है। जिनशासन के नय के अज्ञान के कारण और समझे बिना मात्र शब्द को ही ग्रहण करके और उस के ही आग्रह के कारण ऐसी दशा होती है जो अत्यन्त करुणाजनक बात है।

यहाँ समझाया गया शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय ही उपादेय रूप शुद्धात्मा है और वही सम्यग्दर्शन का विषय (दृष्टि का विषय) है। इसीलिये भेदज्ञान कराने और शुद्धात्मा का अनुभव कराने के लिये ही नियमसार और समयसार जैसे आध्यात्मिक शास्त्रों में उस की ही महिमा गायी है और उसी को महिमामण्डित किया है। उन शास्त्रों में प्रमाण के विषयभूत आत्मा में से जितने भाव पुद्‌गलाश्रित हैं अर्थात् जितने भाव कर्माश्रित (कर्म की अपेक्षा रखनेवाले) हैं, उन भावों को परभाव रूप से वर्णन किया है अर्थात् उन्हें स्वाँग रूप भावों के रूप में वर्णन किया है। यह भाव हेय हैं अर्थात् 'मैंपन' करने योग्य नहीं, इसी अपेक्षा सहित अब हम पंचाध्यायी के श्लोक देखेंगे।

* * *

११

पंचाध्यायी पूर्वार्द्ध के सम्यग्दर्शन का विषय दर्शाते श्लोक

श्लोक ५३२ : अर्थ :- 'इस असद्भूतव्यवहार नय को जानने का फल यह है कि यहाँ पराश्रित रूप से होनेवाले भावक्रोधादि सम्पूर्ण उपाधि मात्र छोड़कर बाक़ी के उस के (जीव के) शुद्ध गुण हैं ऐसा मानकर यहाँ कोई पुरुष सम्यग्दृष्टि हो सकता है।' इस गाथा में सम्यग्दर्शन का विषय (दृष्टि का विषय) बताया है और उस के अनुभव से जीव सम्यग्दृष्टि हो सकता है ऐसा बताया है।

भावार्थ :- 'इस असद्भूतव्यवहार नय का प्रयोजन यह है कि - जो जीव के हैं, वे असद्भूतव्यवहार नय से हैं परन्तु निश्चय से नहीं (निश्चय से जो भाव जिस के लक्ष्य से हों, वे भाव उस के समझना, इसीलिये जो द्रव्य रागादिभाव पुद्गल रूप हैं, वे कर्म के हैं और जीव के जो रागादिभाव हैं, वे जीव के होने पर भी, वे कर्म के उदय के कारण होने से उन्हें कर्म के खाते में डालकर, निश्चय से उन्हें परभाव कहा जाता है, क्योंकि वे भाव सम्यग्दर्शन के लिये 'मैंपन'/एकत्व करने योग्य भाव नहीं हैं।) इस कारण कोई भव्यात्मा उपाधि मात्र अंश को छोड़कर (इस उपाधि रूप अंश छोड़ने की विधि प्रज्ञा रूप बुद्धि से उसे गौण करने की है, दूसरी कोई नहीं) निश्चय तत्त्व को ग्रहण करने का इच्छुक बनकर सम्यग्दृष्टि हो सकता है, क्योंकि सभी नयों में निश्चय नय ही उपादेय है परन्तु बाक़ी के कोई नय नहीं। बाक़ी के नय तो मात्र परिस्थितिवश प्रतिपाद्य विषय का निरूपण मात्र करते हैं। इसलिये एक निश्चय नय ही कल्याणकारी है...'

श्लोक ५४५ : अर्थ :- 'ज्ञेय-ज्ञायकभाव में सम्भव होनेवाले संकर दोष के भ्रम का क्षय करना अथवा अविनाभाव से सामान्य का साध्य और विशेष का साधक होना, वही इस उपचरित असद्भूतव्यवहार नय का प्रयोजन है।'

अर्थात् पर को जानने से संकर दोष होता है ऐसे भ्रम का नाश करना वह प्रयोजन है और साथ ही साथ ऐसा भी बताया है कि पर को जानना वह स्व को जानने की सीढ़ी है क्योंकि स्थूल से ही सूक्ष्म में जाया जाता है। प्रगट से ही अप्रगट में जाया जाता है, व्यक्त से ही अव्यक्त में जाया जाता है, यही नियम है। अर्थात् पर को जानना वह सम्यग्दर्शन होने में मदद रूप हो सकता है, नहीं कि अड़चन रूप और इसलिये किसी ने 'पर को जानने से आत्मा मिथ्यादृष्टि हो जायेगा'- ऐसा मानने का कोई कारण नहीं क्योंकि यही ज्ञान का स्वभाव है। जैसे कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा

२४७ में बताया है कि 'यदि समस्त वस्तु एक ज्ञान ही है और वही नाना रूप से स्थित रहती है तो ऐसा मानने पर ज्ञेय कुछ भी नहीं सिद्ध हुआ और ज्ञेय के बिना ज्ञान ही किस प्रकार सिद्ध होगा?' भावार्थ :-'...क्योंकि ज्ञेय को जानना ही ज्ञान कहलाता है परन्तु ज्ञेय के बिना ज्ञान नहीं।'

भावार्थ :- 'उपचरित सद्भूतव्यवहार नय की अपेक्षा से अर्थ-विकल्प को प्रमाण (अर्थात् स्व-पर के जानने को प्रमाण) कहने का प्रयोजन यह है कि ऐसा कहने से ज्ञान और ज्ञेय में जो संकरपने का भ्रम होता था (अर्थात् जिन्हें लगता है कि आत्मा पर को जानता है ऐसा मानने पर सम्यग्दर्शन नहीं होता, वैसा संकरपने का भ्रम होता है) उस भ्रम का यह निवारण हो जाता है। क्योंकि ज्ञान को अर्थ-विकल्पात्मक (पर को जाननेवाला) कहना वह उपचरित सद्भूतव्यवहार नय की अपेक्षा से है। ज्ञान, ज्ञायक है तथा स्व-पर, ज्ञेय होते हैं। इसलिये ज्ञान और ज्ञेय में वास्तव में संकरता नहीं होती (पूर्व में जैसे दर्पण का दृष्टान्त समझाया है, तदनुसार) दूसरा प्रयोजन इस प्रकार है कि अर्थ-विकल्पात्मक विशेषज्ञान (पर को जानना) साधक (स्व में जाने की सीढ़ी) है तथा सामान्यज्ञान साध्य है (अर्थात् पर को जानना वह ज्ञायक में जाने की सीढ़ी है यानी कि सम्यग्दर्शन करने के लिये यह विधि दर्पण के दृष्टान्त की तरह ही है) अर्थात् सामान्यज्ञान, अनुपचरित सद्भूतव्यवहार नय का विषय साध्य (अर्थात् ज्ञायक अर्थात् परमपारिणामिकभाव, दृष्टि का विषय साध्य) तथा ज्ञान को अर्थ विकल्पात्मक (अर्थात् ज्ञान पर को जानता है ऐसा) कहना वह उपचरित सद्भूतव्यवहार नय का विषय साधक (सीढ़ी) है।'

यहाँ विशेष यह है कि भेदज्ञान के लिये, सम्यग्दर्शन के लिये कहा जा सकता है कि - जैसे किसी महल के झरोखे में से निहारता पुरुष, स्वयं ही ज्ञेयों को निहारता है, नहीं कि झरोखा; उसी प्रकार इस झरोखा रूपी आँख से जो ज्ञेयों को निहारता है, वह ज्ञायक स्वयं ही, नहीं कि आँखें। 'वह ही मैं हूँ' 'सोऽहं' वह 'ज्ञानमात्र स्वरूप ही मैं हूँ' अर्थात् मैं मात्र देखने-जाननेवाला ज्ञायक-ज्ञानमात्र-शुद्धात्मा हूँ, ऐसे लक्ष्य में लेने से ज्ञायक रूप सामान्यज्ञान साध्य होता है और पर को जानना वह साधन रूप (सीढ़ी रूप) होता है कि जो अर्थ विकल्पात्मक ज्ञान है। यही सम्यग्दर्शन की विधि है। जीव को पर को जाननेवाला कहकर, उस में से प्रयोजन सिद्ध करने के बाद अब जीव को क्रोधादिवाला कहने से क्या प्रयोजन सिद्ध होता है, वह बताते हैं अर्थात् राग जीव में होता है, उस से क्या प्रयोजन है?

श्लोक ५६५ : अर्थ :- '(वर्णादिभाव जीव के हैं) इस प्रकार का कहना योग्य नहीं है

क्योंकि जिस प्रकार क्रोधादिभाव (रागादिभाव) जीव में सम्भव हैं उसी प्रकार पुद्‍गलात्मक शरीर के वर्णादि जीव के लिये सम्भव हो ही नहीं सकते।'

हम सम्यग्दर्शन के लिये भेदज्ञान की यही विधि समझे हैं कि – प्रथम पुद्‍गल से भेदज्ञान और बाद में जीव के रागादि रूप भाव जो कर्म = पुद्‍गल आश्रित हैं, उन से भेदज्ञान। इस भेदज्ञान के पश्चात् ही शुद्धात्मा प्राप्त होती है। इसीलिये यहाँ बताया है कि शरीर के वर्णादिभाव तो आत्मा के हैं ही नहीं परन्तु जो रागादिभाव हैं, वे (भाव रागादिभाव) तो जीव में ही होते हैं अर्थात् जीव ही उन रूप परिणमता है। जीव कर्म के निमित्त से रागादिभाव रूप में परिणमता है इसलिये यदि रागादिभावों को जीव का भाव कहें तो कहा जा सकता है। लेकिन उस से क्या प्रयोजन सिद्ध होता है?

भावार्थ :– '(क्रोधादिभावों को जीव का कहना, वह नयाभास ही है ऐसी) ऊपर कही गयी शंका योग्य नहीं है, क्योंकि वे क्रोधादिभाव तो जीव में होनेवाले औदयिकभाव रूप हैं, इसलिये वे जीव के तद्‍गुण (जीव का ही परिणमन) है; और वे जीव का नैमित्तिकभाव होने से उन्हें सर्वथा पुद्‍गल का नहीं कहा जा सकता, परन्तु जीव को वर्णादिवाला कहने में आये, वहाँ तो वर्णादि सर्वथा पुद्‍गल के ही होने से उन्हें जीव का किस प्रकार कहा जा सकता है?

तथा क्रोधादिभावों को जीव का कहने में तो यह प्रयोजन है कि – परलक्ष्य से होनेवाले क्रोधादिभाव क्षणिक होने से और आत्मा का स्वभाव नहीं होने से वे उपादेय नहीं हैं इसलिये उन का अभाव करना चाहिये, ऐसा सम्यग्ज्ञान होता है (परन्तु जो लोग एकान्त से शुद्धता के भ्रम में होते हैं, वे क्रोधादि करने पर भी, उन्हें अपने नहीं मानकर स्वच्छन्दी होते हैं, वह सम्यग्ज्ञान नहीं परन्तु मिथ्यात्व है) इसलिये क्रोध को जीव का कहने में तो उपर्युक्त सम्यक् नय लागू होता है (अर्थात् जो उन्हें एकान्त से पर का मानते हैं, वे मिथ्यात्वी हैं) परन्तु जीव को वर्णादिवाला कहने में तो किसी भी प्रयोजन की सिद्धि नहीं हो सकती, इसलिये जीव को क्रोधादिवाला कहनेवाले असद्‍भूतव्यवहार नय में तो नयाभासपने का दोष नहीं आता परन्तु जीव को वर्णादिवाला कहने में तो वह दोष आता है, इसलिये वह नयाभास है।'

हमने पूर्व में सम्यग्दर्शन की विधि के सन्दर्भ में चर्चा करते समय जो निर्विकल्प अनुभूति रूप सम्यग्दर्शन बतलाया है, वही भाव विशेष स्पष्ट करते हुए आगे बताते हैं कि – तब वहाँ कोई भी नय का अवलम्बन नहीं है।

श्लोक ६४८ : अर्थ :- 'उस स्वानुभूति की महिमा इस प्रकार है कि - व्यवहार नय में भेद दर्शानेवाले विकल्प उठते हैं और वह निश्चय नय सभी प्रकार के विकल्पों का निषेध करनेवाला होने से (नेति-नेति रूप होने से) एक प्रकार से उस में निषेधात्मक विकल्प होता है, तथा वास्तविक रूप से देखने में आवे तो स्वसमयस्थिति में (स्वानुभूति में) न (व्यवहार नय का विषयभूत) विकल्प है और न (निश्चय नय का विषयभूत) निषेध है, परन्तु केवल चेतना का स्वात्मानुभव है।'

कुछ लोग प्रश्न करते हैं कि निषेध रहित की दृष्टि का विषय किस प्रकार होगा? तो उन्हें हम बताते हैं कि दृष्टि के विषय में न भेद रूप विकल्प है (अर्थात् अभेद द्रव्य का ग्रहण है) और न तो निषेध रूप विकल्प है अर्थात् जिन का (अशुद्ध भावों का = विभावभावों का) निषेध करना होता है, उन पर दृष्टि ही नहीं, इसलिये ही वे अत्यन्त गौण हो जाते हैं और दृष्टि, मात्र दृष्टि के विषय रूप शुद्धात्मा पर ही होती है जो कि निर्विकल्प ही होता है। वही सम्यग्दर्शन की विधि है। इसलिये कहा जा सकता है कि निषेध न करके, उन के ऊपर से दृष्टि ही हटा लेनी है। यह है विधि-सम्यग्दर्शन की। इसलिये जिसे निषेध का आग्रह हो, उसे वह छोड़ देना चाहिये क्योंकि निषेध भी निश्चय नय का पक्ष है, जब कि सम्यग्दर्शन का विषय पक्षातीत है, नयातीत है इसलिये प्रत्येक प्रकार का पक्ष और आग्रह छोड़े बिना सम्यग्दर्शन होना ही शक्य नहीं है।

दूसरे, वस्तु जैसी है वैसी ही समझनी पड़ेगी। अर्थात् आत्मा में रागादि होते हैं, तो वे किस अपेक्षा से और नियमसार तथा समयसार जैसे आध्यात्मिक शास्त्रों में जो ऐसा लिखा है कि वे रागादिक जीव के नहीं हैं तो वह भी किसी अपेक्षा से ही बताया है, एकान्त से नहीं। वह मात्र सम्यग्दर्शन के विषय (दृष्टि के विषय) पर दृष्टि कराने को अर्थात् सम्यग्दर्शन कराने को ही बताया है। कोई उसे एकान्त से लेकर स्वच्छन्दता रूप परिणमे तो वह उस की महान भूल है। उस का फल अनन्त संसार है। यही बात आगे बताते हैं।

श्लोक ६६३ : अर्थ :- 'यहाँ केवल सामान्य रूप वस्तु (परमपारिणामिकभाव) निश्चय से निश्चय नय का कारण है तथा कर्म रूप कलंक से रहित ज्ञान स्वरूप आत्मा की (परमपारिणामिकभाव रूप शुद्धात्मा की) सिद्धि फल है।'

इसलिये समझना यह है कि ऐसे आध्यात्मिक शास्त्रों का किसी भी वस्तु को एकान्त से प्ररूपित करने का आशय ज़रा भी नहीं होता। इसलिये उसे एकान्त से वैसा नहीं लेना, परन्तु उस का आशय मात्र सम्यग्दर्शन का जो विषय है, उस आत्मभाव में (परमपारिणामिकभाव रूप

शुद्धात्मा में-कारण शुद्ध पर्याय में-कारण परमात्मा में) 'मैंपन' (एकत्व) कराना और अन्य सभी भावों में से 'मैंपन' का जो भाव है कि जो बन्धन के कारण हैं, वे दूर करना। जीव को उन बन्ध के कारणों में अथवा बन्ध के फल में 'मैंपन' करने से रोकना और परमपारिणामिकभाव रूप जीव में 'मैंपन' कराकर उसे सम्यग्दृष्टि बनाना, मोक्षमार्ग में प्रवेश दिलाना। मात्र इसी अपेक्षा से इन शास्त्रों में रागादिभाव जीव के नहीं हैं ऐसा बताया है। ऐसा एकान्त से मत समझना। यदि कोई उसे एकान्त से ऐसा समझे और प्ररूपित करे तो, उसे जैन सिद्धान्त के बाहर ही समझना चाहिये। अर्थात् मिथ्यात्वी ही समझना चाहिये। सम्यग्दर्शन के पश्चात् सम्यग्ज्ञान कैसा होता है, वह बताते हैं -

श्लोक ६७३ : अर्थ :- 'एक साथ सामान्य-विशेष को विषय करनेवाला ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है क्योंकि ज्ञान दर्पण के समान है तथा ज्ञेय, प्रतिबिम्ब समान है।'

भावार्थ :- 'जैसे दर्पण और दर्पण में रहे हुए प्रतिबिम्ब का युगपत प्रतिभास होता है, इसी प्रकार सामान्य-विशेष को युगपत् विषय करनेवाला ज्ञान, सम्यग्ज्ञान कहलाता है, अन्य नहीं; (कोई कहे कि आत्मा पर को नहीं जानती ऐसी व्यवस्था होने से आत्मा पर को जानती है ऐसा कहना मिथ्यात्व समान है, तो यहाँ बताते हैं कि वह, ऐसा नहीं है) क्योंकि ज्ञान को दर्पण समान (अर्थात् यदि कोई कहे कि ज्ञान पर को जानता है, ऐसा नहीं लेना तो उन्हें यहाँ बताते हैं कि यदि ऐसा लिया जाये तो, ज्ञान की ही सिद्धि नहीं होगी) तथा उस में रहे हुए विषय को (अर्थात् ज्ञेय को) प्रतिबिम्ब समान मानने में आया है।...'

कोई कहे कि ज्ञान पर को नहीं जानता तो ऐसा ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता, यह बात कभी भी भूलने जैसी नहीं है। अन्यथा हम विभ्रम में रहकर अपना ही परम अहित करेंगे।

◆

१२

आत्मज्ञानरूपी स्वात्मानुभूति परोक्ष या प्रत्यक्ष?

किसी का प्रश्न होता हो कि जिस स्वात्मानुभूति का वर्णन किया गया है और जो निश्चय सम्यग्दर्शन है, वह प्रत्यक्ष है या परोक्ष है और वह किस प्रकार के क्षायोपशमिक ज्ञान से होता है? उस के उत्तर रूप पंचाध्यायी पूर्वार्द्ध का श्लोक–

श्लोक ७०६ : अर्थ :– 'स्वात्मानुभूति के समय में जितने प्रथम के वे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान, वे दो रहते हैं उतना, वे सब साक्षात् प्रत्यक्ष की भाँति प्रत्यक्ष हैं, परोक्ष नहीं।'

भावार्थ–'तथा इन मति और श्रुतज्ञानों में भी इतनी विशेषता है कि (पहले इन दोनों ज्ञान को परोक्ष रूप से प्रतिपादित किया है। अब इन की विशेषता बताते हैं अर्थात् अपवाद बताते हैं) जिस समय इन दोनों में से कोई एक ज्ञान द्वारा स्वात्मानुभूति होती है, उस समय ये दोनों ज्ञान भी अतीन्द्रिय स्वात्मा को प्रत्यक्ष करते हैं। इसलिये ये दोनों ज्ञान भी स्वात्मानुभूति के समय में प्रत्यक्ष रूप हैं, परोक्ष नहीं।'

अर्थात् सम्यग्दर्शन, वह अनन्तानुबन्धी कषाय चौकड़ी और दर्शन मोह के उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय से होता है, परन्तु उस के साथ ही नियम से सम्यग्ज्ञान रूप शुद्धोपयोग उत्पन्न होता होने से उस शुद्धोपयोग को ही स्वात्मानुभूति कहा जाता है कि जो ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम रूप होती है और वह शुद्धोपयोग अर्थात् स्वात्मानुभूति विभावरहित आत्मा की अर्थात् शुद्धात्मा की होने से उसे निर्विकल्प स्वात्मानुभूति कहा जाता है; स्वात्मानुभूति के काल में मनोयोग होने पर भी, तब मन भी अतीन्द्रिय रूप परिणमने से उसे निर्विकल्प स्वात्मानुभूति कहा जाता है।

* * *

१३

स्वात्मानुभूति आत्मा के किस प्रदेश में?

प्रश्न :– स्वात्मानुभूतिरूपी अनुभव अर्थात् शुद्धात्मा के साथ 'एकत्वभाव' यानी अतीन्द्रियज्ञान शरीर के किस भाग में होता है?

उत्तर :– उत्तर रूप से पंचाध्यायी पूर्वार्द्ध के छह श्लोकों में बताया है कि हृदयकमल में रहे हुए भावमन और द्रव्यमन में। वे श्लोक :–

श्लोक ७११–७१२ : अर्थ :– 'इस शुद्धात्मानुभूति के समय में स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इस प्रकार पाँचों इन्द्रियाँ उपयोगी नहीं मानी हैं परन्तु वहाँ केवल मन ही उपयोगी मानने में आया है तथा यहाँ निश्चय से अपने अर्थ की अपेक्षा से नो इन्द्रिय है जिस का दूसरा नाम ऐसा वह मन, द्रव्यमन तथा भावमन इस प्रकार दो प्रकार का है।'

श्लोक ७१३ : अर्थ :– 'हृदयकमल में घनांगुल के असंख्यातवें भाग मात्र है प्रमाण जिस का, ऐसा वह द्रव्यमन होता है, वह अचेतन होने पर भी ज्ञान के विषय को ग्रहण करते समय भावमन को सहायता करने में समर्थ होता है, अर्थात् द्रव्यमन, भावमन को सहायता करता है।'

किसी को लगे कि मुझे अनुभव हृदय के भाग में ही होता है, परन्तु ऐसा एकान्त से नहीं है क्योंकि द्रव्यमन हृदयकमल में भले हो, परन्तु भावमन रूप आत्मा का क्षयोपशम है। वह आत्मा के सभी प्रदेशों में होने से अनुभूति सम्पूर्ण आत्मा की होती है और वह सभी प्रदेशों में होती है।

श्लोक ७१४ : अर्थ :– 'स्व आवरण के क्रमपूर्वक उदीयाभावीक्षय से ही लब्धि और उपयोग सहित जो केवल आत्म उपयोग रूप ही आत्मा का परिणाम है, वह भावमन है।' अर्थात् भावमन आत्मा के सभी प्रदेशों में है।

श्लोक ७१५–७१६ : अर्थ :– 'स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र ये पाँचों इन्द्रियाँ मूर्तिक पदार्थ को जाननेवाली हैं तथा मन, मूर्तिक और अमूर्तिक दोनों पदार्थों को जाननेवाला है। इसलिये यहाँ यह कथन निर्दोष है कि स्वात्मा ग्रहण में निश्चय से मन ही उपयोगी है, परन्तु इतना विशेष है कि विशिष्ट दशा में (अतीन्द्रियज्ञान में = स्वात्मानुभूति में) वह मन स्वयं ही ज्ञान रूप हो जाता है।'

यहाँ समझना यह है कि जो भावमन कहा है, वह आत्मा के ज्ञान का ही क्षयोपशम रूप एक उपयोग विशेष है, अन्य कुछ नहीं, अजीव द्रव्य नहीं है। वह भावमन आत्मा का विशिष्ट क्षयोपशम होने से आत्मा के सभी प्रदेशों में होता है, परन्तु द्रव्यमन हृदयकमल में होने से उस अपेक्षा से स्वात्मानुभूति रूप अनुभव हृदयकमल में होता है – ऐसा कहा जाता है।

❧

१४

क्या इन्द्रियज्ञान ज्ञान नहीं है?

इन्द्रियज्ञान यानी इन्द्रिय जनित ज्ञान। बहुत लोग ऐसा मानते हैं कि इन्द्रियज्ञान तो ज्ञान ही नहीं है, तो उस में समझना यह है कि जो द्रव्य इन्द्रिय और नोइन्द्रिय रूप मन है, वह पुद्गल का बना हुआ होने से, उस अपेक्षा से ऐसा कहा जा सकता है कि इन्द्रियज्ञान तो ज्ञान ही नहीं अथवा इन्द्रियज्ञान खण्ड-खण्ड ज्ञान रूप होने से उस अपेक्षा से भी ऐसा कहा जा सकता है कि इन्द्रियज्ञान तो ज्ञान (अखण्ड ज्ञान) ही नहीं। वास्तव में देखने पर वह पुद्गल रूप अजीव इन्द्रियाँ ज्ञान के निमित्त मात्र हैं परन्तु ज्ञान तो आत्मा का लक्षण होने से अन्य कोई भी द्रव्य में होता ही नहीं तो फिर प्रश्न होगा कि इन्द्रियज्ञान होता किस प्रकार है?

उस का उत्तर ऐसा है कि वास्तव में जो भावेन्द्रिय और भावनोइन्द्रिय रूप आत्मा के ज्ञान का (अर्थात् आत्मा का) क्षयोपशम रूप विशिष्ट परिणमन है, वही ज्ञान करता है और उस ज्ञान को इन्द्रिय की अपेक्षा से, आत्मा ने किये हुए ज्ञान को, इन्द्रियज्ञान और नोइन्द्रियज्ञान ऐसी संज्ञा प्राप्त होती है। वास्तव में ज्ञान तो आत्मा का लक्षण है, अन्य कोई द्रव्य ज्ञान करता ही नहीं। इसलिये समझना यह है कि मात्र वह शरीरस्थ आत्मा ही ज्ञान करता है कि जो बात परमात्मप्रकाश - त्रिविध आत्माधिकार गाथा ४५ में भी बतायी है कि-'जो आत्माराम शुद्ध निश्चय से अद्वितीय ज्ञानमय है तो भी अनादि बन्ध के कारण व्यवहार नय से इन्द्रियमय शरीर को ग्रहण करके अपनी पाँच इन्द्रियों द्वारा रूपादि पाँचों ही विषयों को जानता है, अर्थात् इन्द्रियज्ञान रूप परिणम कर इन्द्रियों से रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श को जानता है...' इसी अपेक्षा से इन्द्रियज्ञान कहलाता है। इसलिये वास्तव में इन्द्रियज्ञान ज्ञान की अपेक्षा से आत्मा ही है, अन्य कोई नहीं। इसलिए इन्द्रियज्ञान ज्ञान ही है; यही बात पंचाध्यायी पूर्वार्द्ध के श्लोकों में आगे दृढ़ करते हैं-

श्लोक ७१७-१८ : अर्थ :- 'निश्चय कर के सूत्र से जो मतिज्ञान है वह इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होता है तथा मतिज्ञान पूर्वक श्रुतज्ञान होता है, ऐसा जो कहा है, वह कथन असिद्ध नहीं। सारांश यह है कि निश्चय से भावमन, ज्ञान विशिष्ट होता हुआ स्वयं ही अमूर्त है इसलिये उस भावमन द्वारा होनेवाला यहाँ आत्म दर्शन अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष क्यों नहीं होगा?'

यहाँ समझना यह है कि इन्द्रियज्ञान या अतीन्द्रियज्ञान, ज्ञान नियम से आत्मा का ही होता है अन्य किसी द्रव्य का नहीं। क्योंकि ज्ञान आत्मा का लक्षण है इसलिये ऐसा भी कहा जा सकता

है कि इन्द्रियज्ञान स्व में जाने की सीढ़ी है क्योंकि इन्द्रिय भले पुद्गल रूप अजीव हो परन्तु उस के निमित्त से जो ज्ञान होता है, उस विशेषज्ञान को अर्थात् उस ज्ञानाकार को गौण करते ही वहाँ सामान्यज्ञान अर्थात् ज्ञायक उपस्थित ही रहता है कि जो दृष्टि का विषय है कि जिस में मैंपन करने से ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। क्योंकि स्थूल से ही सूक्ष्म में जाया जाता है, प्रगट से ही अप्रगट में जाया जाता है, व्यक्त से ही अव्यक्त में जाया जाता है, यही नियम है।

भावार्थ :- '....सारांश यह है कि स्वात्मरस में निमग्न होनेवाला भावमन स्वयं ही अमूर्त होने से स्वानुभूति के समय में आत्मप्रत्यक्ष करनेवाला कहने में आया है। जैसे श्रेणी चढ़ते समय ज्ञान की जो निर्विकल्प अवस्था है, उस निर्विकल्प अवस्था में ध्यान की अवस्था सम्पन्न श्रुतज्ञान अथवा उस श्रुतज्ञान के पहले का मतिज्ञान अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थानवर्ती हैं, उन का मतिश्रुतज्ञानात्मक भावमन भी स्वानुभूति के समय में विशेष दशासम्पन्न होने से श्रेणी के जैसा तो नहीं, परन्तु उन की भूमिका के योग्य निर्विकल्प तो होता है। इसलिये उस मतिश्रुतज्ञानात्मक भावमन को स्वानुभूति के समय में प्रत्यक्ष मानने में आता है, वहाँ यही कारण है कि मति-श्रुतज्ञान के बिना केवलज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती परन्तु अवधि-मन:पर्ययज्ञान के बिना हो सकती है।'

स्वात्म रस में निमग्न होनेवाला भावमन अर्थात् विकल्पयुक्त आत्मा में से (=पर्याय में से) विकल्प को (=विशेष को) गौण करते ही अर्थात् विकल्प को, निर्विकल्प में निमग्न करने पर (=डुबाने पर) ही सामान्य रूप आत्मा अर्थात् परमपारिणामिकभाव की अनुभूति होती है कि जिसे निर्विकल्प अनुभूति कहा जाता है, जो कि अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष होती है कि जो अनुभव की विधि है अर्थात् वही सम्यग्दर्शन की पद्धति है। अब हम पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध के (पण्डित देवकीनन्दन जी कृत हिन्दी टीका) श्लोकों में से यही सब भाव दृढ़ करेंगे।

श्लोक ४६१-६२ : अर्थ :- 'अथवा इन्द्रियजन्यज्ञान देश प्रत्यक्ष होता है, इसलिये वास्तव में वह अस्तिक्य, आत्मा के सुखादि की भाँति स्वसंवेदन प्रत्यक्ष किस प्रकार हो सकता है? ठीक है, परन्तु प्रथम के मति और श्रुत ये दो ज्ञान, परपदार्थों को जानते समय परोक्ष हैं और दर्शनमोहनीय का उपशम, क्षय तथा क्षयोपशम होने के कारण स्वानुभवकाल में प्रत्यक्ष हैं।'

शंकाकार, शंका करता है कि - इन्द्रिय और मन का निरोध तथा त्रस-स्थावर की रक्षा क्या है? उत्तर :-

श्लोक १११८ : अर्थ :– 'शंकाकार का उपरोक्त कथन ठीक है, क्योंकि जो इन्द्रियों के सम्बन्ध से पदार्थ का ज्ञान होता है, वह ज्ञान असंयमजनक नहीं होता परन्तु उन विषयों में जो रागादि बुद्धि उत्पन्न होती है, उसे न होने देना, वही इन्द्रियसंयम है।'

अर्थात् किसी को भी इन्द्रियज्ञान से डरने की आवश्यकता नहीं, इन्द्रियज्ञान को नकारने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि वह आत्मा का ही एक उपयोग विशेष है और इसीलिये वह ज्ञान असंयमजनक नहीं होता। परन्तु उस ज्ञान के विषयों में जो रागादि बुद्धि उत्पन्न होती है, उसे न होने देना ही संयम है और कर्तव्य भी है।

◆

१५

पर्याय परम पारिणामिक भाव की ही बनी हुई है

पंचाध्यायी उत्तरार्ध के श्लोक

श्लोक ११ : अर्थ :– 'स्वयं अनादि सिद्ध सत् में (आत्मा में) भी पारिणामिक शक्ति से (पारिणामिकभाव से) स्वाभाविकी क्रिया तथा वैभाविकी क्रिया होती है।'

भावार्थ :– 'आगम में जीव के पाँच भाव कहे हैं, उन में एक पारिणामिकभाव है, उसे पारिणामिकशक्ति भी कहा जाता है, उस की दो प्रकार की पर्याय होती हैं; एक स्वाभाविक तथा दूसरी वैभाविक (यहाँ जो एक द्रव्य की दो पर्यायें कही हैं, वह अपेक्षा से दो हैं वास्तव में दो नहीं समझना चाहिये क्योंकि एक द्रव्य की एक ही पर्याय होती है परन्तु उसे सामान्य और विशेष ऐसी दो अपेक्षा से दो पर्याय कहा है, उन में सामान्य को स्वाभाविकपर्याय कहते हैं और विशेष को वैभाविकपर्याय कहते हैं। वह विशेष पर्याय सामान्यभाव की ही बनी हुई होने से अर्थात् वह परमपारिणामिकभाव की ही बनी हुई होने से, वास्तव में पर्याय एक ही होती है) यह दोनों जीव की अपनी अपेक्षा से पारिणामिक भाव है। यह निश्चय कथन है (देखें जयधवला, भाग–१, पृष्ठ–३१९ तथा धवला टीका, भाग–५, पृष्ठ–१९७–२४२–२४३) और कर्म के उदय की अपेक्षा बताने के लिये जीव के विकारीभाव को (अर्थात् विभावभावरूप विशेषभाव को) औदयिकभाव कहा जाता है। यह व्यवहार कथन है।'

यहाँ समझना यह है कि निश्चय नय से (अभेद नय से) जीव को एकमात्र पारिणामिकभाव ही होता है परन्तु व्यवहार नय से (भेद नय से) उसी भाव को सामान्य अपेक्षा से परमपारिणामिकभाव और विशेष अपेक्षा से औदयिक आदि चार भाव रूप कहा जाता है। विशेष रूप औदयिक आदि चार भावरूप पर्याय सामान्यभाव की ही बनी हुई होती है। वह परमपारिणामिकभाव की ही बनी हुई होती है अर्थात् औदयिक आदि सर्व विशेषभावरूप मैं = परमपारिणामिकभाव ही परिणमता हूँ और इसलिए मुझे = परमपारिणामिकभाव को ही मुझ में = परमपारिणामिकभाव में जागृति रखनी है और स्वयं को क्रोध, मान, माया, लोभ, भय, परिग्रह, वासना इत्यादि से बचाना है। इसे ही संवरभाव कहा जाता है, इसी से निर्जरा होती है।

That means, I am pure awareness = परमपारिणामिकभाव = ज्ञायकभाव। I am geting manifested as all the feelings like pain, happiness, etc. and as knowledge, memory, etc. = औदयिकादि सभी विशेषभाव। But I shall be aware of myself and restrain myself from being getting involved in sins, lust, anger, ego, deceit, cruelty, fear, possessiveness, etc. for saving myself from bondage, unlimited pain and suffering.

श्लोक ६३-६४ : अर्थ :- 'शंकाकार कहता है कि - जो अनादि सत् में वैभाविकी क्रिया (विभाव रूप औदयिकादिभाव) भी परिणमनशीलता से होती है। (अर्थात् वे भाव भी पारिणामिकभाव ही होते हैं) तो नियम से उसमें स्वाभाविकी क्रिया से (अर्थात् परमपारिणामिकभाव से) विशेषता रखनेवाले कौन सा विशेष भेद रहेगा? तथा पदार्थों को जाननेवाला ज्ञान आत्मा का स्वलक्षण है, इसलिये उस ज्ञान की इस ज्ञेय के आकार होने रूप क्रिया किस प्रकार वैभाविकी क्रिया हो सकती है?'

यही बात समयसार गाथा ६ में भी कर्ता-कर्म का अनन्यपना बताकर समझायी है, वहाँ ऐसा समझना कि कर्म (ज्ञेयाकार = चारभाव = पर्याय = विशेषभाव), कर्ता (सामान्यभाव = परमपारिणामिकभाव = ज्ञायकभाव) के ही बने होने से कर्ता-कर्म का अनन्यपना बताया है और दूसरे, समयसार गाथा ६ में जाननेवाला वह मैं अर्थात् आत्मा जब पर को जानता है, तब जो ज्ञेयाकार है, वह वास्तव में ज्ञानाकार ही है और उस ज्ञानाकार में भी जब आकार रूप विकल्प को गौण किया जाये तो वह ज्ञायक ही है अर्थात् वही 'परमपारिणामिकभाव' है, 'कारण शुद्ध पर्याय' है, यही बात यहाँ दृढ़ होती है।

यही बात समयसार गाथा १३ में भी बतायी है - उस में दृष्टि का विषय 'नौ तत्त्व में (पर्याय में) छिपा हुआ आत्मज्योति रूप कहा है'। अर्थात् अव्यक्त व्यक्त में ही छिपा हुआ है अर्थात् व्यक्त अव्यक्त का ही बना हुआ है तथापि कहा ऐसा ही जाता है कि व्यक्त को अव्यक्त स्पर्शता ही नहीं। यही विशिष्टता है जिनशासन के नयचक्र की और इसी अपेक्षा से अव्यक्त के बोल समझना आवश्यक है, अन्यथा नहीं अर्थात् एकान्त से नहीं। क्योंकि एकान्त तो अनन्त परावर्तन का कारण होने में सक्षम है। इसलिये हम जब प्रश्न करते हैं कि यह पर्याय किस की बनी हुई है? और उत्तर में हम बताते हैं कि 'परमपारिणामिकभाव की' अर्थात् जो पर्याय है वह द्रव्य की ही (ध्रुव की ही, परमपारिणामिकभाव की ही) बनी हुई है कि जिस के विषय में हमने पूर्व में अनेक आधारों सहित समझाया ही है, यही बात यहाँ दृढ़ होती है।

यही बात आचार्य अमृतचन्द्र कृत समयसार टीका के श्लोक २७१ में भी बतायी गयी

है - 'जो यह ज्ञानमात्रभाव मैं हूँ, उसे ज्ञेयों का ज्ञान मात्र न जानना; (परन्तु) ज्ञेयों के आकार का होते ज्ञान के कल्लोल रूप से परिणमता उसे ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातामय वस्तु मात्र जानना।' अर्थात् ज्ञेय है वह ज्ञानमय है, ज्ञान है वह ज्ञातामय है और वह ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय की एकरूपता से सिद्ध होता है कि पर्याय (ज्ञेय) ज्ञाता (परमपारिणामिकभाव) की बनी हुई है अर्थात् चारभाव (पर्याय = विभावभाव) वह एक परमपारिणामिकभाव के ही बने हैं अर्थात् चारों भावों का (पर्याय का) सामान्य वह परमपारिणामिकभाव है। जैसे ज्ञेय में ज्ञाता हाज़िर है, वैसे प्रत्येक पर्याय में ज्ञाता = परमपारिणामिकभाव हाज़िर ही है। वह पर्याय उस की ही (ज्ञेय-ज्ञान-ज्ञाता) बनी हुई है। चार भाव (पर्याय = विभावभाव) को गौण करने पर ज्ञायक = परमपारिणामिकभाव प्राप्त होता है, जो कि दृष्टि का विषय है। इस प्रकार प्रत्येक पर्याय में पूर्ण द्रव्य विद्यमान है ही, मात्र उस की दृष्टि करते आना चाहिये। इसलिये ही दृष्टि अनुसार ऐसा कहा जा सकता है कि जो द्रव्य है वही पर्याय है (वह पर्यायदृष्टि) अथवा जो पर्याय है, वही द्रव्य है (वह द्रव्यदृष्टि)।

ज्ञान (आत्मा) सामान्य विशेषात्मक होता है। ज्ञान सामान्यभाव (परमपारिणामिकभाव) निर्विकल्प होता है। जब कि ज्ञान विशेषभाव (चार भाव रूप) सविकल्प होता है, जिस से ज्ञान सामान्यभाव (परमपारिणामिकभाव) में एकत्व भाव करते ही निर्विकल्प अनुभूति होती है। यही सम्यग्दर्शन की विधि (पद्धति) है।

श्लोक ६६-६७ : अर्थ :- '(वैभाविकी तथा स्वाभाविकी ये दोनों क्रियायें = पर्यायें जब पारिणामिक ही हैं तो उन में कुछ अन्तर ही नहीं) इस प्रकार कहना ठीक नहीं है क्योंकि बद्ध और अबद्ध ज्ञान में अन्तर है, उस में से मोहनीय कर्म से आवृत ज्ञान को (अर्थात् औदयिक रूप विशेषभाव को) बद्ध कहते हैं तथा मोहनीय कर्म से अनावृत ज्ञान को (अर्थात् सामान्यज्ञान को, ज्ञायक रूप ज्ञान को, परमपारिणामिकभाव रूप ज्ञान को तथा कारण शुद्ध पर्याय रूप ज्ञान को) अबद्ध कहते हैं। जो ज्ञान मोहकर्म से आवृत्त अर्थात् जुड़ा हुआ है, वह जैसे इष्ट और अनिष्ट अर्थ के संयोग से अपने आप ही राग-द्वेषमय होता है, वैसे ही वह प्रत्येक पदार्थ को क्रम क्रम से विषय करनेवाला होता है अर्थात् उन सभी पदार्थों को एक साथ विषय करनेवाला नहीं होता।' इसी विषय को श्लोक १३० में विशेष रूप से स्पष्ट किया है, इसलिये अब उसे देखेंगे।

श्लोक १३० : अर्थ :- 'परगुण आकार रूप पारिणामिकी क्रिया बन्ध कहलाता है तथा उस क्रिया के होने से ही उन दोनों जीव और कर्मों का अपने-अपने गुणों से च्युत होना होता

है, वह अशुद्धता कहलाती है।' अर्थात् पारिणामिकी क्रिया यानी पारिणामिकीभाव रूप (पर्याय रूप) जीव ही परिणमता है।

भावार्थ :- 'प्रत्येक द्रव्य में पारिणामिकभाव होता है। जीव और पुद्गल में उस में दो प्रकार की क्रियाएँ होती है - एक शुद्ध तथा दूसरी अशुद्ध। प्रत्येक द्रव्य, वह क्रिया का कर्ता स्वयं होने से वह क्रिया पारिणामिकभावरूप है। जैसे जीव में क्रोध होता है, वह स्व अपेक्षा से पारिणामिकभाव (क्रिया) है। (औदयिक भाव वास्तव में तो पारिणामिकभाव का ही बना हुआ है)। (देखें, जयधवला भाग-१, पृष्ठ ३१९ तथा श्री षट्खण्डागम पुस्तक-५, पृष्ठ १९७-२४२-२४३) और विकारी भावों में कर्म के उदय की अपेक्षा बतानी हो तब उस पर्याय को औदयिकी भी कहा जाता है (यही बात पूर्व में हमने बतायी है कि औदयिकीभावरूप पर्याय वास्तव में पारिणामिकभाव की ही बनी हुई है कि जो उस का सामान्यभाव कहलाता है।) परन्तु इस कारण से कहीं ऐसा नहीं समझना कि जीव में पर का कुछ भी गुण आ जाता है।

दूसरा जो भाव (विभावभाव) जीव में से निकल जाने योग्य हो, वह अपना स्वरूप नहीं होने से निश्चय नय से वह अपना नहीं। उसे परभाव, परगुणाकार इत्यादि नाम से पहचाना जाता है। इस अपेक्षा से जीव के विकारभाव को निश्चय नय से पुद्गल परिणाम कहने में आया है क्योंकि वह जीव का स्वभाव नहीं और पुद्गल के सम्बन्ध से होता है, इसलिये वह विकारभाव निश्चय बन्ध है। वह विकारी पारिणामिकी क्रिया होने पर अपने गुण से च्युत होना वह अशुद्धता है।'

अर्थात् जो जीव का परमपारिणामिकभाव है अर्थात् जो जीव का सहजपरिणमन है, वही पर लक्ष्य से अशुद्धतारूप परिणमकर निश्चय बन्ध रूप होता है। इसीलिये उस अशुद्धता को गौण करते ही परमपारिणामिकभावरूप शुद्धात्मा जो की सम्यग्दर्शन का विषय (दृष्टि का विषय) है, वह प्रकट/उपस्थित ही होती है और इसी अपेक्षा से समयसार गाथा १३ में भी बताया है कि 'नौ तत्त्व में छिपी हुई आत्मज्योति' अर्थात् उन नौ तत्त्व रूप जो जीव का परिणमन है (पर्याय है) उस में से अशुद्धियों को गौण करते ही जो शेष रहता है, वही परमपारिणामिकभावरूप शुद्धात्मा है, वही कारणशुद्धपर्याय है, वही सम्यग्दर्शन (दृष्टि) का विषय है।

◆

१६

स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय

हमने जो पूर्व में बताया कि स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय, ऐसी दो पर्यायें अपेक्षा से कही जाती हैं अर्थात् दोनों एक ही पर्याय (वस्तु, द्रव्य) का अनुक्रम से सामान्य रूप और विशेष रूप है, परन्तु स्वभाविक शक्ति और वैभाविक शक्ति एक ही काल में नहीं होतीं, क्योंकि ऐसा मानने पर, दोनों पर्यायें विशेष रूप हो जाने से, एक द्रव्य की एक काल में दो पर्याय का प्रसंग आयेगा और कार्य-कारण भाव के नाश का प्रसंग आयेगा, जिस से बन्ध-मोक्ष के अभाव का प्रसंग आयेगा, वही अब आगे बताते हैं।

पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध के श्लोक :-

श्लोक ९२ : अर्थ :- 'यह स्वाभाविकी और वैभाविकी शक्ति का एक काल में सद्भाव मानने पर न्याय से भी बहुत बड़ा दोष आयेगा क्योंकि युगपत् स्वाभाविक और वैभाविकभाव को मानने से कार्य-कारण भाव का नाश तथा बन्ध-मोक्ष के नाश होने का प्रसंग आता है।'

भावार्थ :- 'वैभाविकी शक्ति की विभाव और स्वभावरूप दो अवस्थायें मानने से बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था सिद्ध हो जाती है तथा वह विभाव और स्वभाव अवस्थायें क्रमवर्ती हैं, इसलिये बन्ध और मोक्ष के कार्य-कारण भाव अलग अलग हैं - ऐसा भी सिद्ध होता है। परन्तु दोनों शक्तियों को युगपत् मानने से न तो कार्य-कारण भाव बन सकेगा तथा न ही बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था ही बन सकेगी।'

हम जो पूर्व में देख चुके हैं, वही यहाँ बताया है कि यदि छद्मस्थ जीव में स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय ऐसी दो पर्याय मानने में आयें तो जो कार्य-कारण रूप व्यवस्था है वह सिद्ध ही नहीं होगी। अर्थात् जिस आत्मा में प्रत्येक प्रदेश में कर्म हैं और उन के निमित्त से वह अशुद्धता रूप परिणमता है, ऐसा कार्य-कारण भाव और उन कर्मों का अभाव होते ही वह जीव शुद्धरूप परिणमता है, वैसा बन्ध और मोक्ष भी सिद्ध नहीं होगा। इसलिये छद्मस्थ जीव में विशेष रूप विभाव परिणमन और सामान्य रूप स्वभाव परिणमन ही मानने योग्य है जो कि सामान्य रूप स्वभाव परिणमन के बल से वह जीव कर्मों के निमित्त से होते भाव में 'मैंपन' से छूटकर अर्थात् उन में 'मैंपन' नहीं करके मात्र परमपारिणामिकभाव में ही 'मैंपन' (एकत्व) करता है और उन विभावरूपीभावों को क्षणिक और हेय मानकर कर्मों के नाश के लिये शक्ति प्राप्त करता है। आगे वैसा ही पुरुषार्थ बारम्बार करके सभी कर्मों का नाश करके, वैसे भावों से सर्वथा, सर्व काल के लिये छूटता है, मुक्त होता है। यही मोक्ष है।

१७

नौ तत्त्वों की सच्ची श्रद्धा का स्वरूप

पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध के श्लोक

श्लोक १३३-१३४-१३५ : अर्थ :-'वास्तव में यहाँ शुद्ध नय की अपेक्षा से जीव शुद्ध भी है (अर्थात् एकान्त शुद्ध नहीं अथवा तो उस का एक भाग शुद्ध और एक अशुद्ध ऐसा भी नहीं, परन्तु अपेक्षा से जीव शुद्ध भी है) तथा कथंचित् बद्धाबद्ध नय अर्थात् व्यवहार नय से जीव अशुद्ध है, यह भी असिद्ध नहीं (अर्थात् व्यवहार नय से जीव अशुद्ध है)। सम्पूर्ण शुद्ध नय, एक, अभेद और निर्विकल्प है। व्यवहार नय अनेक, भेद रूप और सविकल्प है। वह शुद्ध नय का विषय चेतनात्मक शुद्ध जीव वाच्य है और व्यवहार नय के विषय रूप वह जीवादि नौ पदार्थ कहने में आये हैं।'

हम प्रारम्भ में ही जो समझे हैं कि वस्तु एक अभेद है और उसे देखने की दृष्टि अनुसार वही वस्तु शुद्ध अथवा अशुद्ध, अभेद अथवा भेद रूप ज्ञात होती है, वही बात यहाँ सिद्ध की गयी है। अब समयसार गाथा १३ का जो भाव है कि 'नौ तत्त्व में छिपी हुई आत्म(-चैतन्य)ज्योति' वही भाव अगले श्लोक में व्यक्त किया गया है।

श्लोक १५५ : अर्थ :- 'अर्थात् एक जीव ही जीव-अजीवादि नौ पदार्थ रूप होकर विराजमान है और इन नौ पदार्थों की अवस्थाओं में भी यदि विशेष अवस्थाओं की विवक्षा न की जाये तो (अर्थात् विशेष रूप विभावभावों को यदि गौण किया जाये तो) केवल शुद्ध जीव ही है (केवल परमपारिणामिकभावरूप शुद्धात्मा ही है अर्थात् वह केवल कारण शुद्ध पर्याय रूप दृष्टि का विषय ही है। इस से विशेष अवस्थायें - पर्यायें परमपारिणामिकभाव की ही बनी हैं, यही बात सिद्ध होती है)।'

श्लोक १६०-१६३ : अर्थ :- 'सौपरक्ती से उपाधि सहित स्वर्ण त्याज्य नहीं क्योंकि उस का त्याग करने पर सर्व शून्यतादि दोषों का प्रसंग आता है (उसी प्रकार यदि अशुद्ध रूप परिणमित जीव अर्थात् अशुद्ध पर्याय का त्याग किया जाये तो वहाँ पूर्ण द्रव्य का ही त्याग हो जाने से, सर्वथा शून्यतादि का दोष आयेगा अर्थात् उस अशुद्ध पर्याय में ही परमपारिणामिकभावरूप शुद्धात्मा छिपा हुआ होने से यदि उस अशुद्ध पर्याय का त्याग करेंगे तो पूर्ण द्रव्य का ही लोप हो जायेगा। इसलिये उस अशुद्ध पर्याय का त्याग न करके, मात्र अशुद्धि को ही गौण करना और ऐसा करते ही परमपारिणामिकभावरूप शुद्धात्मा जो कि दृष्टि का विषय है वह प्रकट होगा।) (दूसरा) ऐसा

कथन भी परीक्षा करने से सिद्ध नहीं हो सकता कि जिस समय सुवर्ण, पर्याय से शुद्ध है उस समय ही वह शुद्ध है (अर्थात् जो अशुद्धता रूप परिणमित संसारी जीवों को एकान्त से अशुद्ध ही मानते हैं और शुद्धोपयोग मात्र तेरहवें गुणस्थान से ही मानते हैं, उन्हें शुद्ध नय की प्राप्ति होनेवाली ही नहीं है अर्थात् ऐसे जीव को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति ही नहीं होती और दूसरा जो पर्याय को एकान्त से अशुद्ध मानकर दृष्टि के विषय में शामिल नहीं करते और एकान्त से शुद्ध-ध्रुव खोजते हैं, उन्हें भी उस की प्राप्ति होनेवाली नहीं है।) क्योंकि (एकान्त) शुद्ध द्रव्य की प्राप्ति न होने से उस की प्राप्ति के हेतु का भी अदर्शन सिद्ध होता है (अर्थात् जो खान में से निकले हुए अशुद्ध स्वर्ण का अस्वीकार करे तो उस में छिपे हुए शुद्ध स्वर्ण की प्राप्ति भी हो सकनेवाली नहीं है। इसी प्रकार अशुद्ध जीव में = पर्याय में ही शुद्धात्मा छिपा हुआ है, ऐसा जानना।)

(अब शुद्धात्मा की प्राप्ति की विधि बताते हैं अर्थात् सम्यग्दर्शन की रीति बताते हैं) जिस समय उस अशुद्ध स्वर्ण के रूपों में केवल शुद्ध स्वर्ण दृष्टिगोचर किया जाता है (अर्थात् अशुद्ध पर्याय में द्रव्यदृष्टि से केवल शुद्धात्मा = परमपारिणामिकभाव दृष्टिगोचर करने में आता है) उस समय पर द्रव्य की उपाधि दृष्टिगोचर नहीं होती (अर्थात् पर्याय रूप परिणमित द्रव्य की अशुद्धि गौण होते ही पूर्ण साक्षात् शुद्धात्मा ही ज्ञात होती है) परन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण से अपना अभीष्ट वह केवल शुद्ध स्वर्ण ही दृष्टिगोचर होता है (इसीलिये दूसरे को जो द्रव्य प्रमाण का भासित होता है, उसी द्रव्य में हमें परमपारिणामिकभावरूप शुद्धात्मा के दर्शन होते हैं; इसलिये कहा जा सकता है कि उस में दूसरे का दोष मात्र यह है कि जब उसे = द्रव्य को द्रव्यार्थिक नय से ग्रहण करना है तभी वे उसे प्रमाण दृष्टि से ही ग्रहण करते हैं। क्योंकि उन की धारणा में द्रव्य दो भाग वाला है कि जिस में का एक भाग शुद्ध और दूसरा अशुद्ध है। दूसरे की ऐसी मान्यता की भूल होने से, हम जब पूर्ण द्रव्य की बात करते हैं तब उन्हें उस में प्रमाण के द्रव्य के ही दर्शन होते हैं और जब हम उसी प्रमाण के द्रव्य को शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से ग्रहण करके उसे शुद्धात्मा = परमपारिणामिकभाव कहते हैं, तब वे उस में पर्याय से भिन्न, अपरिणामी = कूटस्थ खोजते हैं, कि जिस का अस्तित्व ही नहीं है, जो कभी शुद्ध भाग रूप अर्थात् एकान्त शुद्ध रूप मिलनेवाला ही नहीं है) इसलिये सिद्ध होता है कि जैसे उस अशुद्ध स्वर्णमाला में अन्य धातुओं का संयोग होने पर भी वास्तव में पर संयोग रहित भिन्न रूप से शुद्ध स्वर्ण का अस्तित्व सिद्ध होता है, इसी प्रकार जीवादिक नौ पदार्थों में शुद्ध जीव का अस्तित्व सिद्ध है।'

अन्यथा नहीं, अर्थात् उन अशुद्ध पर्यायों के अतिरिक्त उस काल में जीवत्व अन्य कुछ भी नहीं, वह पूर्ण जीव ही उस रूप परिणमित है, इसलिये उस में ही शुद्धात्मा छिपा हुआ है।

इस भाव को समझाते हुए दृष्टान्त अब बाद की गाथाओं में दिये हैं, वे संक्षेप में बताते हैं।

श्लोक १६६ में कीचड़ सहित जल का उदाहरण है। उस कीचड़ सहित जल में ही शुद्ध जल छिपा हुआ है।

श्लोक १६७ में अग्नि का दृष्टान्त है। उपचार से अग्नि का आकार उस की दाह्यता के अनुसार होने पर भी वह मात्र अग्नि ही है अन्य कुछ भी रूप नहीं है अर्थात् दाह्य रूप नहीं है। यही बात समयसार गाथा ६ में भी बतायी है कि ज्ञान ज्ञेय रूप परिणमने पर भी वह ज्ञायक ही है।

श्लोक १६८ में दर्पण का दृष्टान्त है। दर्पण में अलग-अलग प्रतिबिम्ब होने पर भी, उन्हें गौण करते ही मात्र स्वच्छ दर्पण ही है, वास्तव में वहाँ अन्य कोई नहीं।

श्लोक १६९ में स्फटिक का दृष्टान्त है। उस स्फटिक में कुछ भी झांईं पड़े, इस कारण से कहीं वह उस रंग का दिखने पर भी, स्वरूप से वह उस रंग का हो नहीं जाता; स्वरूप से वह स्वच्छ ही रहता है।

श्लोक १७० में ज्ञान का दृष्टान्त है। ज्ञान, ज्ञेय को जानते हुए ज्ञेय रूप नहीं होता परन्तु जैसे उस में ज्ञेय को गौण करो तो वहाँ ज्ञायक ही उपस्थित है। यही रीति है सम्यग्दर्शन की। यही बात समयसार श्लोक २७१ में भी कही गयी है।

श्लोक १७१ में समुद्र का दृष्टान्त है। समुद्र की वायु से प्रेरित लहरें उठने पर भी वे मात्र समुद्र रूप ही रहती हैं, वायु रूप नहीं होती।

श्लोक १७२ में नमक का दृष्टान्त है। नमक रसोई में अन्य रूप नहीं हो जाता, तथापि अज्ञानी जीव उस नमक का स्वाद नहीं ले सकते, जब कि ज्ञानी जीव भेदज्ञान से नमक का स्वाद (शुद्धात्मा का स्वाद) ले लेते हैं। इसी बात को आगे के श्लोकों में दृढ़ कराते हैं। वह अब देखते हैं।

श्लोक १७८ : अर्थ :- 'इन नौ पदार्थों से भिन्न सर्वथा शुद्ध द्रव्य की सिद्धि नहीं हो सकती, (इसलिये किसी को वैसे भ्रम में रहने की आवश्यकता नहीं है कि पर्याय से भिन्न सर्वथा शुद्ध द्रव्य उपलब्ध होगा) क्योंकि साधन का अभाव होने से उस शुद्ध द्रव्य की उपलब्धि नहीं हो सकती।' यही बात हमने पूर्व में बतायी है कि उन अशुद्ध पर्यायों के अतिरिक्त अन्य कोई द्रव्य ही नहीं। अभी तो वह पूर्ण द्रव्य ही उन पर्याय रूप में व्यक्त हो रहा है, उन पर्यायों से भिन्न कोई शुद्धभाव की सिद्धि किस प्रकार हो सकती है? यदि हो भी तो वह मात्र भ्रम में ही, अन्यथा नहीं।

श्लोक १८६ : अर्थ :- 'इसलिये शुद्ध तत्त्व (अर्थात् परमपारिणामिकभाव) कहीं इन नौ तत्त्वों से अलग नहीं है किन्तु केवल नौ तत्त्व सम्बन्धी विकल्पों को कम करते ही (अर्थात् गौण

करते ही) वे नौ तत्त्व ही शुद्ध हैं।'

अर्थात् वे नौ तत्त्व ही परमपारिणामिकभाव के बने हुए होने से अर्थात् ध्रुवरूप शुद्धात्मा ही उन नौ तत्त्व रूप परिणमित हुआ होने से वह उन नौ तत्त्वों में छिपा हुआ है अर्थात् उन नौ तत्त्वों में से अशुद्धि को गौण करते ही दृष्टि के विषय रूप शुद्धात्मा हाज़िर ही है।

श्लोक १८९ : अर्थ :- 'पुण्य और पाप जोड़कर इन सात तत्त्वों को ही नौ पदार्थ कहे गये है, तथा भूतार्थ नय से आश्रय किये हुए सम्यग्दर्शन के वास्तविक विषय हैं।' अर्थात् दृष्टि के विषय रूप हैं।

भावार्थ :- ''पूर्व में श्लोक १८६ में कहा गया था कि नौ तत्त्वों से शुद्धात्मा कोई अलग पदार्थ नहीं है, परन्तु उन नौ तत्त्व सम्बन्धी विकारों को छोड़ने पर (गौण करने पर) वे नौ तत्त्व ही शुद्ध हैं (परमपारिणामिकभावरूप शुद्धात्मा है)। नौ तत्त्व सम्बन्धी विकारों को किस प्रकार छोड़ा जाये, उस का उपाय इस गाथा में दर्शाया है कि भूतार्थ नय द्वारा उन नौ तत्त्वों का आश्रय करना सम्यग्दर्शन का विषय है। समयसार गाथा ११ में भी कहा है कि 'व्यवहार नय अभूतार्थ है तथा शुद्ध नय भूतार्थ है ऐसा ऋषीश्वरों ने (भगवान ने) दर्शाया है। जो जीव भूतार्थ का आश्रय करता है, वह निश्चय से सम्यग्दृष्टि है।' तत्पश्चात् इसी शास्त्र की गाथा १३ में कहा है कि 'भूतार्थ नय से जाने हुए जीव, अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव-संवर-निर्जरा-बन्ध और मोक्ष ये नौ तत्त्व सम्यक्त्व हैं।' तथा इस गाथा की टीका में कहा है कि इन नौ तत्त्वों में भूतार्थ नय से एक जीव ही प्रकाशमान है, ऐसे उस एकपने को प्रकाशित करते शुद्ध नय द्वारा अनुभव में आता है और जो यह अनुभूति, वह आत्मख्याति ही है तथा आत्मख्याति ही सम्यग्दर्शन है। इस गाथा में 'भूतार्थ नय से आश्रय किये हुए नौ पदार्थ सम्यग्दर्शन का वास्तविक विषय है।' ऐसा कहा है परन्तु वह मात्र कथन पद्धति का भेद है-आशय भेद नहीं। यहाँ भूतार्थ नय से आश्रय किये हुए नौ पदार्थ सम्यग्दर्शन का विषय (दृष्टि का विषय) है' ऐसा कहने का कारण यह है कि शंकाकार ने प्रथम श्लोक १४२ से १४९ में नौ पदार्थ बन नहीं सकते ऐसा कहा था और तत्पश्चात् श्लोक १७९-१८० में इन नौ पदार्थों को आत्मा से सर्वथा भिन्न होना कहा था, ये दोनों कथन दोषयुक्त हैं ऐसा दृढ़ करने के लिये ऐसी पद्धति यहाँ ग्रहण की है।

आगे श्लोक २१८-२१९ में शंकाकार फिर कहता है कि जब नौ तत्त्वों में सम्यग्दृष्टि को निश्चय से मात्र आत्मा की उपलब्धि होती है और वही शुद्ध उपलब्धि है तो फिर सम्यग्दर्शन का विषय (दृष्टि का विषय) नौ पदार्थ किस प्रकार बन सकेंगे? उस का समाधान श्लोक २२० से २२३ में ऐसा किया है कि मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनों को नौ पदार्थों का अनुभव तो

है परन्तु मिथ्यादृष्टि को वह (अनुभव) विशेष रूप (अर्थात् विभावभाव रूप पर्याय रूप) तथा सम्यग्दृष्टि को वह (अनुभव) सामान्य रूप (परमपारिणामिकभाव रूप शुद्धात्मा रूप) होता है। इसलिये उन दोनों के उस अनुभव के स्वाद का अन्तर है और यह बात श्लोक २२४ से २२५ में दृष्टान्त देकर सिद्ध की है।

नौ तत्त्वों में सामान्य रूप से आत्मा को सम्यग्दृष्टि कैसा जानता है, यह श्लोक १९४ से १९६ में बताया है और तत्पश्चात् शुद्ध नय के विषय रूप आत्मा का स्वरूप समयसार की गाथा १४ को अनुसरण कर के श्लोक २३४ से २३७ में दिया है। समयसार की गाथा ४०३ तथा पंचाध्यायी पूर्वार्द्ध श्लोक ५३२ के भावार्थ में भी शुद्ध नय के आश्रय से ही धर्म होता है ऐसा कहा है। धर्म अर्थात् सम्यग्दर्शन।

इस प्रकार भूतार्थ नय के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन प्रगट हो सकता है, ऐसा इस गाथा में बताया है। यह कथन अध्यात्मिक भाषा में है, आगमिक भाषा में उपादान तथा निमित्त दोनों को बताया जाता है। इसलिए वहाँ 'जीव और कर्म' इत्यादि की व्यवस्था कैसी हो कि सम्यग्दर्शन प्रगट हो? यह बताया जाता है।'' अर्थात् दृष्टि के विषय रूप शुद्धात्मा की उपलब्धि नौ तत्त्व को जानने से किस प्रकार होती है वह यहाँ स्पष्ट समझाया है।

श्लोक १९२ : अर्थ :- 'जीव के स्वरूप को चेतना कहते हैं। वह चेतना यहाँ सामान्य रूप से अर्थात् द्रव्यदृष्टि से निरन्तर एक प्रकार होती है (उसे ही परमपारिणामिकभाव, शुद्धात्मा, कारण शुद्ध पर्याय इत्यादि नामों से पहचाना जाता है। वह वस्तु का सामान्यभाव है अर्थात् वस्तु को पर्याय से देखने पर उस पर्याय का सामान्यभाव है।) तथा विशेष रूप से अर्थात् पर्यायदृष्टि से वह चेतना क्रमपूर्वक दो प्रकार की है (अर्थात् औदयिक, उपशम, क्षयोपशम भाव रूप अशुद्ध अथवा क्षायिक भाव रूप शुद्ध ऐसी दो प्रकार की होती है) परन्तु वह युगपत् अर्थात् एक साथ नहीं (अर्थात् जब क्षायिकभाव विशेषभाव रूप होता है तब वह औदयिक इत्यादि रूप नहीं होता अर्थात् दोनों साथ नहीं होते।)'

शुद्ध तत्त्व अर्थात् परमपारिणामिकभावरूप शुद्धात्मा वह कहीं नौ तत्त्वों से अलग नहीं। केवल नौ तत्त्व सम्बन्धी विकारों को कम करते ही अर्थात् गौण करते ही वही नौ तत्त्व ही शुद्ध हैं, अर्थात् वह परमपारिणामिकभावरूप शुद्धात्मा ही है। वही दृष्टि का विषय है, अर्थात् इस अपेक्षा से नौ तत्त्व को जानने पर सम्यग्दर्शन कहा जाता है क्योंकि स्थूल से ही सूक्ष्म में जाया जाता है। प्रगट से ही अप्रगट में जाया जाता है। व्यक्त से ही अव्यक्त में जाया जाता है, यही नियम है।

* * *

१८

सम्यग्दर्शन का लक्षण

अब सम्यग्दर्शन का लक्षण बताते हैं; पंचाध्यायी उत्तरार्ध के श्लोक -

श्लोक २१५ : अर्थ :- ''केवल आत्मा की उपलब्धि (अर्थात् 'मैं आत्मा हूँ' ऐसी समझ) भी सम्यग्दर्शन का लक्षण नहीं बन सकती परन्तु यदि वह उपलब्धि 'शुद्ध' विशेषण सहित हो अर्थात् शुद्ध आत्मोपलब्धि हो (अर्थात् मात्र 'शुद्धात्मा' में ही 'मैंपन' हो) तभी सम्यग्दर्शन का लक्षण हो सकता है। यदि वह आत्मोपलब्धि अशुद्ध हो तो वह सम्यग्दर्शन का लक्षण नहीं बन सकती।''

हमने जो भेदज्ञान की बात पूर्व में की है, वही यहाँ बतायी है। भेदज्ञान रूप स्व-पर दो अपेक्षा से होता हैं। एक, परद्रव्य रूप कर्म, शरीर, घर, मकान, दुकान, पत्नी, पुत्र इत्यादि से मैं भिन्न हूँ। ऐसा अन्य द्रव्य के साथ का भेदज्ञान रूप स्व-पर होता है और उस के बाद का जो दूसरा स्व-पर है, वही सम्यग्दर्शन का कारण और लक्षण है और वह दूसरे भेदज्ञान रूप स्व-पर में, स्व रूप मात्र शुद्धात्मा वह स्व और पर रूप समस्त अशुद्धभाव जो कि कर्म (पुद्गल) के निमित्त से होते हैं; वे अशुद्धभाव होते तो हैं मुझ में ही अर्थात् आत्मा वह अशुद्धभाव रूप परिणमता है, परन्तु उन भावों में 'मैंपन' करने योग्य नहीं है, क्योंकि वे पर के निमित्त से होते हैं। दूसरे वे क्षणिक हैं क्योंकि वे सिद्धों की आत्मा में उपस्थित नहीं इसलिये वे भाव त्रैकालिक नहीं हैं। इसलिये मात्र त्रिकाली ध्रुव रूप शुद्धात्मा जो तीनों काल में प्रत्येक जीव में उपस्थित है और उसी अपेक्षा से 'सभी जीव स्वभाव से सिद्ध समान ही हैं' - ऐसा कहा जाता है। उस भाव में ही अर्थात् उस 'शुद्धात्मा' में ही 'मैंपन' (एकत्व, तादात्म्य) करने से सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। इसलिये शुद्ध आत्मा की उपलब्धि को सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा है।

श्लोक २२१ : अर्थ :- 'वस्तु (अर्थात् पूर्ण वस्तु, उस का कोई एक भाग नहीं) सम्यग्ज्ञानियों को सामान्य रूप से (परमपारिणामिकभावरूप से, शुद्ध द्रव्यार्थिक नय के विषय रूप से, शुद्धात्म रूप से अर्थात् कारण शुद्ध पर्याय रूप से) अनुभव में आती है, इसलिये वह वस्तु (अर्थात् पूर्ण वस्तु) केवल सामान्य रूप से शुद्ध कही जाती है तथा विशेष भेदों की अपेक्षा से अशुद्ध कहलाती है।'

भावार्थ :- 'मिथ्यादृष्टि जीव की राग तथा पर के साथ एकत्व बुद्धि रहने से परवस्तु में इष्ट-अनिष्टपने की कल्पना रहा करती है तथा वह ऐसे अज्ञानमय राग-द्वेष के कारण वस्तु के वस्तुपने का प्रतिभास न करके मात्र इष्ट-अनिष्टपने से ही (अर्थात् मात्र विशेषभावों का ही अनुभव करता

है, क्योंकि वह पर्यायदृष्टि ही होता है) वस्तु का अनुभव करता है, तब सम्यग्दृष्टि जीव को अज्ञानमय राग-द्वेष का अभाव (अर्थात् उसे मात्र शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि होने से, राग-द्वेष गौण करके, शुद्ध का ही अनुभव करता है, इसलिये सम्यग्दृष्टि जीव को अज्ञानमय राग-द्वेष का अभाव) होने से वह पर वस्तु में इष्ट-अनिष्ट कल्पना से रहित होकर वस्तुपने का ही अनुभव करता है (मात्र शुद्धात्मा का - सामान्यभाव का ही अनुभव करता है)।'

श्लोक २३४-२३७ : अर्थ :- 'एक ज्ञान का ही पात्र होने से तथा बद्धस्पृष्टादिभावों का अपात्र होने से (अर्थात् उन में 'मैंपन' नहीं होने से) सम्यग्दृष्टि अपने को प्रत्यक्षपूर्वक स्पष्ट प्रकार से विशेष (विभावभाव) रहित, अन्य के संयोग रहित, चलाचलता रहित तथा अन्यपने से रहित (अर्थात् औदयिक आदि भावों से रहित) स्वाद का आस्वादन करता है। तथा बन्ध रहित तथा अस्पृष्ट, शुद्ध, सिद्ध समान (क्योंकि उसे देश सिद्धत्व का अनुभव होता है), शुद्ध स्फटिक समान, सदा आकाश समान परिग्रह रहित, इन्द्रियों से उपेक्षित अनन्त ज्ञान-दर्शन-वीर्यमय अतीन्द्रिय सुखादिक अनन्त स्वाभाविक गुणों सहित अपनी आत्मा का श्रद्धान करनेवाला होता है। इसलिये यद्यपि वास्तव में सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञान मूर्तिवाला है तो भी प्रसंग से अर्थात् पुरुषार्थ की निर्बलता से उसे अन्य पदार्थों की भी इच्छा हो जाती है। तथापि उसे कृतार्थ जीवो जैसा परम उपेक्षा भाव रहता है।'

सम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्था ऐसे सम्यग्दर्शन के लक्षणों से हम सब अच्छी तरह परिचित हैं। परन्तु शुद्ध आत्मोपलब्धि यानी शुद्धात्मा की अनुभूति यह सम्यग्दर्शन का लक्षण है ऐसा बहुत कम लोग जानते और मानते हैं। इस वजह से यह बात बहुत महत्व की है। शुद्धात्मा की अनुभूति ऐसा लक्षण है जो स्वयं को ज्ञात होता ही है। इस से जिस जीव को आत्मा की अनुभूति होती है, उसे न किसी से कुछ पूछना पड़ता है और न ही किसी के प्रमाणपत्र की आवश्यकता पड़ती है। शुद्धात्मा की अनुभूति सम्यग्दर्शन का परम लक्षण है।

वास्तव में सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञान मूर्तिवाला है तो भी प्रसंग से अर्थात् पुरुषार्थ की निर्बलता से उसे अन्य पदार्थों की भी इच्छा हो जाती है। इसलिये आगे हम सम्यग्दृष्टि के भोग के बारे में कुछ बताने का प्रयास करते हैं।

* * *

१९

सम्यग्दृष्टि को भोग बन्ध का कारण नहीं

चौथे और पाँचवें गुणस्थान में रहनेवाला जीव भोग भोगता है तो क्यों भोगता है? उस में उसे बन्ध नहीं, यह किस अपेक्षा से कहा जाता है? इन प्रश्नों का स्पष्टीकरण करते हैं।

इन्द्रियजनित सुख वास्तव में तो दुःख ही है।

पंचाध्यायी उत्तरार्ध श्लोक २३९ : अर्थ :- 'क्योंकि सुख जैसे ज्ञात होनेवाले ये इन्द्रियजनित सुख, दुःख रूप फल को देनेवाले होने से दुःख रूप ही है। इस कारण से वे सुखाभास हैं और त्यागने योग्य हैं। सर्वथा अनिष्ट उन दुःखों के जो कर्म हेतु (निमित्त) हैं, वे भी त्यागने योग्य हैं (अर्थात् दुःखों के निमित्त जो कर्म हैं वे भी त्यागने योग्य हैं)'

जो जीव अज्ञानी हैं, उन्हें तो इन्द्रियजनित सुख रूप सुखाभास प्रिय होने से नियम से दुःख रूप ही है क्योंकि दुःख के जो कारण हैं, वैसे कर्म ऐसे सुखों के प्रति आकर्षण से और ऐसे सुखों को रच-पच कर भोगने से बन्धते हैं। कालान्तर में ये दुःख देनेवाले ही बनते हैं। आत्मज्ञानी ऐसे सुखों को उपेक्षा भाव से-अपनी निर्बलता समझकर भोगता है। इस कारण उसे अल्प बन्ध होता है। परन्तु उस अल्प को अपेक्षा से नहींवत् कहा जाता है अर्थात् बन्ध नहीं होता ऐसा ही कहा जाता है क्योंकि उसे उस सुख में 'मैंपन' नहीं होता। जैसे रोगी को दवा के प्रति आदर रोग के मिटने तक ही होता है उसी प्रकार आत्मज्ञानी को भी इन्द्रियजनित सुख का आदर अपने पुरुषार्थ की निर्बलता है, तब तक ही होता है और आत्मज्ञानी ऐसे सुख को सेवन करता हुआ भी उसे अपने पुरुषार्थ की निर्बलता समझकर पुरुषार्थ में शक्ति स्फुरित करने को अन्दर से उद्यम करता है। इसलिये इसी अपेक्षा से उन सुखों को भोगने के बावजूद वे उसे बन्धनकारक नहीं हैं ऐसा कहा जाता है।

श्लोक २५६ : अर्थ :- 'जैसे जोंक को दूषित रक्त चूसने से तृष्णा के बीजभूत रति देखने में आती है, इसी प्रकार (अज्ञानी) संसारी जीवों में भी उन विषयों में सुहित (अच्छा मानने से, आदर होने से, आकर्षण होने से) मानने से तृष्णा के बीजभूत रति (आसक्ति) देखने में आती है।' विषयों की ऐसी आसक्ति छोड़ने योग्य है, यह बात अवश्य ध्यान में रखने जैसी है, क्योंकि-

श्लोक २५८ : अर्थ :- 'सम्पूर्ण कथन का सारांश यह है कि यहाँ जगत जिसे सुख कहता है, वे सब दुःख ही है तथा वह दुःख आत्मा का धर्म नहीं होने से सम्यग्दृष्टियों को उस दुःख रूप सांसारिक सुखों की अभिलाषा नहीं होती।' अर्थात् सम्यग्दृष्टियों को सुख के आकर्षण का अभिप्राय नहीं होता।

श्लोक २७१ से २७६ : अर्थ :- 'जैसे रोग की प्रतिक्रिया करता हुआ कोई रोगी पुरुष उस रोग अवस्था में रोग के पद को नहीं चाहता अर्थात् सरोग अवस्था को नहीं चाहता (अर्थात् ज्ञानी स्वयं जानता है कि यह जो मैं राग-द्वेष करता हूँ, वह मेरी रोगग्रस्त अवस्था है। क्योंकि उस ने शुद्धात्मा का स्वाद अनुभव किया है तो बारम्बार वह वैसी रागग्रस्त यानी रोगग्रस्त अवस्था क्यों चाहेगा?) तो फिर दूसरे समय रोग उत्पन्न होने की इच्छा के विषय में (अर्थात् नवीन कर्म बन्ध हो, ऐसे कारणों में तो वह क्यों प्रवर्तेगा? पुरुषार्थ की कमज़ोरी न हो तो प्रवर्तेगा ही नहीं) तो कहना ही क्या? अर्थात् फिर से रोग की उत्पत्ति तो वह चाहनेवाला नहीं है। इसी प्रकार जब भाव कर्मों द्वारा पीड़ित होता कर्मजनित क्रियाओं को करनेवाला ज्ञानी किसी भी कर्म पद की इच्छा नहीं करता तो फिर वह इन्द्रियों के विषयों का अभिलाषी है - ऐसा किस न्याय से कहा जा सकता है? - कर्म मात्र को नहीं चाहनेवाले उस सम्यग्दृष्टि को वेदना का प्रतिकार भी असिद्ध नहीं है (अर्थात् प्रतिकार होता है) क्योंकि कषाय रूप रोगसहित उस सम्यग्दृष्टि को वेदना का प्रतिकार नवीन रोगादि को उत्पन्न करने में कारण रूप नहीं कहा जा सकता। (अर्थात् उसे उस वेदना का प्रतिकार अर्थात् रोग की दवा रूप से सेवित भोग नवीन कर्मों के बन्ध रूप नहीं कहे जा सकते), वह सम्यग्दृष्टि भोगों का सेवन करते रहने पर भी वास्तव में भोगों का सेवन करनेवाला नहीं कहा जाता क्योंकि रागरहित (अर्थात् राग में 'मैंपन' नहीं है, ऐसा सम्यग्दृष्टि) जीव को कर्ता बुद्धि के बिना किये हुए कर्म राग के कारण नहीं हैं। यद्यपि कोई-कोई सम्यग्दृष्टि जीव अर्थात् जघन्यवर्ती (अर्थात् चौथे गुणस्थानवाले) सम्यग्दृष्टि को कर्म चेतना तथा कर्मफल चेतना होती है (अर्थात् कर्ता-भोक्ता भाव देखने को मिलता है) तो भी वास्तव में वह ज्ञान चेतना ही है (क्योंकि उस दिखायी देते कर्ता-भोक्ता भाव में 'मैंपन' न होने से उसे ज्ञान चेतना ही है) कर्म में तथा कर्म फल में रहनेवाली चेतना का फल बन्ध होता है, परन्तु उस सम्यग्दृष्टि को अज्ञानमय राग का अभाव होने से (अर्थात् राग में 'मैंपन' का अभाव होने से) बन्ध नहीं होता इसलिये वह ज्ञान चेतना ही है।'

सम्यग्दर्शन की पूर्वभूमिका में और सम्यग्दर्शन प्राप्त करने पर हर जीव को प्रथम क्षण से ही अभिप्राय में संसार विरक्ति होती है। ऐसे जीव अगर अपने पुरुषार्थ की कमज़ोरी के कारण भोग भोगते हुए दिखते हैं, फिर भी उन के अभिप्राय में भोग के प्रति कोई आसक्ति न हाने से बन्ध ना के बराबर ही होता है; ऐसा है रहस्य सम्यग्दृष्टि को भोग बन्ध का करण नहीं होने का।

* * *

२०

निमित्त–उपादान की स्पष्टता

अब आगम भाषा से समझाते हैं कि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति कब होती है ? पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध के श्लोक–

श्लोक ३७८ : अर्थ :– 'दैव (कर्म) योग से, कालादिक लब्धियों की प्राप्ति होने पर संसार–सागर (का किनारा) निकट आने पर अथवा भव्यभाव का विपाक होने पर जीव सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है।'

यहाँ सम्यग्दर्शन के यथार्थ निमित्त का ज्ञान कराया है, अर्थात् कार्य रूप से तो उपादान स्वयं ही परिणमता है परन्तु तब यथार्थ निमित्त की उपस्थिति नियम से होती ही है। इसलिये कहा जा सकता है कि 'कार्य निमित्त से तो होता ही नहीं परन्तु निमित्त के बिना भी नहीं होता' और इसीलिये जिनागम में जीव को पतन के कारणभूत निमित्तों से दूर रहने का उपदेश स्थान–स्थान पर दिया गया है और वह उचित भी है।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत समयसार टीका श्लोक (सभी जगह पर समयसार श्लोक का उल्लेख आने पर यही समझना है) २७८–२७९ : गाथार्थ :– 'जैसे स्फटिक मणि शुद्ध होने से (अर्थात् ज्ञानी जिस में 'मैंपन' करता है वह शुद्धात्मा स्वयं शुद्ध होने से) रागादि रूप से (लालिमा आदि रूप से) अपने आप नहीं परिणमता (ज्ञानी स्वेच्छा से राग रूप नहीं परिणमता इच्छापूर्वक राग नहीं करता) परन्तु अन्य रक्त आदि द्रव्यों द्वारा वह रक्त (–लाल) आदि किया जाता है, उसी प्रकार ज्ञानी (शुद्धात्मा में ही 'मैंपन' करते हुए) अर्थात् आत्मा शुद्ध होने से (अर्थात् शुद्धात्मा स्वयं शुद्ध होने से) रागादि रूप अपने आप नहीं परिणमता परन्तु अन्य रागादि दोषों द्वारा (अर्थात् उस के योग्य ऐसे कर्म के उदय के निमित्त कारण) वह रागी आदि किया जाता है (अर्थात् वह अपनी कमज़ोरी के कारण रागी–द्वेषी होता है)।'

समयसार : श्लोक १७५ :– 'सूर्यकान्त मणि की भाँति (अर्थात् जैसे सूर्यकान्त मणि स्वयं से ही अग्नि रूप नहीं परिणमती, उस के अग्नि रूप परिणमन में सूर्य का बिम्ब निमित्त है, उसी प्रकार) आत्मा स्वयं को रागादि का निमित्त कभी नहीं होता (अर्थात् शुद्धात्मा स्वयं शुद्ध होने से, रागादि रूप अपने आप कभी नहीं परिणमता), उस में निमित्त परसंग ही (परद्रव्य का संग

ही) है–ऐसा वस्तुस्वभाव प्रकाशमान है (सदा वस्तु का ऐसा ही स्वभाव है, किसी ने किया नहीं है)।'

वस्तु का ऐसा ही स्वभाव है कि ख़राब निमित्त से उस का पतन हो सकता है। ऐसा है अनेकान्तवाद जैन सिद्धान्त का। कोई निमित्त को एकान्त से अकर्ता माने और ऐसा ही प्ररूपण करे तो वह जिनमत बाह्य ही है। अर्थात् वह अपने और अन्य अनेकों के पतन का कारण है, यही बात इस श्लोक में भी बतायी गई है कि शुद्धात्मा स्वयं शुद्ध होने से, रागादि रूप अपने आप कभी नहीं परिणमता, परन्तु उस में निमित्त परसंग ही है – ऐसा वस्तुस्वभाव प्रकाशमान है अर्थात् सदा वस्तु का ऐसा ही स्वभाव है, किसी ने किया नहीं है। निमित्त स्वयं उपादान रूप से परिणमता न होने पर भी वह कुछ संयोगों में उपादान पर असर करता है। उसे ही वस्तुस्वभाव कहा है, इसीलिये जैन सिद्धान्त को विवेक से ग्रहण किया जाता है और अपेक्षा से समझा जाता है; न कि एकान्त से जो कि महा अनर्थ का कारण है।

कोई एकान्त से ऐसा माने कि निमित्त तो परम अकर्ता ही है, और स्वच्छन्दता से चाहे जैसे निमित्तों का सेवन करे, तो उसे नियम से मिथ्यात्वी और अनन्त संसारी ही समझना क्योंकि उसे निमित्त का यथार्थ ज्ञान है ही नही। इसीलिये कहा है कि निश्चय से कार्य निमित्त से तो होता ही नहीं क्योंकि उपादान स्वयं ही कार्य रूप से परिणमता है। लेकिन कार्य निमित्त के बिना भी नहीं होता। जब कोई भी कार्य होता है तब उस के योग्य निमित्त की उपस्थिति अवश्य होती ही है – अविनाभाव रूप से होती ही है और इसीलिये मुमुक्षु जीव विवेक से हमेशा निर्बल निमित्तों से बचने का ही प्रयास करता है, क्योंकि वे उस के पतन का कारण बन सकते हैं और यही निमित्त–उपादान की यथार्थ समझ है; निमित्त–उपादान पर विशेष प्रकाश आगे समयसार के निमित्त–उपादान के अधिकार में भी डालेंगे।

◆

२१

उपयोग और लब्धि रूप सम्यग्दर्शन

पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध के श्लोक–

श्लोक ४०४ : अर्थ :– ''इतना विशेष है कि सम्यग्दर्शन और स्वानुभव इन दोनों में विषम व्याप्ति है। क्योंकि 'सम्यग्दर्शन के साथ में उपयोग रूप स्वानुभूति होती ही है' ऐसी समव्याप्ति नहीं है (अर्थात् सम्यग्दर्शन की उपस्थिति के समय स्वात्मानुभूति रूप अनुभव होता भी है और नहीं भी होता। इसलिये समव्याप्ति अर्थात् अविनाभावी उपस्थिति नहीं होती) परन्तु लब्धि में अर्थात् लब्धि रूप (ज्ञान की लब्ध और उपयोग रूपी दो अवस्थायें होती हैं, उन में लब्धि रूपी अवस्था में) स्वानुभूति के साथ सम्यग्दर्शन की समव्याप्ति है (अर्थात् सम्यग्दर्शन की उपस्थिति में ज्ञान में लब्धि रूप से स्वानुभूति की उपस्थिति अविनाभावी अर्थात् नियम से होती ही है।)''

पूर्व में पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध के श्लोक २१५ में बताये अनुसार आत्मा की उपलब्धि 'शुद्ध' विशेषण सहित होती है अर्थात् शुद्धोपयोग रूपी – स्वात्मानुभूति रूपी अनुभव सहित हो तभी वह सम्यग्दर्शन का लक्षण हो सकती है। यदि वह आत्मोपलब्धि अशुद्ध हो तो वह सम्यग्दर्शन का लक्षण नहीं बन सकती। भले शुद्धोपयोग रूपी – स्वात्मानुभूति रूपी अनुभव का सातत्य क्षणिक ही हो, लेकिन उस का सातत्य लब्ध रूप तो सम्यग्दर्शन की उपस्थिति के समय नियम से होता ही है।

पूर्व में हमने शुद्धात्मानुभूति को सम्यग्दर्शन के लक्षण के रूप में स्थापित किया, वह लक्षण उपयोग रूप बहुत ही कम समय के लिये रहता है। परन्तु वह लक्षण जब तक सम्यग्दर्शन होता है तब तक लब्ध रूप से उस के साथ अवश्यंभावी रहता है। यह बात जो लोग चतुर्थ गुणस्थानक में शुद्धात्मानुभूति नहीं मानते, उन को समझना अति आवश्यक है।

❦

२२

स्वानुभूति रहित श्रद्धा

अब, स्वानुभूति रहित श्रद्धा के विषय में बताते हैं – पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध के श्लोक–

श्लोक ४२३ : अर्थ :– 'स्वानुभूति रहित श्रद्धा (अर्थात् कोई ऐसा माने कि नौ तत्त्व की श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है अथवा सच्चे देव–शास्त्र–गुरु की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन मानते हों तो वैसी स्वानुभूति रहित श्रद्धा) समीचीन (सच्ची – कार्यकारी) श्रद्धा नहीं होती इसलिये जो सम्यग्दर्शन के लक्षणभूत श्रद्धा यौगिक रूढ़ि–निरुक्ति से (अर्थात् स्वानुभूति रूपी योग सहित की) सिद्ध अर्थवाली है (अर्थात् सच्ची है – कार्यकारी है) वह भी वास्तव में स्वानुभूति की भाँति अविरुद्ध कथन है (इसलिये श्रद्धा रूप सम्यग्दर्शन, वह स्वानुभूति रूपी सम्यग्दर्शन ही है)।'

स्वानुभूति रहित श्रद्धा कार्यकारी नहीं है। मात्र व्यवहार नय को ही मान्य करनेवाले ज़्यादातर लोग ऐसा मानते हैं कि – सम्यग्दर्शन अर्थात् सात/नौ तत्त्वों की (स्वात्मानुभूति रहित) श्रद्धा अथवा सच्चे देव–शास्त्र–गुरु की (स्वात्मानुभूति रहित) श्रद्धा। सम्यग्दर्शन की यह व्याख्या व्यवहार नय के पक्ष की है। वैसी स्वानुभूति रहित श्रद्धा समीचीन (सच्ची – कार्यकारी) नहीं होती। इसलिये जो सम्यग्दर्शन के लक्षणभूत श्रद्धा यौगिक रूढ़ि – निरुक्ति से यानी स्वात्मानुभूति रूपी योगसहित की सिद्ध अर्थवाली है वही सच्ची है = कार्यकारी है और यह समीचीन (सच्ची – कार्यकारी) श्रद्धा भी वास्तव में स्वानुभूति की भाँति अविरुद्ध कथन है। वैसी श्रद्धा रूपी सम्यग्दर्शन स्वानुभूति रूपी सम्यग्दर्शन ही है अर्थात् जो एक को अर्थात् आत्मा को जानता है, वही सब को अर्थात् सात/नौ तत्त्वों को और सच्चे देव–शास्त्र–गुरु को जानता है। क्योंकि एक आत्मा को जानते ही वह जीव सच्चे देव तत्त्व का आंशिक अनुभव करता है और इसीलिये वह सच्चे देव को अन्त:करण से पहचानता है। ऐसे सच्चे देव को जानते ही अर्थात् स्वात्मानुभूति सहित श्रद्धा होते ही वह जीव वैसा देव बनने के मार्ग में चलनेवाले सच्चे गुरु को भी अन्त:करण से पहचानता है और साथ ही साथ वह जीव वैसे देव बनने का मार्ग बतानेवाले सच्चे शास्त्र को भी पहचानता है।

निश्चय सम्यग्दर्शन की सच्ची व्याख्या ऐसी होने पर भी व्यवहार नय के पक्षवाले को सम्यग्दर्शन की ऐसी सच्ची व्याख्या मान्य नहीं होती। वे ऐसी व्याख्या का ही विरोध करते हैं और इसलिये वे सम्यग्दर्शन यानी सात/नौ तत्त्वों की कही जानेवाली स्वात्मानुभूति रहित श्रद्धा अथवा

सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की कही जाती स्वात्मानुभूति रहित श्रद्धा को ही सम्यग्दर्शन मानते हैं। उन्हें स्वात्मानुभूति रहित की श्रद्धा और स्वात्मानुभूति सहित की श्रद्धा, इन दोनों का अन्तर ज्ञात नहीं होता। शायद वे ज्ञात नहीं करना चाहते। इसलिये वे सम्यग्दर्शन जो कि धर्म का मूल है, उस के विषय में ही अनजान रहकर पूरी ज़िन्दगी धर्म क्रिया उत्तम रीति से करने पर भी संसार का अन्त करनेवाले धर्म को प्राप्त नहीं करते। यह करुणा उत्पन्न करनेवाली बात है।

◆

२३

सम्यग्दृष्टि जीव का निर्विचिकित्सा गुण

सम्यग्दृष्टि जीव, मात्र शुद्धात्मा में ही 'मैंपन' (एकत्व) करने पर भी स्वयं को दूसरे संसारी जीव जैसा ही अर्थात् कर्मों से मलिन भी अनुभव करता है। इसीलिये वह अपने को अन्य संसारी जीवों से ऊँचा मानकर उन के प्रति घृणा इत्यादि के भाव नहीं करता। यही उस का निर्विचिकित्सा गुण है। वह अन्य सभी संसारी जीवों को भी अपने जैसा ही अर्थात् स्वरूप से सिद्ध समान ही समझता है।

पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध के श्लोक-

श्लोक ५८४ : अर्थ :- 'जिस प्रकार जल में कुछ गन्दगी-मलिनता रहती है। ठीक उसी प्रकार जब तक जीव में अशुचि रूपी कर्म हैं, तब तक मैं (अर्थात् सम्यग्दृष्टि = ज्ञानी) और वह सभी संसारी जीव सामान्य रूप से (अर्थात् समान रीति से) निश्चयपूर्वक कर्मों से मलिन हैं (ऐसा सम्यग्दृष्टि का निर्विचिकित्सा गुण)।' अर्थात् सम्यग्दृष्टि = ज्ञानी जीव को किसी भी जीव के प्रति तुच्छता का भाव नहीं होता परन्तु सभी जीवों के प्रति उसे समभाव = साम्यभाव होता है। यही सम्यग्दृष्टि जीव का निर्विचिकित्सा गुण है।

इसलिये किसी भी कहे जानेवाले धार्मिक व्यक्ति को अपने आप को अन्य जीवों से ऊँचा मानकर अन्य जीवों के साथ तुच्छतापूर्ण व्यवहार करना ठीक नहीं है।

⁂

२४

सम्यग्दर्शन के लिये योग्यता

सम्यग्दर्शन के लिये जीव की योग्यता के सन्दर्भ में पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध के श्लोक–

श्लोक ७२४ : अर्थ :– 'आठों मूल गुण स्वभाव से अथवा कुल परम्परा से गृहस्थों को प्राप्त होते हैं। इन मूल गुणों के बिना जीवों को सभी प्रकार के व्रत तथा सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हो सकते।' अर्थात् मूल गुणों को जीव की सम्यग्दर्शन के लिये योग्यता रूप कहा है।

रत्नकरण्डक श्रावकाचार श्लोक ६६ के अनुसार 'गणधरों का कहना है कि मद्य त्याग, मांस त्याग और मधु त्याग के साथ पाँच अणुव्रतों का पालन गृहस्थों के आठ मूल गुण हैं।'

श्लोक ७४० : अर्थ :– 'गृहस्थों को अपनी शक्ति अनुसार प्रतिमा लेकर अथवा बिना प्रतिमा लिये व्रत धारण कर के दोनों प्रकार का संयम भी पालन करना चाहिये।' अर्थात् सभी को मात्र आत्मलक्ष्य से अर्थात् आत्मप्राप्ति के लिये संयम पालन करना चाहिये।

यही बात परमात्मप्रकाश–मोक्षाधिकार गाथा ६४ में इस प्रकार बतायी है कि 'पंच परमेष्ठी को वन्दन, अपने अशुभ कर्मों की निन्दा और अपराधों का प्रायश्चित्तादि (प्रतिक्रमण) विधि से निवृत्ति ये सभी पुण्य के कारण हैं, मोक्ष के कारण नहीं; इसलिये पहली अवस्था में पाप को दूर करने के लिये ज्ञानी पुरुष यह सब करते हैं, कराते हैं और करनेवाले को अच्छा मानते हैं। फिर भी निर्विकल्प शुद्धोपयोग अवस्था में ज्ञानी जीव इन तीनों में से एक भी न करे, न कराये और न करनेवाले को अच्छा माने। (क्योंकि निर्विकल्प शुद्धोपयोग अवस्था में ज्ञानी जीव को कोई विकल्प ही नहीं होते)।' अर्थात् भूमिकानुसार उपदेश होता है, एकान्त से नहीं।

पहली अवस्था में अर्थात् सम्यक्त्व सन्मुख मिथ्यादृष्टि जीव को पाप से मुक्त होने का और समत्वभाव प्राप्त करने का निम्न प्रकार से प्रयोगात्मक अभ्यास करना चाहिये। मात्र वाचा ज्ञान से अपना कल्याण होना बहुत कठिन है। इस कारण से हम आगे प्रयोगात्मक साधना बताते हैं, जो सभी के लिये योग्यता बनाने को और योग्यता बनाये रखने में कार्यकारी है। तदुपरान्त कुछ प्रयोगात्मक साधनाएँ सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के बाद भी अपनी भूमिका अनुसार स्वयंभू होती हैं।

सबसे पहले विश्व के सभी जीवों के प्रति हमें निम्नलिखित चार भाव ही करने हैं अर्थात् उन्हे इन चार भावों में ही वर्गीकृत करना है। अन्यथा किये हुए भाव हमारे लिये बन्धन रूप बन सकते हैं।

१. मैत्री :– नि:स्वार्थ परमकल्याणमय मैत्री। लोक के सभी जीवों के प्रति परमकल्याणमय मैत्री का भाव सँजोना है। अर्थात् सभी जीवों का परमकल्याण चाहना है। इस से हमारे मन में किसी के भी प्रति दुश्मनी नहीं रहेगी और न ही किसी के प्रति डाह या ईर्ष्या रहेगी। जब हमारे दिल में किसी के प्रति दुश्मनी या ईर्ष्या होती है, तब जिन के प्रति ऐसा भाव किया है उन को, उस भाव से फ़ायदा या नुक़सान हो न हो परन्तु हमारा बहुत बड़ा नुक़सान होता है। (१) हमारे दिल में उन को याद करने से चुभन होती है। (२) हमारे शरीर के ऊपर उस का बुरा असर होता है। (३) हमारी प्रसन्नता भंग होती है (४) अनन्त कर्मों का बन्ध होता है।

इस के विपरीत, जब हम सभी जीवों के प्रति परम मैत्री का भाव भाते हैं, तब हमारा मन प्रसन्न रहता है और दुश्मनी या ईर्ष्या न होने के कारण पाप बन्ध से भी बच जाते हैं। जिस जीव को मत–पन्थ–सम्प्रदाय का पक्ष, आग्रह, हठाग्रह या दुराग्रह होगा उस जीव के लिये सब के साथ मैत्री करना असम्भव ही होगा क्योंकि उस जीव को अपना–परायापन और पसन्द–नापसन्दगी के तीव्र भाव होने से वह जीव सभी जीवों को अपना मित्र मान ही नहीं पायेगा। वह जीव अपने सम्प्रदायवालों से तो बहुत प्रेम करेगा मगर अन्यों से उतना ही घृणा या तिरस्कार के भाव का सेवन करेगा। ऐसे भाव अध्यात्म के घातक होने से ही ज्ञानियों ने मत–पन्थ–सम्प्रदाय के पक्ष, आग्रह, हठाग्रह या दुराग्रह का सेवन करने के लिये मना किया है। फिर भी अगर कोई जीव एक सम्प्रदाय विशेष का आग्रह रखकर, उसी सम्प्रदाय विशेष में सम्यग्दर्शन है ऐसा मानकर अध्यात्म मार्ग में आगे बढ़ना चाहता है तो यह उस जीव की बहुत बड़ी ग़लती होगी और उसे अध्यात्म मार्ग तो दूर संसार में भी शान्ति और प्रसन्नता मिलना–टिकना कठिन हो जायेगा।

२. प्रमोद :– गुण/गुणी के प्रति अहोभाव। पंच परमेष्ठी के प्रति, सभी उपकारी तथा गुणी जीवों के प्रति, गुणों के प्रति प्रमोदभाव सँजोना। गुणों के प्रति और गुणी के प्रति प्रमोदभाव भाने से हम में उन गुणों का खिलना आसान हो जाता है। प्रकृति की व्यवस्था ऐसी है कि हमें गुणों के प्रति आदरभाव होने से हमारे भीतर वे गुण प्रगट होते हैं और हमको उन जीवों के प्रति कभी भी ईर्ष्या का भाव नहीं आता। सभी जीवों में कोई न कोई गुण अवश्य होते हैं, हमारी दृष्टि हमें उन गुणों के प्रति रखनी है। न कि उन के दुर्गुणों के प्रति। जब हम किसी को याद करें, तब हमें उन के गुण याद आने चाहिये न कि दुर्गुण। इससे हमारे मन में किसी भी जीव के प्रति तुच्छपने का भाव नहीं होगा और हम पापबन्धन से भी बच जायेंगे। हमारा मन प्रसन्न रहेगा। परन्तु जिस जीव को मत–पन्थ–सम्प्रदाय का पक्ष, आग्रह, हठाग्रह या दुराग्रह होगा, उस जीव के लिये सबके

गुणों का प्रमोद करना असम्भव ही होगा क्योंकि उस जीव को अपना-परायापन और पसन्द-नापसन्दगी के तीव्र भाव होने से वह जीव सभी जीवों के गुणों से प्रमुदित नहीं हो पायेगा। वह जीव अपने सम्प्रदायवालों के गुणों से तो शायद प्रमोद कर भी लेगा, मगर अन्यों के तो अवगुण ही देखता रहेगा और उन अवगुणों को भी बढ़ा-चढ़ाकर प्रकाशित करता रहेगा। ऐसे भाव अध्यात्म के लिये घातक होने से ही ज्ञानियों ने मत-पन्थ-सम्प्रदाय के पक्ष, आग्रह, हठाग्रह या दुराग्रह का सेवन करने से रोका है। फिर भी अगर कोई जीव एक सम्प्रदाय विशेष का आग्रह रखकर, उसी सम्प्रदाय विशेष में सम्यग्दर्शन है ऐसा मानकर अध्यात्म मार्ग में आगे बढ़ना चाहता है तो यह उस जीव की बहुत बड़ी ग़लती होगी और उसे अध्यात्म मार्ग तो दूर संसार में भी शान्ति और प्रसन्नता मिलना-टिकना कठिन हो जायेगा।

३. करुणा :- आध्यात्मिक दया। अधर्मी जीवों के प्रति, विपरीत धर्मी जीवों के प्रति, अनार्य जीवों के प्रति, दीन-दु:खी जीवों के प्रति करुणाभाव सँजोना। इस हुण्डा अवसर्पिणी पंचम काल में जैनसमाज में भी कई विकृतियाँ पैठ गई हैं फिर अन्य धर्म की तो बात ही क्या। उन विकृति फैलानेवालों के प्रति और उन के अनुयायियों के प्रति हमें गुस्सा या द्वेष करना योग्य नहीं परन्तु करुणाभाव रखना योग्य है। इस से हमारी प्रसन्नता अखण्ड बनी रहेगी और हम पापबन्धन से भी बच जायेंगे। परन्तु जिस जीव को मत-पन्थ-सम्प्रदाय का पक्ष, आग्रह, हठाग्रह या दुराग्रह होगा, उस जीव के लिये सभी जीवों के प्रति करुणा रखना असम्भव ही होगा क्योंकि उस जीव को अपना-परायापन और पसन्द-नापसन्दगी के तीव्र भाव होने से वह जीव सभी जीवों के प्रति करुणा बुद्धि नहीं रख पायेगा। वह जीव अपने सम्प्रदायवालों के ऊपर शायद करुणा कर भी लेगा, मगर औरों के लिये तो वह तिरस्कार, रोष और तुच्छपने का ही भाव करेगा। ऐसे भाव अध्यात्म के घातक होने से ही ज्ञानियों ने मत-पन्थ-सम्प्रदाय के पक्ष, आग्रह, हठाग्रह या दुराग्रह सेवन करने से रोका है। फिर भी अगर कोई जीव एक सम्प्रदाय विशेष का आग्रह रखकर, उसी सम्प्रदाय विशेष में सम्यग्दर्शन है ऐसा मानकर अध्यात्म मार्ग में आगे बढ़ना चाहता है तो यह उस जीव की बहुत बड़ी ग़लती होगी और उसे अध्यात्म मार्ग तो दूर संसार में भी शान्ति और प्रसन्नता मिलना-टिकना कठिन हो जायेगा।

४. माध्यस्थ्य भाव :- आध्यात्मिक अभिप्रायपूर्वक उदासीनता। हमने सभी जीवों के प्रति परम कल्याणमय मैत्री का भाव सँजोया है, लेकिन जो हमें अपना दुश्मन मानते हैं, वे लोग हमारे साथ कुछ भी ग़लत व्यवहार कर सकते हैं। तब हमें उन के प्रति गुस्सा या द्वेष न करके, उन

के प्रति उपेक्षाभाव अर्थात् कि मध्यस्थभाव भाना है और साथ ही आगे जो हम बतानेवाले हैं, वह ''धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)'' का भाव भी सँजोना है, जिस से हम उस अपमान आदि का हमारे हक़ में उपयोग कर सकें और हम कर्मों के दुष्चक्र से भी बच सकें। परन्तु जिस जीव को मत-पन्थ-सम्प्रदाय का पक्ष, आग्रह, हठाग्रह या दुराग्रह होगा, उस जीव के लिये मध्यस्थभाव रखना असम्भव ही होगा क्योंकि उस जीव को अपना-परायापन और पसन्द-नापसन्दगी के तीव्र भाव होने से वह जीव दुश्मन जीवों के प्रति मध्यस्थ बुद्धि नहीं रख पायेगा। वह जीव अपने सम्प्रदायवालों के ऊपर शायद माध्यस्थभाव कर भी लेगा, मगर अन्यों के लिये तो वह तिरस्कार, रोष और तुच्छपने का ही भाव करेगा। ऐसे भाव अध्यात्म के घातक होने से ही ज्ञानियों ने मत-पन्थ-सम्प्रदाय के पक्ष, आग्रह, हठाग्रह या दुराग्रह सेवन करने से रोका है। फिर भी अगर कोई जीव एक सम्प्रदाय विशेष का आग्रह रखकर, उसी सम्प्रदाय विशेष में सम्यग्दर्शन है ऐसा मानकर अध्यात्म मार्ग में आगे बढ़ना चाहता है तो यह उस जीव की बहुत बड़ी ग़लती होगी और उसे अध्यात्म मार्ग तो दूर संसार में भी शान्ति और प्रसन्नता मिलना-टिकना कठिन हो जाएगा।

अनादि से हम दुःखों का प्रतिकार करना ही सीखे हैं, उन का स्वीकार करना कभी नहीं सीखे। तब उन दुःखों का स्वागत करना तो बहुत दूर की बात है अपितु निम्नलिखित स्वागत करने के तरीक़े से हम उन दुःखों का सर्वोत्कृष्ट सकारात्मक ढंग (highest level of positive thinking) से सामना करके उन दुःखों के दुष्चक्र से मुक्ति पा सकते हैं। इस तरीक़े को हस्तगत/अभ्यस्त करने के लिये निम्नलिखित ''धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)'' दिन में कम से कम दस बार पढ़कर, मन में बैठाना आवश्यक है। क्योंकि जीवों की प्रतिक्रिया तात्कालिक होती है, प्रतिक्रिया के लिये सोचने का ज़्यादा समय नहीं होता; आत्मा में रहे हुए पूर्व निर्धारित संस्कार अनुसार ही तात्कालिक प्रतिक्रिया होती है, उसे बदलने के लिये निम्नलिखित ''धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)'' दिन में कम से कम दस बार पढ़कर, मन में बिठाना आवश्यक है। तब फिर धीरे-धीरे जो रोष पहले सालों/महीनों तक रहता था, वह दिनों के भीतर ही समाप्त होने लगेगा। आगे-आगे ''धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)'' का अभ्यास जितना गहन हो जायेगा, उतना - उतना मन का रोषयुक्त रहने का काल कम होता जायेगा और एक दिन ऐसा भी आयेगा कि फिर मन में रोष या द्वेष का जन्म ही नहीं होगा; यही अपना लक्ष्य होना चाहिये। इस तरीक़े से हम दुःख के दुष्चक्र से बच सकते

हैं और अपनी प्रसन्नता भी अक्षत रख सकते हैं। परन्तु जिस जीव को मत-पन्थ-सम्प्रदाय का पक्ष, आग्रह, हठाग्रह या दुराग्रह होगा, उस जीव के लिये ''धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)'' का भाव रखना असम्भव ही होगा क्योंकि उस जीव को अपना-परायापन और पसन्द-नापसन्दगी के तीव्र भाव होने से, अपने मत-पन्थ-सम्प्रदाय का घमण्ड होने से और अपने आप को दूसरों से ऊँचा मानने से, अन्यों के लिये तो वह तिरस्कार, रोष और तुच्छपने का ही भाव रखेगा; ऐसे भाव अध्यात्म के घातक होने से ही ज्ञानियों ने मत-पन्थ-सम्प्रदाय के पक्ष, आग्रह, हठाग्रह या दुराग्रह सेवन करने से रोका है। फिर भी अगर कोई जीव एक सम्प्रदाय विशेष का आग्रह रखकर, उसी सम्प्रदाय विशेष में सम्यग्दर्शन है ऐसा मानकर अध्यात्म मार्ग में आगे बढ़ना चाहता है तो यह उस जीव की बहुत बड़ी ग़लती होगी और उसे अध्यात्म मार्ग तो दूर संसार में भी शान्ति और प्रसन्नता मिलना-टिकना कठिन हो जाएगा।

''धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)''

एक बात तो निश्चित ही है कि हमें जो भी दु:ख आता है, उस में दोष हमारे पूर्व पापों का ही होता है, अन्य किसी का भी नहीं। जो अन्य कोई दु:ख देते ज्ञात होते हैं, वे तो मात्र निमित्त ही हैं। उस में उन का कुछ भी दोष नहीं है। वे तो आप को, आप के पाप से छुड़ानेवाले हैं। तथापि ऐसी समझ न होने से आप को निमित्त के प्रति ज़रा सा भी रोष (क्रोध) आये तो फिर से आप को पाप का बन्धन होता है, जो कि भविष्य के दु:खों का जनक (कारण) बनता है। इसी प्रकार अनादि से हम दु:ख भोगते हुए, नये दु:खों का सृजन करते आ रहे हैं और अभी भी कर रहे हैं। इसलिये ऐसे अनन्त दु:खों से छूटने का मात्र एक ही मार्ग है कि दु:ख के निमित्त को मैं उपकारी मानूँ, क्योंकि वह मुझे पाप से छुड़ाने में निमित्त हुआ है। उस निमित्त का किंचित् भी दोष गुनाह चिन्तवन न करूँ, परन्तु अपने पूर्व के पाप ही अर्थात् अपने पूर्व के दुष्कृत्य ही वर्तमान दु:ख के कारण हैं; इसलिये दु:ख के समय ऐसा चिन्तवन करना कि :-

१. ओहो! मैंने ऐसा दुष्कृत्य किया था! धिक्कार है मुझे! धिक्कार है! उस दुष्कृत्य के लिये मिच्छामि दुक्कडं! उत्तम क्षमा! **(यह हुआ प्रतिक्रमण)**

२. और अब मैं निर्णय करता हूँ कि ऐसे किसी भी दुष्कृत्य का आचरण फिर से कभी नहीं करूँगा! कभी भी नहीं करूँगा! **(यह हुआ प्रत्याख्यान)** और

३. अपने दु:ख के कारण रूप से अन्यों को दोषी देखना छोड़कर अपने ही पूर्वकृत भावों अर्थात् पूर्व के अपने ही पाप कर्मों का ही दोष देखकर, अन्यों को उन पापों से छुड़ानेवाला

समझकर, उपकारी मानकर, मन में धन्यवाद दो! स्वागतम् कहो! (Thank you! Welcome!) और नये पापों से बचो। **(यह हुआ समभाव - संवर - सामायिक)**

इस तरह ‘‘धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)’’ का उपयोग हर जगह करना चाहिये। क्योंकि आत्म प्राप्ति के लिये मन का शान्त और प्रसन्न होना अति आवश्यक है। दूसरे, जिसे हम अपना नुक़सान समझते हैं, वह वास्तव में हमारा (आत्मा का) फ़ायदा है; ऐसा समझते ही ‘‘धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)’’ का भाव अपने मन में स्थायी रूप ले लेगा अर्थात् सर्वदा उपस्थित रहेगा, जिस से हम नये कर्मों से बच जायेंगे और पुराने कर्मों की समतापूर्वक निर्जरा हो जायेगी। ‘‘धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)’’ हर जगह उपयोगी होने के कुछ और दृष्टान्त हम आगे प्रस्तुत कर रहे हैं।

जैसे, कोई आलोचक आप की आलोचना कर रहा है, तब यह सोचना है :-

१. ओहो! मैंने ऐसा दुष्कृत्य किया था! धिक्कार है मुझे! धिक्कार है! उस दुष्कृत्य के लिये मिच्छामि दुक्कडं! उत्तम क्षमा! (प्रतिक्रमण)

२. अब के बाद ऐसा दुष्कृत्य मैं कभी नहीं करूँगा! कभी भी नहीं करूँगा! (प्रत्याख्यान)

३. आलोचक को अपने पाप कर्मों की सफ़ाई में मदद करनेवाला उपकारी मानकर उन के लिये मन में धन्यवाद चिन्तन करना। इस से उन के प्रति रोष या द्वेष का जन्म ही नहीं होगा, एकमात्र करुणाभाव होगा। इस से हम नये कर्म बन्धन से बच जायेंगे, पुराने कर्मों का समताभावपूर्वक भुगतना हो जाएगा और अपनी प्रसन्नता बनी रहेगी; इसलिये ऐसे भाव सदैव स्वागत योग्य हैं, अर्थात् स्वागतम्! स्वागतम्! इस कारण हम नये पाप कर्मों से और दु:खी होने से बच जायेंगे जो हम अनादि से करते आये हैं, जिससे हम दु:खी हैं और कर्मों के दुष्चक्र में फँसे हुए हैं। (समभाव - संवर - सामायिक) यह है ‘‘धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)’’ का प्रभाव।

अगर कोई आलोचक दूसरे किसी की आलोचना कर रहा है तब यह सोचना है :-

१. ओहो! मैंने भी ऐसे (आलोचना का और जिसकी आलोचना हो रही है वैसे) दुष्कृत्य अनेक बार किये हैं! धिक्कार है मुझे! धिक्कार है! ऐसे दुष्कृत्यों के लिये मिच्छामि दुक्कडं! उत्तम क्षमा! (प्रतिक्रमण)

२. अब के बाद ऐसे दुष्कृत्य मैं कभी नहीं करूँगा! कभी भी नहीं करूँगा! (प्रत्याख्यान)

३. आलोचक को और जिस की आलोचना हो रही है, उन दोनों को अपने पाप कर्मों

की सफ़ाई में मदद करनेवाले उपकारी मानकर, उन के लिये मन में धन्यवाद चिन्तन करना। इस से उन के प्रति रोष, द्वेष, तुच्छपना, निन्दक भाव, घृणा इत्यादि का जन्म ही नहीं होगा, एकमात्र करुणाभाव होगा। इस से हम नये कर्म बन्ध से बच जायेंगे, पुराने कर्मों का समताभावपूर्वक भुगतना हो जायेगा और अपनी प्रसन्नता बनी रहेगी; इसलिये ऐसे भाव सदैव स्वागत योग्य हैं, अर्थात् स्वागतम! स्वागतम! इस कारण हम नये पाप कर्मों से और दुःखी होने से बच जायेंगे जो हम अनादि से करते आये हैं जिस से हम दुःखी हैं और उन कर्मों के दुष्चक्र से भी बच जायेंगे। (समभाव – संवर – सामायिक) यह है ‘‘धन्यवाद! स्वागतम! (Thank you! Welcome!)’’ का प्रभाव।

अगर हम किसी को कोई ग़लत काम करते हुए देखें, किसी को ग़लत काम करते हुए वृत्तपत्र या अन्य समाचार माध्यमों के द्वारा जानें अथवा दूसरों के द्वारा सुनें, तब यह सोचना है :–

१. ओहो! मैंने भी ऐसा ग़लत काम अनेक बार किया होगा! धिक्कार है मुझे! धिक्कार है! ऐसे दुष्कृत्य के लिये मिच्छामि दुक्कडं! उत्तम क्षमा! (प्रतिक्रमण)

२. अब के बाद ऐसा ग़लत काम मैं कभी नहीं करूँगा! कभी भी नहीं करूँगा! (प्रत्याख्यान)

३. ग़लत काम करनेवाले को अपने पाप कर्मों की याद दिलानेवाला और वैसे कर्मों की सत्ता में रहते हुए ही सफ़ाई करने में मदद करनेवाले उपकारी मानकर उन के लिये मन में धन्यवाद चिन्तन करना। इस से उन के प्रति रोष, द्वेष, तुच्छपना, निन्दक भाव, घृणा इत्यादि का जन्म ही नहीं होगा, एकमात्र करुणाभाव होगा। इस से हम नये कर्म बन्ध से बच जायेंगे, पुराने कर्मों का समताभावपूर्वक भुगतना हो जायेगा और अपनी प्रसन्नता बनी रहेगी; इसलिये ऐसे भाव सदैव स्वागत योग्य हैं, अर्थात् स्वागतम! स्वागतम! इस कारण हम नये पाप कर्मों से और दुःखी होने से बच जायेंगे जो हम अनादि से करते आये हैं, जिस से हम दुःखी हैं और कर्मों के दुष्चक्र में फँसे हुए हैं। (समभाव – संवर – सामायिक) यह है ‘‘धन्यवाद! स्वागतम! (Thank you! Welcome!)’’ का प्रभाव।

अगर हम किसी को धर्म की निन्दा करते हुए सुनें, साधु की निन्दा करते हुए सुनें, श्रावक की निन्दा करते हुए सुनें, विकृत धर्म का प्रचार–प्रसार करते हुए जानें, एकान्त धर्म के प्रचार–प्रसार करते हुए जानें या व्यवहार–क्रिया में धर्म मानते और प्रचार करते जानें, तब यह सोचना है :–

१. ओहो! मैंने भी ऐसा अनेक बार किया है, इसी कारण से तो मैं अब तक इस संसार में हूँ! धिक्कार है मुझे! धिक्कार है! ऐसे कर्मों और मान्यता के लिये मिच्छामि दुक्कडं! उत्तम क्षमा! (प्रतिक्रमण)

२. अब के बाद मैं ऐसे ग़लत काम या विरुद्ध धर्म की मान्यता कभी नहीं करूँगा! कभी भी नहीं करूँगा! (प्रत्याख्यान)

३. ऐसे ग़लत काम करनेवाले को और ऐसी ग़लत मान्यतावालों को अपने पाप कर्मों की याद दिलानेवाला और वैसे कर्मों की सत्ता में रहते हुए ही सफ़ाई करने में मदद करनेवाला उपकारी मानकर, उन के लिये मन में धन्यवाद चिन्तन करना। इस से उन के प्रति रोष, द्वेष, तुच्छपना, निन्दक भाव, घृणा इत्यादि का जन्म ही नहीं होगा, एकमात्र करुणाभाव होगा। इस से हम नये कर्म बन्ध से बच जायेंगे, पुराने कर्मों का समताभावपूर्वक भुगतना हो जायेगा और अपनी प्रसन्नता बनी रहेगी; इसलिये ऐसे भाव सदैव स्वागत योग्य हैं, अर्थात् स्वागतम्! स्वागतम्! इस कारण हम ऐसे नये पाप कर्मों से और दुःखी होने से बच जायेंगे जो हम अनादि से करते आये हैं, जिस से हम दुःखी हैं और कर्मों के दुष्चक्र में फँसे हुए हैं। (समभाव – संवर – सामायिक) यह है ‘‘धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)’’ का प्रभाव।

अगर हम किसी मनुष्य को अथवा किसी पंछी या प्राणी को हिंसा करते हुए देखें या सुनें, तब यह सोचना है :–

१. ओहो! मैंने भी ऐसा अनेक बार किया होगा और अगर मैं इस भव में सम्यग्दर्शन प्राप्त करके जल्द ही संसार से मुक्त नहीं होता तो ऐसा अनेकों बार कर सकता हूँ! धिक्कार है मुझे! धिक्कार है! ऐसी हिंसा के लिये मिच्छामि दुक्कडं! उत्तम क्षमा! (प्रतिक्रमण)

२. अब के बाद मैं ऐसी हिंसा कभी नहीं करूँगा! कभी भी नहीं करूँगा! (प्रत्याख्यान)

३. ऐसी हिंसा करनेवाले को अपने पाप कर्मों की याद दिलानेवाला और वैसे कर्मों की सत्ता में रहते हुए ही सफ़ाई करने में मदद करनेवाला उपकारी मानकर, उन के लिये मन में धन्यवाद चिन्तन करना। इस से उन के प्रति रोष, द्वेष, तुच्छपना, निन्दक भाव, घृणा इत्यादि का जन्म ही नहीं होगा, एकमात्र करुणाभाव होगा। जिस से हम नये कर्म बन्ध से बच जायेंगे, पुराने कर्मों का समताभावपूर्वक भुगतना हो जायेगा और अपनी प्रसन्नता बनी रहेगी; इसलिये ऐसे भाव सदैव स्वागत योग्य हैं, अर्थात् स्वागतम्! स्वागतम्! इस कारण हम नये पाप कर्मों से और दुःखी होने से भी बच जायेंगे जिन्हें हम अनादि से करते आये हैं, जिस से हम दुःखी हैं और कर्मों के दुष्चक्र में फँसे हुए हैं। (समभाव – संवर – सामायिक) यह है ‘‘धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)’’ का प्रभाव।

अगर हम किसी पापी को देखें, तब यह सोचना है :-

१. ओहो! मैंने भी ऐसे पाप अनेक बार किये होंगे और अगर मैं इस भव में सम्यग्दर्शन प्राप्त करके जल्द ही संसार से मुक्त नहीं होता तो ऐसे पाप अनेकों बार कर सकता हूँ! धिक्कार है मुझे! धिक्कार है! ऐसे पापों के लिये मिच्छामि दुक्कडं! उत्तम क्षमा! (प्रतिक्रमण)

२. अब के बाद मैं ऐसे पाप कभी नहीं करूँगा! कभी भी नहीं करूँगा! (प्रत्याख्यान)

३. ऐसे पापी को अपने पाप कर्मों की याद दिलानेवाला और वैसे कर्मों की सत्ता में रहते हुए ही सफ़ाई करने में मदद करनेवाला उपकारी मानकर, उन के लिये मन में धन्यवाद चिन्तन करना। इस से उन के प्रति रोष, द्वेष, तुच्छपना, निन्दक भाव, घृणा इत्यादि का जन्म ही नहीं होगा, एकमात्र करुणाभाव होगा। इस से हम नये कर्म बन्ध से बच जायेंगे, पुराने कर्मों का समताभावपूर्वक भुगतना हो जायेगा और अपनी प्रसन्नता बनी रहेगी; इसलिये ऐसे भाव सदैव स्वागत योग्य हैं, अर्थात् स्वागतम्! स्वागतम्! इस कारण हम नये पाप कर्मों से और दुःखी होने से भी बच जायेंगे जो हम अनादि से करते आये हैं, जिस से हम दुःखी हैं और कर्मों के दुष्चक्र में फँसे हुए हैं। (समभाव - संवर - सामायिक) यह है ''धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)'' का प्रभाव।

अगर हम किसी गन्दगी या गन्दले को देखें, तब यह सोचना है :-

१. ओहो! मैंने भी ऐसी गन्दगी में अनेक बार जन्म लिया होगा और अगर मैं इस भव में सम्यग्दर्शन प्राप्त करके जल्द ही संसार से मुक्त नहीं होता तो ऐसी गन्दगी में मुझे अनेकों बार जन्म लेना पड़ सकता है! धिक्कार है मुझे! धिक्कार है! ऐसे पापों के लिये मिच्छामि दुक्कडं! उत्तम क्षमा! (प्रतिक्रमण)

२. अब के बाद मैं ऐसा पाप कभी नहीं करूँगा, जिससे मुझे गन्दगी में जन्म लेना पड़े! कभी भी नहीं करूँगा! (प्रत्याख्यान)

३. ऐसी गन्दगी को या गन्दले को अपने पाप कर्मों की याद दिलानेवाला और वैसे कर्मों की सत्ता में रहते हुए ही सफ़ाई करने में मदद करनेवाला उपकारी मानकर, उन के लिये मन में धन्यवाद चिन्तन करना। इस से उन के प्रति रोष, द्वेष, तुच्छपना, निन्दक भाव, घृणा इत्यादि का जन्म ही नहीं होगा, एकमात्र करुणाभाव होगा। जिस से हम नये कर्म बन्ध से बच जायेंगे, पुराने कर्मों का समताभावपूर्वक भुगतना हो जायेगा और अपनी प्रसन्नता बनी रहेगी; इसलिये ऐसे

भाव सदैव स्वागत योग्य हैं, अर्थात् स्वागतम्! स्वागतम्! इस कारण हम नये पाप कर्मों से और दु:खी होने से भी बच जायेंगे जो हम अनादि से करते आये हैं, जिस से हम दु:खी हैं और कर्मों के दुष्चक्र में फँसे हुए हैं। (समभाव – संवर – सामायिक) यह है ''धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)'' का प्रभाव।

अगर हमें किसी के कारण आर्थिक या अन्य कोई भी नुक़सान हो, तब यह सोचना है :–

१. ओहो! मैंने भी ऐसा किसी का नुक़सान करवाया होगा! धिक्कार है मुझे! धिक्कार है! ऐसे कार्य के लिये मिच्छामि दुक्कडं! उत्तम क्षमा! (प्रतिक्रमण)

२. अब के बाद मैं ऐसा कार्य कभी नहीं करूँगा, जिस से किसी का नुक़सान हो! कभी भी नहीं करूँगा! (प्रत्याख्यान)

३. ऐसा नुक़सान करानेवाले को अपने पाप कर्मों की सफ़ाई करने में मदद करनेवाला उपकारी मानकर, उन के लिये मन में धन्यवाद चिन्तन करना। इस से उन के प्रति रोष, द्वेष, तुच्छपना, निन्दक भाव, घृणा इत्यादि का जन्म ही नहीं होगा, एकमात्र करुणाभाव होगा। इस से हम नये कर्म बन्ध से भी बच जायेंगे, पुराने कर्मों का समताभावपूर्वक भुगतना हो जायेगा और अपनी प्रसन्नता बनी रहेगी; इसलिये ऐसे भाव सदैव स्वागत योग्य हैं, अर्थात् स्वागतम्! स्वागतम्! इस कारण हम नये पाप कर्मों से और दु:खी होने से भी बच जायेंगे जो हम अनादि से करते आये हैं और जिन से हम दु:खी हैं और कर्मों के दुष्चक्र में फँसे हुए हैं। (समभाव – संवर – सामायिक) यह है ''धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)'' का प्रभाव।

अगर अपना आर्थिक या अन्य कोई भी नुक़सान ख़ुद के कारण होता है, तब यह सोचना है:– १. मेरे इस जन्म में कमाया हुआ धन या अन्य कोई भी वस्तु मेरे पिछले कर्मों का हिसाब चुकाने में काम आया। जैसे कि हम अगर किसी से ऋण (loan) लेते हैं और जब वह वापिस जमा करा देते हैं, तब हमें आनन्द होता है, सन्तोष होता है कि हम ऋणमुक्त हो गये। इसी तरह यह भी हमारा पिछले कई जन्मों में लिया गया ऋण ही है, लेकिन वह बात हम भूल गये होने से हमें दु:ख होता है।

२. भगवान ने आश्वासन दिया है कि हमें कभी दूसरे के कर्मों की सज़ा मिलने वाली नहीं है। इसलिये यह बात तय है कि वह हमारा ही लिया हुआ ऋण था, जिस का हमने अभी नुक़सान के रूप में भुगतान किया है।

३. इस कारण से यह सोचना चाहिये कि मैं ऋणमुक्त हो गया। उस का आनन्द और सन्तोष

लेना चाहिये। इस से हम नये कर्म बन्ध से बच जायेंगे, पुराने कर्मों का समताभाव पूर्वक भुगतना हो जायेगा और अपनी प्रसन्नता बनी रहेगी। हम नये पाप कर्मों से और दुःखी होने से बच जायेंगे जो हम अनादि से करते आये हैं, जिस से हम दुःखी हैं और कर्मों के दुष्चक्र में फँसे हुए हैं। यह है ''धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)'' का प्रभाव।

इस तरह ''धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)'' का उपयोग हम अनेक परिस्थितियों में करके अपना फ़ायदा ले सकते हैं और अपने को कर्मों के दुष्चक्र से मुक्त करा सकते हैं।

कर्मों के दुष्चक्र में फँसे हुए रहकर, हम अनादि से अपना भविष्य तय करते आ रहे हैं और आज भी कर रहे हैं। अनादि से हम अपना भविष्य दो प्रकार से तय करते आ रहे हैं, एक वर्तमान में अपने को मिले हुये संयोग में रति-अरति (पसन्द-नापसन्द) करके अर्थात् वर्तमान परिस्थिति के ऊपर प्रतिक्रिया के रूप में और दूसरे, नयी क्रिया के रूप में अर्थात् निदान और पुण्य-पाप करके। इसलिये ही जीव जब तक सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं करता, तब तक उस के कर्मों का दुष्चक्र समाप्त होनेवाला नहीं है। आगे हम निदान के बारे में कुछ समझाने का प्रयास करते हैं।

हम जाने-अनजाने में कई तरह से हर दिन निदान करते रहते हैं। इसे अंग्रेज़ी में law of attraction (आकर्षण का नियम) या secret (रहस्य) के नाम से कई लोग जानते हैं और जाने-अनजाने में वे निदान शल्य बाँधते हैं। जैसे कि हम जब टीवी, सिनेमा, नाटक इत्यादि देखते हुए कुछ बातें तय कर लेते हैं। उदाहरण - हमको टीवी, सिनेमा, नाटक इत्यादि का कोई पात्र पसन्द आ गया, कोई बंगला या फ़्लॅट या फ़र्नीचर पसन्द आ गया, कोई प्रसंग पसन्द आ गया, कोई वक्ता/वक्तव्य पसन्द आ गया, कोई ज़ेवर या कपड़े पसन्द आ गये या अन्य कुछ भी पसन्द आ गया और हमने सोच लिया कि ऐसा मुझे भी मिले या मेरा भी ऐसा हो तब उसे निदान कहा जाता है, उस में अगर जिस का पुण्य हो तो वैसा बंगला आदि मिलता है और अगर पुण्य कम हो तो हम उस बंगले को नौकर बनकर पाते हैं, अगर उतना भी पुण्य नहीं है तो हम पालतू प्राणी बनकर या मकड़ी-चींटी इत्यादि बनकर भी उसे अवश्य पाते हैं। ऐसा प्रभाव है निदान का, इसलिये उसे निदान शल्य भी कहा जाता है क्योंकि उस निदान की वजह से हमको जो अपने कर्मों के अनुसार मिलनेवाला ही है, उस से कम मिलता है और उस के भोग के समय बहुत पाप बन्ध होता है क्योंकि हमने उसे माँग के लिया होने से उस में आसक्ति अधिक ही होती है। वास्तव में माँगने की आवश्यकता ही नहीं है। क्योंकि माँगने से जो भी मिला है उस से भी अच्छा, नहीं माँगने

से हमें अपने कर्म अनुसार मिलनेवाला ही है।

जैसे, हम कहीं घूमने के लिये गये हों या कोई प्राकृतिक जगह पर गये हों और हमको वह जगह या प्राकृतिक दृश्य पसन्द आ गया, तब हमारा वहाँ जन्म लेना तय हो जाता है। क्योंकि जो हमें पसन्द है, प्राय: वहीं हमारा जन्म होता है। उस प्राकृतिक जगह पर हम वनस्पति-पानी-पृथ्वी आदि में असंख्यात काल तक का आरक्षण (booking) करा लेते हैं।

यदि हमें विजातीय व्यक्ति का कोई अंग पसन्द आ गया तभी हमने उस अंग में अपना आरक्षण (booking) करा लिया। उस अंग में हम सूक्ष्म जीवाणु बनकर लम्बे काल तक वहीं पर जन्म-मरण करते हुए रह सकते हैं।

जैसे, कोई धर्मी जीव को महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेने का भाव हुआ क्योंकि वहाँ भगवान सदैव विराजमान होते हैं और वह जीव सोचता है कि महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर मैं धर्म प्राप्त करूँगा। तब वह भी एक प्रकार का निदान ही है। परन्तु जिसे धर्म करना हो, उसे आज ही और इधर ही करना चाहिये क्योंकि यहाँ भी अभी भगवान महावीरस्वामी का शासन प्रवर्तमान है और यहाँ भी हम सम्यग्दर्शन प्राप्त करके एकावतारी बन सकते हैं। जिस ने धर्म को कल के ऊपर छोड़ा उस का कल कभी नहीं आता, तब इस अमूल्य जन्म को छोड़कर अगले भव का इन्तज़ार करना कौन सी समझदारी है?

वैसे ही बहुत लोग धर्म करके, देवों के दिव्य सुख प्राप्ति की कामना करते हैं और उसी उद्देश्यपूर्ति के लिये वे धर्म करते हैं। ऐसे लोग सम्यग्दर्शन के अभाव के कारण, देवगति प्राप्त करके भी आगे प्राय: एकेन्द्रिय में चले जाते हैं, जिस में उन का अनन्त काल बीत सकता है। यह नहीं भूलना चाहिये कि भगवान ने एकेन्द्रिय से बाहर निकलना चिन्तामणिरत्न की प्राप्ति से भी अधिक दुर्लभ बताया है।

भगवान ने बताया है कि हर प्रकार का संयोग आप को अपने कर्मों के अनुसार ही मिलता है तब फिर माँगकर अर्थात् निदान करके, अपना नुक़सान क्यों करना? यह बात हर मुमुक्षु को सोचना और समझना अति आवश्यक है, जिस से वह निदान शल्य से बच सके।

इस प्रकार हम अनादि से कई प्रकार के निदान करके ख़ुद को ठगते आये हैं और अब यह कब तक करते रहना है? यह तय करके शीघ्र ही उपरोक्त रीति से सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की योग्यता बनानी चाहिये। सम्यग्दर्शन प्राप्ति हेतु सत्य धर्म मिलना अति आवश्यक है। अब आगे हम सत्य धर्म का स्वरूप समझाते हैं।

जीव सोचता है कि कौन से सम्प्रदाय में जुड़कर हमें सम्यग्दर्शन मिल सकता है? अथवा कौन सा सम्प्रदाय सच्चा है? इत्यादि प्रश्नों का उत्तर वह खोजता रहता है। परन्तु जब उसे सभी सम्प्रदायवाले कहते हैं कि – एकमात्र हमारा सम्प्रदाय ही सच्चा है और एकमात्र हमारे सम्प्रदाय में ही सम्यग्दर्शन प्राप्त हो सकता है, अन्य सब पाखण्ड हैं अर्थात् अन्य सभी सम्प्रदाय झूठे हैं; तब वह असमंजस में पड़ जाता है और सोचता है कि इस में से कौन सत्य कह रहा है? प्राय: सभी सम्प्रदायों में अपनी-अपनी रूढ़ि अनुसार धर्म-क्रियाएँ और अपना-अपना क्रम चलता रहता है; उस में बदलाव की या फिर कुछ नया करने की गुंजाइश बहुत ही कम रहती है। लोग प्राय: अपने पैतृक सम्प्रदाय को ही सच्चा और अच्छा मानते हैं, उस का ही अनुसरण करते हैं। अथवा अपने आस-पास या सगे-सम्बन्धी में आर्थिक रूप से सम्पन्न लोगों के प्रभुत्व में आकर उन के कहे हुए मत-पन्थ-सम्प्रदाय-पक्ष या व्यक्ति आधारित पन्थ (personality cult) को ही मान्य करके उन का अन्धानुकरण करते हैं; उस का ही कट्टरता से प्रचार-प्रसार भी करते रहते हैं। ऐसा करके वे जीव अपने लिये अनन्त काल के अन्धकारमय भविष्य का निर्माण करते हैं।

धर्म सदैव परीक्षा करके ही अंगीकार करना चाहिये। जैसे, कोई रोगी बहुत काल तक दवाई खाकर भी अच्छा नहीं होता, तब वह अवश्य सोचता है कि या तो दवाई बदलनी पड़ेगी या डॉक्टर बदलने पड़ेंगे; लेकिन जब किसी सम्प्रदाय में कई सालों से धर्म क्रियायें, प्रवचन, व्याख्यान, स्वाध्याय, नित्य-क्रम आदि करते रहने के बावजूद भी जब परिणाम नहीं सुधरते या अपने भाव, धर्म के अनुकूल नहीं होते तब भी लोग कुछ नहीं सोचते। बल्कि लोग वही सब यन्त्रवत् करते रहते हैं और उस से कुछ फ़ायदा हुआ हो या नहीं, लेकिन वे उसी का प्रचार-प्रसार भी करते फिरते हैं। वे अपने भाव या परिणाम को नज़रअन्दाज़ ही करते हैं। इसलिये सत्य/शुद्ध धर्म के बारे में जानना आवश्यक है।

सत्य/शुद्ध धर्म कोई सम्प्रदाय या व्यक्ति आधारित पन्थ (personality cult) के साथ बन्धा हुआ नहीं है और न ही वह किसी सम्प्रदाय या व्यक्ति आधारित पन्थ (personality cult) की जागीर है परन्तु सत्य/शुद्ध धर्म ज्ञानी के पास अवश्य है। वह आत्म आश्रित है अर्थात् वह शुद्धात्मा के अनुभव रूप सम्यग्दर्शन से जुड़ा हुआ है। किसी सम्प्रदाय या व्यक्ति आधारित पन्थ से नहीं। परम सत् तत्त्व ही सत्य धर्म है, अर्थात् वस्तु का स्वभाव ही धर्म है। धर्म किसी क्रिया-काण्ड, जप-तप, पूजा पद्धति अथवा किसी मन्दिर, गिरजाघर या धर्मस्थान का आश्रित नहीं है। फिर भी अनेक साम्प्रदायिक लोग भरपूर धन ख़र्च करके धार्मिक उत्सव मनाते हैं और उसे धर्म

की प्रभावना बताते हैं, परन्तु वास्तव में वह केवल सम्प्रदाय का प्रचार-प्रसार ही होता है। इस के अलावा वे धन का ऐसा लापरवाह प्रदर्शन करके धर्म के अनेक टीकाकारों को जन्म देते हैं, जिस से अनेक भोले लोग धर्म से दूर होते हैं। अन्य सम्प्रदायों के लोग भी धन का ऐसा लापरवाह प्रदर्शन देखकर विरोधी बनते हैं। ऐसे अत्यधिक धन खर्च करनेवाले अपने आप को महान मानने लगते हैं और मन्दिर, स्थानक या धर्मस्थान में अपनी मनमानी चलाने लगते हैं। इस तरह से वे अपने अहम् को ही पाल-पोसकर बड़ा करते रहते हैं, जिस से उन की समाज में अपकीर्ति होती है। यही अहम् अध्यात्म साधना मार्ग का बड़ा घातक शत्रु है।

दूसरा, मत-पन्थ-सम्प्रदाय-व्यक्ति विशेष का आग्रह, हठाग्रह, कदाग्रह, पूर्वाग्रह अथवा पक्ष आत्मप्राप्ति में सबसे बड़ी बाधा है। दु:ख यह है कि प्रत्येक सम्प्रदाय केवल ख़ुद को ही सम्पूर्ण और परम सत्य मानता है और अन्यों को झूठा और अधूरा मानता है। ऐसी भावना या कथन से द्वेष का जन्म होता है। ऐसी भावना या कथन से सत्य धर्म की भी पराजय होती है। सत्य धर्म की प्राप्ति प्राय: ज्ञानी के पास से ही सम्भव है। सत्य धर्म प्राप्त ज्ञानी को किसी सम्प्रदाय का आग्रह नहीं होता, परन्तु परम सत्य का ही आग्रह होता है। इसलिये ज्ञानी के पास से केवल सत्य धर्म की प्राप्ति की कामना करना परम उपादेय है। न कि सम्प्रदाय की। क्योंकि ज्ञानी की अशातना का फल अनन्त संसार है। अर्थात् ज्ञानी को किसी भी साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से न देखना और न ही साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से मूल्यांकन करना क्योंकि ज्ञानी सामनेवाले व्यक्ति की योग्यता के अनुरूप ही धर्मप्राप्ति का उपदेश देते हैं। जैसे वैद्य या डॉक्टर मरीज़ों को एक ही दवाई नहीं देते, वे दर्द के अनुरूप ही दवाई देते हैं। इसी प्रकार सभी के लिये एक ही धर्म क्रिया, प्रवचन, व्याख्यान, स्वाध्याय, नित्य-क्रम आदि नहीं होते परन्तु उन की योग्यता और स्तर के अनुसार जो उचित हो वही बताया जाता है।

प्रश्न :- ''सत्य धर्म की प्राप्ति प्राय: ज्ञानी के पास से ही सम्भव है'' ऐसा क्यों कह रहे हो? क्या भगवान की परम्परा से प्राप्त आगमों और शास्त्रों से सत्य धर्म का निर्णय नहीं हो सकता?

उत्तर :- भगवान की परम्परा से प्राप्त आगमों और शास्त्रों से भी सत्य धर्म का निर्णय हो सकता है परन्तु इस काल में प्रधान रूप से तीन समस्यायें हैं।

१. लोग आगमों और शास्त्रों का यथार्थ अर्थघटन नहीं कर पा रहे हैं अर्थात् जो भी अर्थघटन किया है, वह प्राय: एकान्त रूप ही किया है यानी प्राय: एकान्त रूप धर्म का ही प्रवर्तन चल रहा है।

२. लोग कई आगमों और शास्त्रों को ही नहीं मानते और जिन्हें मानते भी हैं, उन्हें समग्र रूप से नहीं मानते। वे उन आगमों और शास्त्रों की भी वही बातें मानते हैं और प्रचार करते हैं, जो बातें उन के मत के उपयुक्त हैं और अन्य को गौण कर देते हैं।

३. प्राय: लोग साम्प्रदायिक क्रियाओं को ही धर्म मान लेते हैं, जब कि ऐसी क्रियायें गणवेश मात्र ही हैं। जैसे, छात्र स्कूल में गणवेश पहनकर जाने से ही उत्तीर्ण नहीं हो जाता, उस को गणवेश के साथ-साथ पढ़ाई भी करनी पड़ती है, तब जाकर वह उत्तीर्ण होता है। वैसे ही मुमुक्षु को साम्प्रदायिक क्रियाओं के साथ-साथ अपने भाव भी सँवारना पड़ते हैं अर्थात् भाव शुद्धि भी आवश्यक है, तभी उसे मोक्षमार्ग की प्राप्ति सम्भव हो सकती है, यह समझना आवश्यक है। धर्म आन्तरिक प्रक्रिया ज़्यादा है, इसीलिये अनन्त काल से कई लोगों की बाहर की सभी क्रियाएँ शुद्ध होने के बावजूद भी सत्य धर्म की प्राप्ति नहीं हो पायी है। उसी का विशेष स्पष्टीकरण भी दे रहे हैं।

लोग आगमों और शास्त्रों का यथार्थ अर्थघटन नहीं कर पा रहे हैं अर्थात् जो भी अर्थघटन किया जा रहा है, वह प्राय: एकान्त रूप ही किया गया है यानी प्राय: एकान्त रूप धर्म का ही प्रवर्तन चल रहा है। उसके कुछ ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत करते हैं :-

उदाहरण I :- कई लोग ऐसा कहते हैं कि - ''दृष्टि (सम्यग्दर्शन) का विषय यानी पर्यायरहित द्रव्य'' और उस का अक्षरश: अर्थ करते हुए पर्याय को द्रव्य से भिन्न करने का प्रयास भी करते हैं। एक बार द्रव्य को कैंची से काटना ही पड़ेगा और फिर उसे जोड़ देंगे ऐसी बातें कपड़े सिलने का उदाहरण देकर भी करते रहते हैं और द्रव्य और पर्याय के ध्रुव भी अलग-अलग मानते हैं अर्थात् दो ध्रुव मानते हैं। लेकिन द्रव्य अभेद होने के कारण उस में से कुछ निकाल नहीं सकते या काट भी नहीं सकते और इसी कारण से ऐसे लोग प्राय: भ्रम में ही रहते हैं। ऐसे लोग प्राय: एकान्तवादी होते हैं और अपने धर्म-कर्तव्य और योग्यता प्राप्ति को भी क्रमबद्धपर्याय के नाम से नियति के ऊपर छोड़कर अपना पूरा पुरुषार्थ अर्थ और काम के पीछे ही लगाते हैं। उन्हें पता नहीं कि क्रमबद्धपर्याय में पाँचों समवाय शामिल होते हैं, केवल नियति को क्रमबद्धपर्याय मानना ग़लत है; यह अर्थघटन भी एकान्तवाद का ही नमूना है। वैसे लोग अर्थ और प्रलोभनों को ही अपना शस्त्र बनाकर, अपने माने हुए धर्म की प्रभावना करना चाहते हैं। मगर ऐसे लोगों को यह भी पता नहीं होता कि धर्म की प्रभावना करने हेतु पहले स्वयं धर्म प्राप्ति करना आवश्यक होता है। अन्यथा धर्म की प्रभावना सम्भव ही नहीं है। अर्थ से या अन्य प्रलोभनों से हम जिस की प्रभावना

करते हैं, वह केवल अर्थ की ही प्रभावना होती है, जिस से अर्थ के कामी लोग, अर्थ या प्रलोभनों के लिये आप के सम्प्रदाय में शामिल ज़रूर हो जाते हैं मगर उस सम्प्रदाय में प्राण नहीं होता, मात्र संख्या होती है। उस से किसी का भी कल्याण होना सम्भव नहीं होता।

उपरोक्त ''दृष्टि (सम्यग्दर्शन) का विषय यानी पर्यायरहित द्रव्य'' यह बात सही है परन्तु एक विशेष अपेक्षा से। पर्यायरहित द्रव्य यानी पर्याय को गौण करके अर्थात् विभाव को गौण करके जो शुद्धात्मा प्राप्त होता है, वह दृष्टि (सम्यग्दर्शन) का विषय है। यह बात नहीं समझने के कारण, मात्र शब्दार्थ पकड़कर ऐसी प्ररूपणा की जाती है जो अनेक जीवों के लिये घातक है। अनेक जीवों को अनन्त काल तक संसार में रुलाने के लिये सक्षम है।

उदाहरण II :- कई लोग ऐसा भी कहते हैं कि ''आत्मा में राग है ही नहीं, ऐसा समयसार इत्यादि ग्रन्थों में अनेक बार बताया है'' और उस का अक्षरश: अर्थ करते हुए ऐसे लोग आत्मा राग करता है, इस बात को ही नहीं मानते और स्वच्छन्द रूप परिणमते हैं। इसी कारण से ऐसे लोग प्राय: भ्रम में ही रहते हैं। ऐसे लोग प्राय: एकान्तवादी होते हैं और अपने धर्म–कर्तव्य और योग्यता प्राप्ति को भी क्रमबद्धपर्याय के नाम से नियति के ऊपर छोड़कर अपना पूरा पुरुषार्थ अर्थ और काम के पीछे ही लगाते रहते हैं। आत्मा में राग है ही नहीं ऐसा समयसार इत्यादि ग्रन्थों में अनेक बार बताया है। यह बात सच होने के बावजूद भी उस कथन की अपेक्षा न समझने के कारण उस का अक्षरश: अर्थ करते हुए ऐसे लोग एकान्तवाद के शिकार हो जाते हैं। समयसार जैसे ग्रन्थों में शुद्धात्मा की ही बात की गई है जो दृष्टि (सम्यग्दर्शन) का विषय है अर्थात् समयसार जैसे ग्रन्थों में आत्मा में से विभाव को गौण करने के बाद जो परमपारिणामिकभावरूप शुद्धात्मा शेष रहता है, उसी की बात की गई होने से आत्मा में राग नहीं है ऐसा बताया है। अर्थात् आत्मा राग रूप परिणमता होने के बावजूद भी दृष्टि (सम्यग्दर्शन) के विषय में राग गौण होने के कारण समयसार जैसे ग्रन्थों में, सम्यग्दर्शन कराने के लिये शुद्धात्मा की ही बात की गयी है जो कि दृष्टि (सम्यग्दर्शन) का विषय है, यह समझना अति आवश्यक है।

इसीलिए समयसार श्लोक ६९ में कहा है कि :– ''जो नय पक्षपात को छोड़कर (अर्थात् हमने पूर्व में अनेक बार बताये अनुसार जिसे किसी भी एक नय का आग्रह हो अथवा तो कोई मत–पन्थ–व्यक्ति विशेष रूप पक्ष का आग्रह हो और जो वैसे पूर्वाग्रह–हठाग्रह छोड़ सकते हैं वे) स्वरूप में गुप्त (लीन) होकर (अर्थात् स्व में अर्थात् शुद्धात्मा में ही 'मैंपन' करके सम्यग्दर्शन रूप परिणमकर) सदा रहते हैं, वे ही (अर्थात् नय और पक्ष को छोड़नेवाले मुमुक्षु जीव ही सम्यग्दर्शन

प्राप्त कर सकते हैं और वे ही), जिन का चित्त विकल्प मल से रहित शान्त हुआ है ऐसे होते हुए (अर्थात् निर्विकल्प 'शुद्धात्मा' का अनुभव करते हुए) साक्षात् अमृत को (अर्थात् अनुभूति रूप अतीन्द्रिय आनन्द को) पीते हैं (अनुभव करते हैं)।'' वास्तव में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये सभी जनों को नय और पक्ष का आग्रह छोड़ने योग्य है।

ऐसी समस्याओं के बीच अगर कोई मुमुक्षु जीव ऐसे ग़लत अर्थघटन करनेवालों में फँस गया तो उस का सम्पूर्ण जीवन नष्ट हो जाता है और इस से उस का अनन्त काल अन्धकारमय हो सकता है। ऐसी विडम्बना है इस हुण्डावसर्पिणी पंचम काल की, इसलिये हमने कहा है कि – ''सत्य धर्म की प्राप्ति प्राय: ज्ञानी के पास से ही सम्भव है।'' क्योंकि ज्ञानी को मत, पन्थ, सम्प्रदाय का पक्ष, आग्रह, हठाग्रह, दुराग्रह नहीं होता और इसी कारण से ज्ञानी आगमों तथा शास्त्रों का यथार्थ अर्थघटन भी कर सकता है। ज्ञानी ही सत्य धर्म का वैद्य या डॉक्टर है कि जो आप के आध्यात्मिक स्तर के अनुसार आप के लिये उपयुक्त साधना बता सकता है। अपने आप की हुई साधना स्वच्छन्द कहलाती है। इसलिये हमने कहा है कि ''सत्य धर्म की प्राप्ति प्राय: ज्ञानी के पास से ही सम्भव है।''

वैराग्य :– सम्यग्दर्शन प्राप्ति हेतु सत्य धर्म के साथ वैराग्य भी आवश्यक है, अब आगे हम उस का स्वरूप समझाते हैं।

वैराग्य यानी संसार की ओर से दृष्टि का हट जाना, संसार असार लगना। वैराग्य दो प्रकार का होता है, एक दु:खगर्भित और दूसरा ज्ञानगर्भित।

दु:खगर्भित वैराग्य सांसारिक दु:खों से त्रस्त होकर, बीमारी के कारण, कोई आधि-व्याधि या उपाधि के कारण, किसी के साथ मोह भंग या प्रेम भंग के कारण अथवा अपनों की मृत्यु के समय आता है। यह वैराग्य नकारात्मक होता है क्योंकि इस के पीछे संसार में से माना हुआ सुख न मिलना ही कारण होता है। ऐसे दु:खगर्भित वैराग्य से प्रेरित होकर जो धर्म करते हैं, उन को ज़्यादा करके धर्म के कारण सांसारिक सुखों की प्राप्ति का ही आशय बना रहता है और इस से वे धर्म का उत्तम फल यानी सम्यग्दर्शन और मोक्ष से वंचित ही रहकर एकेन्द्रिय में चले जाते हैं, जिस में वे अनन्त काल रह सकते हैं। भगवान ने एकेन्द्रिय से निकलना चिन्तामणिरत्न की प्राप्ति से भी अधिक दुर्लभ बताया है। परन्तु जब दु:खगर्भित वैराग्य कालान्तर में अगर ज्ञानगर्भित वैराग्य में तब्दील हो जाता है, तब उस दु:खगर्भित वैराग्य को भी अच्छा कहा जा सकता है।

ज्ञानगर्भित वैराग्य संसार और सांसारिक सुखों के सच्चे स्वरूप को समझने के कारण आता

है, उसे निर्वेद भी कहते हैं। ज्ञानगर्भित वैराग्य का एकमात्र लक्ष्य आत्मप्राप्ति का होता है, उसे संवेग भी कहते हैं। इसीलिये ज्ञानगर्भित वैराग्य ही मोक्षमार्ग के लिये कार्यकारी है, उचित और सराहनीय है। तात्पर्य यह है कि सभी मुमुक्षु जीवों को यह ज्ञानगर्भित वैराग्य की प्राप्ति हेतु ही पुरुषार्थ करना चाहिये।

राग के भी दो प्रकार हैं, एक अप्रशस्त राग और दूसरा प्रशस्त राग। परन्तु ज्ञानगर्भित वैराग्यवाले जीवों के अभिप्राय में प्राय: दोनों का अभाव रहता है क्योंकि उन का एकमात्र लक्ष्य आत्मप्राप्ति ही होता है। लेकिन व्यवहार में वे बहुतांश धर्म क्रियाएँ करते रहते हैं क्योंकि वे नहीं चाहते कि उन को देखकर अन्य बाल जीव भी क्रियारहित हो जायें।

अप्रशस्त राग में पाँच इन्द्रिय विषयों के प्रति आकर्षण होता है। जैसे कि मनपसन्द स्पर्श, रस, घ्राण, चक्षु और श्रवण इन्द्रियों के विषय में ही मन लगा रहना और उन में से जो भी विषय प्राप्त हो, उस में डूबे रहना, यही अभिप्राय बना रहता है। हम इस संसार में कई जीवों को विजातीय के (स्पर्श के) पीछे बर्बाद होते देख सकते हैं। कई जीवों को खाने के (रस के) पीछे बर्बाद होते देख सकते हैं। जैसे कि अभक्ष्य खाकर मरते अथवा बीमार होते देख सकते हैं। कई जीवों को जो खाद्य पदार्थ खाने की मनाही होती है, वे उसी को बड़ी लोलुपता से खाकर बीमार होते हैं या फिर कभी मरते भी देखे जाते हैं। कई जीवों को सुगन्ध के पीछे अपना पूरा जीवन व्यतीत करते देख सकते हैं। कई जीवों को प्रकाश के पीछे अपना पूरा जीवन व्यतीत करते अथवा दिये से आकर्षित होकर उसी में अपने को समर्पित करते देख सकते हैं। कई जीवों को गीत-संगीत के पीछे अपना अमूल्य जीवन बर्बाद करते देख सकते हैं। ऐसे जीव धर्म के नाम पर भी अपनी इन्द्रियों के विषयों के प्रति ही अपने आकर्षण की पूर्ति भावना और भक्ति के नाम से गीत-संगीत में डूबे रहकर करते रहते हैं। इस तरह वे अपने अमूल्य जीवन बर्बाद करते देखे जाते हैं। अनादि काल से जीव मुख्य रूप से विजातीय के आकर्षण और विषय-कषायों में फँसने के कारण ही संसार में भटक रहा है।

प्रशस्त राग देव-शास्त्र-गुरु-धर्म के प्रति होता है। मगर उसे प्रशस्त तब कह सकते हैं, जब वह एकमात्र आत्म प्राप्ति के लक्ष्य में परिवर्तित हो, अन्यथा वह भी आगे चलकर अप्रशस्त रूप में ही तब्दीली पाता है।

अप्रशस्त और प्रशस्त इन दोनों प्रकार के रागों के प्रति उदासीनता को वैराग्य कहा जाता है। उस में ज्ञानगर्भित वैराग्य सम्यग्दर्शन और मोक्ष के लिये उत्तम और कार्यकारी है। अर्थात् जब

तक बाह्य इन्द्रियों के विषयों के प्रति राग है, तब तक वह जीव नियम से बहिरात्मा है, तब तक वह जीव की दृष्टि अन्तर में आत्मप्राप्ति के लिये प्रयासरत होगी ही नहीं। इसीलिये ज्ञानगर्भित वैराग्य को ज्ञान का जनक कहा गया है।

वैराग्य का मानक/मापदण्ड है यह प्रश्न – **हमें क्या पसन्द है?**

इस प्रश्न के उत्तर में जब तक सांसारिक वस्तु या सम्बन्ध या इच्छा या आकांक्षा है, तब तक आपका मुख संसार की ओर समझना और उस की निवृत्ति हेतु उस इच्छा आदि के मूल/जड़ तक जाकर उसे बारह भावना से निरस्त करना आवश्यक है। अर्थात् उस सांसारिक वस्तु या सम्बन्ध या इच्छा या आकांक्षा के पीछे का कारण खोजकर उस कारण की जड़ तक जाना आवश्यक है। तत् पश्चात् उस कारण और जड़ का विश्लेषण निम्नलिखित बारह भावना/अनुप्रेक्षा के अनुसार करके उस के कारण और जड़ को नष्ट करना आवश्यक है; जिस से उस सांसारिक वस्तु या सम्बन्ध या इच्छा या आकांक्षा को नष्ट कर पाना सम्भव हो सकता है क्योंकि उसे दबाना नहीं है। उसे जड़ से ही निरस्त करना है। इस तरह से प्रत्येक सांसारिक वस्तु या सम्बन्ध या इच्छा या आकांक्षा के लिये करना आवश्यक है। उसे ही खरे अर्थ में साधना कहा जाता है, न कि साम्प्रदायिक क्रियाओं को। उसी साधना से ज्ञानगर्भित वैराग्य की प्राप्ति सम्भव हो सकती है जिस से सम्यग्दर्शन योग्य भूमिका प्राप्त होती है अर्थात् आध्यात्मिक योग्यता प्राप्त होती है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने मोक्षपाहुड गाथा ६६ में बताया है कि – 'जब तक मनुष्य इन्द्रियों के विषयों में अपने मन को जोड़े रखता है (अर्थात् मन में इन्द्रियों के विषयों के प्रति आदरभाव वर्तता है), तब तक वह आत्मा को नहीं जानता। (क्योंकि उस का लक्ष्य विषय है, आत्मा नहीं; इसलिये ही हमने ऊपर बताया है कि 'मुझे क्या पसन्द है?' यह मुमुक्षु जीव को देखते रहना चाहिये और उस से अपनी योग्यता की खोज करते रहना चाहिये। यदि योग्यता न हो तो उसे पाने का पुरुषार्थ करना आवश्यक है) इसलिये विषयों से विरक्त चित्तवाले योगी–ध्यानी–मुनि ही आत्मा को जानते हैं।' इस गाथा में आत्मप्राप्ति के लिये योग्यता बतायी है।

ज्ञानगर्भित वैराग्य की प्राप्ति हेतु इस जगत की व्यवस्था को यथातथ्य समझकर संसार के हर एक जीव को मैत्री आदि चार भाव में ही वर्गीकृत करना अन्यथा नहीं। संसार के हर एक प्रसंग में बारह भावना का यथायोग्य चिन्तवन करना चाहिये। और संसार के हर एक प्रसंग का उसी परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण करना आवश्यक है। अब आगे हम बारह भावना का स्वरूप संक्षेप में समझाते हैं।

बारह भावनाएँ/अनुप्रेक्षाएँ

अनित्य भावना :– सभी संयोग अनित्य हैं। पसन्द या नापसन्द ऐसे कोई भी संयोग मेरे साथ नित्य रहनेवाले नहीं हैं। इसलिये उन का मोह या दु:ख त्यागना, उन में 'मैंपन' और मेरापन त्यागना चाहिये। ऐसा हमने पढ़ा–सुना होने के बावजूद भी उस बात का विश्वास नहीं होने से ही हम सब अनादि से उन अनित्यों के पीछे भाग रहे हैं। इसी कारण से हम सब अनादि से आज तक संसार में भटक रहे हैं। जैसे धन, सम्पत्ति, पत्नी, पुत्र, परिवार इत्यादि के लिये हमने अपने अनन्त जीवन पूर्ण रूप से न्यौछावर कर दिये हैं। अब इस जीवन में हमें इन सब का मोह ज्ञानगर्भित वैराग्य की प्राप्ति करके छोड़ना है और मात्र अपने कर्तव्यों का यन्त्रवत निर्वहन करते हुए अपने शेष सभी संसाधन (समय, धन–सम्पत्ति, बुद्धिमत्ता, चातुर्य आदि) एकमात्र आत्मप्राप्ति में ही लगाने योग्य है क्योंकि एकमात्र आत्मा ही नित्य है, अनन्त–अव्याबाध सुख की खान है। इस भावना को जीवन में हर पल जीवन्त रखना है, तभी हमारे संसार का अन्त हो सकता है, अन्यथा नहीं।

हम अपने जीवन काल में कई जीवों को मृत्यु से नष्ट होते देखते हैं, कई शरीरों को रोग–ग्रस्त होते देखते हैं, कई परिवारों को बिछड़ते देखते हैं, कई धनवानों को रंक होते भी देखते हैं। फिर भी हम ऐसे जीते हैं जैसे हम कभी भी मरनेवाले ही नहीं हैं और हम अपने को रूप से, धन–वैभव से, परिवार से अपने को बड़ा मानकर मान कषाय पोसते रहते हैं। हमें पता नहीं कि हमारी आयु कब पूरी हो जायेगी। कब बीमारी आ जायेगी यह भी पता नहीं। कब अपना रूप समाप्त हो जायेगा यह भी पता नहीं। कब कोई हड्डी टूट जायेगी यह भी पता नहीं। कब दुर्घटना हो जाये पता नहीं। परिवार में प्रेम कब दुश्मनी में तब्दील हो जाये यह भी पता नहीं। कब ख़ुशी मातम में बदल जाये यह भी पता नहीं। फिर भी हम इन चीज़ों पर गुमान करके अपना परम अहित करते हैं।

ज़्यादातर जीव अपने यौवन काल को विषयों और कषायों के पीछे बर्बाद करते देखे जाते हैं, प्रौढ़ावस्था सांसारिक कार्यों में अपनी कुशलता प्रमाणित करने में ख़र्च करते देखे जाते हैं, कई जीव अपनी प्रौढ़ावस्था समाज में नाम करने के पीछे गँवाते देखे जाते हैं। इस तरह से कई जीव अनन्त काल के बाद मिला हुआ धर्म प्राप्त करने का अवसर गँवाते देखे जाते हैं और इन सबके पीछे भागते हुए बुढ़ापा कब अपनी दहलीज़ पर आ धमकेगा यह भी उन को पता नहीं। बुढ़ापे में भी ऐसे जीव आर्तध्यान और रौद्रध्यान करते देखे जाते हैं क्योंकि बुढ़ापे में भी मात्र शरीर ही बुढ़ा हुआ है; मन तो सदा जवान ही रहता है। क्योंकि मन तो बुढ़ापे में भी विषय–कषायों

के पीछे ही भागता रहता है। बुढ़ापे में भी सभी ख़्वाहिशें ज़िन्दा रहती हैं – मन में से कामभाव हटता नहीं। इस तरह से हम अनादि से इस संसार में भटक रहे हैं, अब कब तक यह सब जारी रखना है? संसार में कहीं भी शाश्वत सुख नहीं है। हम अनन्तों बार देवलोक के सुख भोगकर आये हैं, परन्तु वे भी एक दिन पूरे हो जाते हैं और कई जीव उन सुखों में से अनन्तों बार सीधे एकेन्द्रिय में भी चले जाते हैं; जहाँ दुःख ही दुःख है। कई बार राजा भी पल भर में एकेन्द्रिय में चला जाता है। वैसे भी हर एक सांसारिक सुख का अन्त निश्चित ही है, फिर ऐसे सुख के पीछे पागल बनना या ममत्व करने में कौन सी समझदारी है? यह सब न समझ पाने के कारण ही अनादि से ऐसे जीव संसार में भटक रहे हैं।

इस से यह तय होता है कि यह पूरा जीवन एकमात्र आत्मप्राप्ति के पीछे ख़र्च करने योग्य है। त्वरा से सम्यग्दर्शन प्राप्त करके थोड़े काल में ही अमर बन जाना है – सिद्धत्व पा लेना है। वैसे भी ऊपर कहे गये सुख (सुखाभास) भी तो पुण्य से ही प्राप्त होते हैं, मात्र पुरुषार्थ से नहीं। इसलिये अगर आपके पुण्य पुख़्ता होंगे तो अल्प पुरुषार्थ से ही वे अपने-आप प्राप्त होनेवाले हैं, फिर उन के पीछे भागने की क्या आवश्यकता है? आत्मप्राप्ति के लिये किये गये पुरुषार्थ से न माँगने पर भी जब तक मोक्ष नहीं मिलता तब तक सांसारिक सुख मुफ्त में बिना माँगे मिलते रहते हैं। इस कारण से ज़्यादातर समय आत्मकल्याण में ही लगाने योग्य है और कम से कम समय अर्थार्जन आदि में लगाना योग्य है। इस तरह से हर एक संसारी जीव को अनित्य को छोड़कर नित्य ऐसा शुद्धात्मा को और परम्परा से मोक्ष को पाना चाहिये, यही इस भावना का फल है।

अशरण भावना :- मेरे पापों के उदय समय मुझे माता-पिता, पत्नी-पुत्र, पैसा इत्यादि कोई भी शरण हो सके ऐसा नहीं है। वे मेरा दुःख ले सकें ऐसा नहीं है। इसलिये उन का मोह त्यागना, उन में मेरापन त्यागना परन्तु कर्तव्य पूरी तरह निभाना। जब किसी भी जीव का मृत्यु का समय होता है अर्थात् उस की आयु पूर्ण होती है, तब उस जीव को इन्द्र, नरेन्द्र आदि कोई भी बचाने को समर्थ नहीं होते अर्थात् तब उस जीव के लिये मृत्यु से बचने के लिये जगत में कोई शरण नहीं रहता। इस जगत में मृत्यु के सामने जीव अशरण है, निकाचित कर्म के सन्मुख भी जीव अशरण है। ख़ुद को पराक्रमी, शक्तिमान, धनवान, ऐश्वर्यवान, गुणवान आदि समझनेवाले को भी अहसास हो जाता है कि मरते समय इन में से कुछ भी शरण नहीं देता। डॉक्टर, वैद्य, विद्या, मन्त्र, औषधि आदि भी मृत्यु सन्मुख जीव को कोई शरण नहीं देते। अगर कोई साधना करके लौकिक सिद्धि पाकर यह समझे कि हमने तो लम्बी आयु को पा लिया है लेकिन अपनी आयु

की समाप्ति पर एक दिन उसे भी मरना तो है ही। लौकिक सिद्धि शरण नहीं होती। जब शेर हिरण का शिकार करता है, तब उस के साथ अन्य कई हिरण होने के बावजूद भी उसे कोई बचा नहीं सकता अर्थात् तब उसे कोई शरण नहीं देता; इसी तरह संसार में जब कोई जीव मरण प्राप्त करता है, तब उसे कोई शरण नहीं मिलती। ख़ुद इन्द्र-नरेन्द्र का भी मरण के सम्मुख होने पर, कोई शरण नहीं होता अर्थात् वे भी अशरण ही हैं।

इस जगत में चार शरण उत्कृष्ट हैं- १. अरिहन्त भगवान, २. सिद्ध भगवान, ३. साधु और ४. केवली प्रणीत धर्म = सत्य धर्म। यह चारों शरण सब को अपनी शुद्धात्मा की शरण लेने के लिये ही प्रेरणा देते हैं। पंच परमेष्ठी भगवान, उन का दिया हुआ धर्म और शुद्धात्मा ही सभी जीवों के शरण हैं अर्थात् मरण को सुधार सकते हैं और अजन्मा भी बना सकते हैं। अन्य कोई भी शरण नहीं है। हमें बुढ़ापे में कौन शरण देगा, इस की भी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि तब आपके पाप या पुण्य के अनुसार अपने आप व्यवस्था हो जायेगी। यही इस भावना का फल है।

व्यवहार से उपरोक्त चार शरण हैं और निश्चय से एक मात्र शुद्धात्मा ही शरण है। क्योंकि व्यवहार से ज्ञानी उपरोक्त चार शरण का आदर और उन को नमस्कार भी करता है, जिस से वह एकमात्र प्रेरणा यही लेता है कि मुझे मेरी अपनी आत्मा ही परम शरण रूप है अर्थात् मुझे उस में ही ठहर जाना है और संसार से मुक्ति पानी है।

अज्ञानी को आत्मानुभूति नहीं होने से उसे सम्यक् निश्चय नहीं होता इसलिये व्यवहार से उपरोक्त चार ही शरणभूत हैं। इसलिये जब तक आत्मप्राप्ति नहीं होती तब तक एकमात्र आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से उपरोक्त चार शरण ग्रहण करने हैं और बाद में एकमात्र शुद्धात्मा में ठहरने का ही पुरुषार्थ करना है। यही इस भावना का फल है।

संसार भावना :- संसार अर्थात् संसरण-भटकन और उस में एक समय के सुख के सामने अनन्त काल का दु:ख मिलता है; अत: ऐसा संसार किसे रुचेगा? अर्थात् नहीं ही रुचेगा और इसलिये एकमात्र लक्ष्य संसार से छूटने का ही रहना चाहिये।

संसार बढ़ने के कई कारण हैं, उन में सब से बड़ा कारण मिथ्यात्व है जिस के रहते हुए संसार का कभी भी अन्त नहीं हो सकता। मिथ्यात्व को टिकाने में मदद करनेवाले कई कारण हैं, जैसे कि - क्रोध, मान, माया, लोभ, पाँच इन्द्रियों के विषय, इत्यादि। जब तक मिथ्यात्व है तब तक जीव का ज़्यादातर समय निगोद में ही बीतेगा क्योंकि निगोद से निकलकर जीव उत्कृष्ट

(ज़्यादा से ज़्यादा) २००० सागरोपम के लिये ही बाहर रहता है, बाद में अपने-आप निगोद में वापिस चला जाता है, जहाँ वह अनादि काल से रहता था और भविष्य में भी अनन्त काल तक रह सकता है, जहाँ (निगोद में) दु:ख के अलावा कुछ नहीं होता। अर्थात् वह जीव असंख्यात पुद्गलपरावर्तन काल तक एकेन्द्रिय जीव राशि में रह सकता है, जहाँ दु:ख के अलावा कुछ नहीं होता।

संसार में लोभ से तृष्णाजनित दु:ख जन्म लेता है और लाभ से वह तृष्णाजनित दु:ख और लोभ बढ़ते जाते हैं। उस लाभ के लिये अनुकूल जीव के ऊपर राग होता है और प्रतिकूल जीव के ऊपर द्वेष होता है। साथ ही लाभ बढ़ाने के लिये माया का भी सहारा लिया जाता है। अधिक लाभ मिलने से मान पैदा होता है। इस तरह से जीव अनन्तानुबन्धी कषायों से बच नहीं पाता, जिस से संसार का चालक बल ऐसा मोह अधिक प्रगाढ़ बनाता है अर्थात् मिथ्यात्व अधिक प्रगाढ़ होता है। इस तरह से जीव पूर्व के कर्मों के फल रूप संयोग में रति-अरति करता रहता है अर्थात् उदयभाव का प्रतिकार करके या उस भाव में रच-पचकर नया कर्म बाँधता है। इस संसार की विचित्रता ऐसी है कि हमें जिस का मुँह भी देखना पसन्द नहीं होता, वही जीव अन्य भवों में हमें पत्नी, पुत्र, परिवार आदि रूप से प्राप्त होता है, जिन्हें हमें सारी ज़िन्दगी झेलना पड़ता है। इस तरह से अपनी ज़िन्दगी नरक जैसी हो जाती है। इसीलिये हमें इसी भव में ही सभी जीवों से मैत्रीभाव कर लेना आवश्यक है। इसी प्रकार से जीव इन्द्रियों के सुख के पीछे भी पागल बनकर अनन्त दु:ख सहन करता आ रहा है क्योंकि इन्द्रिय सुख कभी समाप्त नहीं होनेवाली ऐसी इन्द्रियों की तृष्णा को जन्म देता है और इन्द्रियों के विषय की वह तृष्णा रूपी पीड़ा जीव को कभी समाप्त नहीं होनेवाला तृष्णाजनित और शारीरिक दु:ख देती है। अनादि से ऐसे विष-चक्र में फँसा हुआ जीव संसार में रुल रहा है। इस विष-चक्र से बच पाना मुश्किल अवश्य है परन्तु नामुमकिन नहीं। हर एक जीव ने अपने परिवार के हर सदस्य के साथ अनादि से सब प्रकार के रिश्ते अनेकों बार किये हैं और जिये हैं।

संसार का जन्म विकल्प रूप से पहले मन में होता है और बाद में उसे मूर्त रूप प्राप्त होता है। इसलिये संसार का अन्त चाहनेवालों को सबसे पहले मन से विकल्प रूपी संसार का नाश करना चाहिये। इस से पहले बताये अनुसार अपने आप से प्रश्न करना चाहिये कि हमें क्या पसन्द है और उत्तर में अगर सांसारिक इच्छा या आकांक्षा हो तो उस का बारह भावनाओं से निरासन/नाश करना चाहिये; ऐसी रीति है संसार के नाश की।

ऐसे संसार में रहना किसे पसन्द होगा जहाँ एक समय के सुख (सुखाभास) के ख़िलाफ़ अनन्त समय निगोद में दुःख सहते रहना होगा? किसी को भी यह बात पसन्द नहीं आयेगी परन्तु इस बात की यथार्थ समझ न होने के कारण ही जीव अनादि से इसी तरह से अनन्तानन्त दुःख सहता आया है और अगर अभी भी समझ में नहीं आया तो इसी तरह से अनन्तानन्त काल तक अनन्तानन्त दुःख सहते रहना पड़ेगा; यह सोचकर अपने ऊपर और सभी जीवों के प्रति अनन्तानन्त करुणा आनी चाहिये। इस तरह से अपने आप पर करुणा करके अर्थात् स्वदया करके जल्द से अपना आत्मकल्याण साध लेना चाहिये, यही इस भावना का फल है।

एकत्व भावना :– अनादि से मैं अकेला ही भटकता आया हूँ, अकेला ही दुःख भोगता रहा हूँ; मृत्यु के समय मेरे साथ कोई भी आनेवाला नहीं है, मेरा शरीर भी नहीं। अतः मुझे सम्भव हो उतना अपने में ही (आत्मा में ही) रहने का प्रयत्न करना चाहिये।

हमें एकमात्र शुद्धात्मा से ही एकत्व करना है; यही बात समयसार में बतायी गयी है। समयसार गाथा ३ : गाथार्थ :– ''एकत्व निश्चय को प्राप्त जो समय है (यानी जिस ने मात्र शुद्धात्मा में ही 'मैंपन' करके सम्यग्दर्शन प्राप्त किया है, वैसा आत्मा) इस लोक में सर्वत्र सुन्दर है (यानी वैसा जीव भले नरक में हो या स्वर्ग में हो, यानी दुःख में हो या सुख में हो परन्तु वह सुन्दर यानी स्व में स्थित है) इसलिये एकत्व में दूसरे के साथ बन्ध की कथा (यानी बन्ध रूप विभावों में 'मैंपन' करते ही मिथ्यात्व का उदय होने से) विसंवाद–विरोध करनेवाली (यानी संसार में अनन्त दुःख रूप फल देनेवाली) है।'' और दूसरा, जो आत्मद्रव्य अन्य कर्म–नोकर्म रूप पुद्गल द्रव्य के साथ बन्ध कर रहा है, उस में विसंवाद है अर्थात् दुःख है, जब वही आत्मद्रव्य उस पुद्गलद्रव्य के साथ के बन्धन से मुक्त होता है, तब वह सुन्दर है अर्थात् अव्याबाध सुखी है।

आगे समयसार गाथा ७ में कहा है कि :– ''ज्ञानी को चारित्र, दर्शन, ज्ञान – ये तीन भाव व्यवहार से कहने में आते हैं (यानी ज्ञानी को एकमात्र अभेदभाव रूप 'शुद्धात्मा में' ही 'मैंपन' होने से, जो भी विशेषभाव हैं और जो भी भेद रूप भाव हैं, वे व्यवहार कहे जाते हैं); निश्चय से ज्ञान भी नहीं, चारित्र भी नहीं, दर्शन भी नहीं (यानी निश्चय से कोई भेद शुद्धात्मा में नहीं, वह एक अभेद सामान्यभाव रूप होने से उस में भेद रूप भाव और विशेषभाव, ये दोनों भाव नहीं हैं)। ज्ञानी तो एक शुद्ध ज्ञायक ही है।'' यानी शुद्ध निश्चय नय का विषय मात्र अभेद ऐसा शुद्धात्मा ही है। यही एकत्व भावना है।

गाथा ७ टीका :- '...क्योंकि अनन्त धर्मोंवाले एक धर्मी में (यानी भेद से समझकर अभेद रूप अनुभूति में) जो निष्णात नहीं है ऐसे निकटवर्ती शिष्यजन को, धर्मी को बतानेवाले कितने ही धर्मों द्वारा (यानी भेदों द्वारा), उपदेश करते हुए आचार्य का-यद्यपि धर्म और धर्मी का स्वभाव से अभेद है तो भी नाम से भेद उत्पन्न करके (अभेद द्रव्य में द्रव्य-गुण-पर्याय ऐसे भेद उत्पन्न करके) व्यवहार मात्र से ही ऐसा उपदेश है कि ज्ञानी को दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है परन्तु परमार्थ से (यानी वास्तव में) देखने में आवे तो अनन्त पर्यायों को एक द्रव्य पी गया होने से जो एक है... (यानी जो द्रव्य तीनों काल में उन-उन पर्याय रूप परिणमता होने पर भी अपना द्रव्यपन नहीं छोड़ा है - जैसे कि मिट्टी घट पिण्ड रूप से परिणमने पर भी मिट्टीपन नहीं छोड़ती और प्रत्येक पर्याय में वह मिट्टीपन व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध से है इसलिये पर्याय अनन्त होने पर भी वह द्रव्य तो एक ही है)। ...एक शुद्ध ज्ञायक ही है।' ऐसी एकत्व भावना होने के बावजूद भी अनेक लोग द्रव्य-पर्याय को अलग करने के चक्कर में फँसकर अनन्त काल संसार में रुलने का मार्ग ही प्रशस्त कर रहे हैं। यह बात उन को समझ में नहीं आती, यह बात करुणा उपजानेवाली है।

जीव इस संसार में परिवार, सम्प्रदाय या समाज विशेष का पक्ष लेकर जब कुछ ग़लत करता है, तब उस का फल अकेले उसे ही भुगतना पड़ता है। वस्तु का धर्म एक ही होता है, वह बदलता नहीं। अर्थात् आत्मा के कल्याण का एक ही मार्ग होता है। और इस जगत के सभी जीवों के लिये नियम एक समान ही होते हैं। अलग-अलग सम्प्रदाय हमने बनाये हैं, वे समाज व्यवस्था के लिये तो ठीक हैं परन्तु उस मत-पन्थ-सम्प्रदाय का आग्रह अपनी आत्मा के कल्याण में बाधक नहीं बनना चाहिये।

ऐसी है एकत्व भावना जिस का विषय एकमात्र शुद्धात्मा ही है। लेकिन संसारी जीवों ने अनादि से शरीरादि परभावों में ही एकत्व किया है और दु:खों को आमन्त्रण दिया है। जब जीव इस भावना का मर्म समझकर एकमात्र शुद्धात्मा में ही अर्थात् स्वभाव से ही एकत्व करता है, तब उस जीव का संसार सीमित हो जाता है अर्थात् उस जीव का मोक्ष निकट होता है।

अन्यत्व भावना :- मैं कौन हूँ? यह चिन्तन करना अर्थात् पूर्व में बताये अनुसार पुद्गल और पुद्गल (कर्म) आश्रित भावों से अपने को भिन्न जानना और उसी में 'मैंपन' करना, उस का ही अनुभव करना, उसे ही सम्यग्दर्शन कहा जाता है। वही इस जीवन का एकमात्र लक्ष्य और कर्तव्य होना चाहिये।

अनादि से कर्म संयोगवश पर में ही 'मैंपन' और 'मेरापन' मानकर जीव दुःख भोगता आया है। जैसे कि शरीर, धन, पत्नी, पुत्र, परिवार, आदि में ही अनादि से 'मैंपन' और 'मेरापन' मानकर जीव दुःख भोगता आया है। अब कब तक ऐसे दुःख भोगते रहना है? अर्थात् कब तक पर में ही 'मैंपन' और 'मेरापन' मानना जारी रखकर दुःखी होना है? पत्नी, पुत्र, परिवार आदि अपने लिये अन्य हैं, हर एक जीव स्वतन्त्र है इसलिये उस की स्वतन्त्रता का आदर करते हुए हमें अपना कोई भी निर्णय, आग्रह, हठाग्रह, कदाग्रह, दुराग्रह इत्यादि दूसरों के ऊपर थोपने का प्रयास नहीं करना चाहिये। हम दूसरों को प्रेम से समझा सकते हैं, प्रेरणा दे सकते हैं परन्तु आदेश नहीं दे सकते। अर्थात् व्यवहारिक कार्य के लिये हमारा जो दायित्व है, उस का निर्वहन करने के लिये भी अगर कोई कठोर निर्णय या आदेश आवश्यक है तब भी किसी के साथ अन्याय न हो इस का ख़याल रखकर अपना दायित्व निभाना चाहिये। अर्थात् सभी जीवों की स्वतन्त्रता का आदर करते हुए समाज, देश या धर्म के लिये जो भी नियम आवश्यक हों, वे बना सकते हैं। दूसरों के ऊपर अपना कोई भी निर्णय, आग्रह, हठाग्रह, कदाग्रह, दुराग्रह इत्यादि थोपना नहीं चाहिये अन्यथा हमें भी ऐसा कई बार झेलना पड़ सकता है। यही कर्म का सिद्धान्त है।

ऐसा मोहकर्म, जो आत्मा को ख़ुद के स्वरूप-आस्वादन के भाव को भी जन्म नहीं लेने देता; उसे दूर करने का एकमात्र मार्ग इस भावना को दृढ़ करने से मिलता है। इस भावना से सभी संयोग भाव को तलाशना और तय करना है कि मैं कौन हूँ? मेरा क्या है?

शरीर को छोड़कर अन्य सभी वस्तुएँ तो प्रगट में भी अपने से भिन्न दिखती हैं, इसलिये अनादि से शरीर में ही मैंपन मान रखा है। यही सब से बड़ी ग़लती है जिस कारण जीव अनादि से इस संसार में रुल रहा है और अनन्त दुःख भुगत रहा है। अगर इस चक्कर से छुटकारा पाना हो तब फिर इस भावना के अलावा और कोई उपाय नहीं है। यह सोचना चाहिये कि जब आत्मा इस शरीर को छोड़कर जाती है, तब शरीर यहाँ पर ही रह जाता है जिसे जला दिया जाता है। अगर वह शरीर 'मैं' होता तब वह भी आत्मा के साथ जाना चाहिये था। इस से तय होता है कि 'मैं' शरीर नहीं हूँ। उस से आगे जब हम सोचते हैं तब फिर जो अच्छे-बुरे भाव होते रहते हैं, उन में मैंपन होता है; क्या वह सही है?

सभी अच्छे-बुरे भाव होते तो मुझ में ही हैं, मगर मेरा अस्तित्व सिर्फ़ उतना ही नहीं है। अगर मेरा अस्तित्व उतना ही माना जाये तब फिर उस के नाश के साथ मेरा भी नाश मानने का

प्रसंग खड़ा हो जायेगा। परन्तु मैं अनादि-अनन्त हूँ, अजर-अमर हूँ; यह बात तय होने से, यह सिद्ध होता है कि अच्छे-बुरे भाव होते तो मुझ में ही है, मगर वह मेरा स्वरूप नहीं है। वह अच्छे-बुरे भाव रूप में ही परिणमता हूँ, मगर मात्र कुछ काल के लिये ही वे परिणाम टिकते हैं। वे त्रिकाल आत्मा में नहीं टिकते अर्थात् मेरा उस अच्छे-बुरे भाव के साथ आईना और उस में झलकनेवाले प्रतिबिम्ब जैसा सम्बन्ध है, जिस में उस झलकनेवाले प्रतिबिम्ब के नाश से आईने का नाश नहीं होता। यानी हमें अपने को सब भावरहित उस आईने की तरह स्वच्छ/शुद्ध अनुभव करना है, यही इस भावना का फल है। जिस से हम अपने को दु:ख से मुक्त करा सकते हैं।

अशुचि भावना :- हमें अपने शरीर को सुन्दर बताने/सजाने का जो भाव है, और विजातीय के शरीर के प्रति जो आकर्षण है, उस शरीर की चमड़ी को हटाते ही मात्र माँस, खून, पीव, मल, मूत्र इत्यादि ही ज्ञात होते हैं, जो कि अशुचि रूपी ही हैं। ऐसा चिन्तन कर अपने शरीर का और विजातीय के शरीर का मोह तजना, उस में मोहित नहीं होना चाहिये।

जीव को अनादि से अपने शरीर का और विजातीय के शरीर के प्रति आकर्षण है और उसी वजह से जीव अनादि से - आहार, मैथुन, परिग्रह और भय इन चार संज्ञाओं से ग्रस्त है। इन्हीं के पीछे भागकर जीव अनन्तानन्त बार बर्बाद हुआ है, अनन्तानन्त दु:ख भोगे हैं और अभी भी उन्हीं के पीछे भागने की वजह से ही दु:खी हो रहा है। जीव को शरीर के आकर्षण से मुक्त कराने हेतु इस भावना का चिन्तन आवश्यक है।

आत्मा के लिये सारे परपदार्थ अशुचि ही हैं क्योंकि अनादि से पर में ही 'मैंपन' और 'मेरापन' कर के जीव दु:ख भोगता आया है। आत्मा के लिये शुद्धात्मा के अलावा सारे संयोगी भाव अशुचि ही हैं क्योंकि वे सभी भाव आत्मा की मुक्ति में बाधाकारक हैं। इसलिये केवल शुद्धात्मा ही मैंपन के योग्य है। यही शौच धर्म है, यही परम धर्म है, यही सिद्ध पद का उपाय है। यही अनन्त दु:खों से छुटकारा पाने का उपाय है। यही इस भावना का फल है।

आस्रव भावना :- पुण्य और पाप ये दोनों अपने (आत्मा के) लिये आस्रव हैं; इसलिये विवेक द्वारा पहले पापों का त्याग करना और फिर एकमात्र आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से शुभभाव में रहना कर्तव्य है।

अनादि से जीव मिथ्यात्व युक्त राग-द्वेष करके कर्मों का आस्रव करता आया है, फिर वह अनन्त काल तक उन कर्मों के चक्कर में ८४ लाख योनियों में भटकता रहता है और अनन्तानन्त दु:ख भोगता है। सब से बड़ा आस्रव मिथ्यात्व ही है, इसलिये शीघ्र ही उसे दूर करने का उपाय

करना चाहिये क्योंकि एक बार मिथ्यात्व जाने से आत्मा का अनुभव होता है, फिर उस में बार-बार अतीन्द्रिय सुख अनुभव करने की लत अपने आप लग जाती है, जो अन्त में आत्मा की आस्रव मुक्ति का कारण बनती है। यही है इस भावना का फल।

विषय और कषाय भी आस्रव के कारण हैं और मिथ्यात्व, जो कि आस्रव का सब से बड़ा कारण है, वे उसे पुष्ट भी करते हैं। इसलिये मुमुक्षु जीव को सदैव विषय और कषाय को मन्द करने का और सम्यग्दर्शन के लिये कही गई अन्य योग्यतायें अर्जित करने का प्रयास करना चाहिये। जब जीव ने अनादि से इन्द्रिय के एक-एक विषय के पीछे भागकर अनन्तानन्त बार अपने प्राण गँवाये हैं, फिर इस मनुष्यभव में अगर वह पाँचों इन्द्रियों के विषयों के पीछे भागेगा तब उस का क्या हाल होगा? वह अपने लिये अनन्तानन्त दु:खों को आमन्त्रण देने का ही काम करेगा। वैसे भी एक-एक कषाय जीव को अनन्तानन्त दु:ख देने के लिये सक्षम है।

जीव के लिये पुण्य भी आस्रव है परन्तु जब वह जीव एकमात्र आत्मप्राप्ति और आत्मस्थिरता के हेतु से शुभभाव में रहता है, तब उसे पुण्यानुबन्धी पुण्य और सातिशय पुण्य का आस्रव तथा बन्ध होता है। वैसे पुण्य मोक्षमार्ग में बाधा रूप नहीं होते बल्कि सहायक ही होते हैं अर्थात् जब तक उस जीव का मोक्ष नहीं होता, तब तक ऐसे पुण्य से उस जीव को साता रूप/अनुकूल संयोग प्राप्त होते हैं। संसार के जीवों का विचार करने से समझ में आता है कि वे किस तरह से आस्रव से बन्ध रहे हैं, उन को देखकर हमें यह सोचना चाहिये कि मैंने भी अनन्तो बार इस तरह के आस्रव से बन्ध किया है और उस की पश्चात्ताप पूर्वक क्षमापना करनी चाहिये, आगे ऐसे आस्रव का सेवन कभी नहीं करूँगा, यह तय करना चाहिये। इस तरह से हर एक जानकारी का उपयोग हमें अपने (आत्मा के) फ़ायदे के लिये ही करना है। इस तरीके से आस्रव भावना का उपयोग करके हमें मुक्त होना है। यही इस भावना का फल है।

संवर भावना :- सच्चे (कार्यकारी) संवर की शुरुआत सम्यग्दर्शन से ही होती है। इसलिये उस के लक्ष्य से पापों का त्याग करके एकमात्र सच्चे संवर के लक्ष्य से द्रव्य संवर पालना चाहिये।

ऊपर कहे अनुसार अनादि से जीव मिथ्यात्व युक्त राग-द्वेष करके कर्मों का आस्रव करता आया है। अब सम्यग्दर्शन प्राप्त करके जैसे-जैसे आत्मानुभूति का काल और आवृत्ति बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे आस्रव का अधिकाधिक निरोध होकर अधिकाधिक संवर होता जाता है यानी संवर के लिये सब से पहले सम्यग्दर्शन प्राप्त करना आवश्यक है और सम्यग्दर्शन प्राप्ति हेतु पहले कही

गयी योग्यता प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना अति आवश्यक है।

योग्यता के साथ अभ्यास रूप से और पाप से बचने के लिये एकमात्र आत्मप्राप्ति और आत्मरमणता के लक्ष्य से दस प्रकार के धर्म अपनी शक्ति अनुसार करना चाहिये। उस से पापास्रव कम होगा और संवर का अभ्यास होगा। जैसे कि उत्तम क्षमा से क्रोध कषाय का संवर होगा, उत्तम मार्दव से मान कषाय का संवर होगा, उत्तम आर्जव से माया कषाय का संवर होगा, उत्तम अकिंचन/सन्तोष से लोभ कषाय का संवर होगा, उत्तम शौच-सत्य-संयम-तप-त्याग-ब्रह्मचर्य से हिंसा, झूठ, अविरति, विषयों आदि का संवर होगा। हर एक आस्रव के लिये हमें यह भावना भानी है कि अब मुझे यह आस्रव कभी न हो यानी उसे सेवन करने का भाव कभी न हो यह संस्कार दृढ़ करने से मेरी संवर भावना सार्थक होती है। संवर ही सत्य धर्म का फल है, जिस से जीव कर्म के बन्ध का निरोध करके मोक्ष प्राप्त करता है; यही इस भावना का भी फल है।

निर्जरा भावना :– सच्ची (कार्यकारी) निर्जरा की शुरुआत सम्यग्दर्शन से ही होती है, इसलिये उस के लक्ष्य से पापों का त्याग करके एकमात्र सच्ची निर्जरा के लक्ष्य से यथाशक्ति तप करना चाहिये।

निर्जरा दो प्रकार की होती है : १) अकाम निर्जरा और २) सकाम निर्जरा। अकाम निर्जरा हर एक जीव को अनादि से अपने आप होती रहती है। सकाम निर्जरा सम्यग्दृष्टि को गुणश्रेणी रूप होती है, अन्य को बहुत पुरुषार्थ करने पर भी निर्जरा कम होती है। इसलिये सभी धर्मी जीवों को सर्वप्रथम एकमात्र आत्मप्राप्ति का ही लक्ष्य रखना चाहिये और उस के लिये पहले बताये अनुसार योग्यता करने का पुरुषार्थ करना अति आवश्यक है।

योग्यता बनाने के लिये आत्म लक्ष्यपूर्वक शास्त्र को आईना समझकर स्वाध्याय करना चाहिये, ताकि अपने में शास्त्र अनुसार जो भी कमी है, उसे दूर किया जा सके। उस से उस का अभिप्राय भी सम्यक् हो सकता है, जिस के बग़ैर आत्मज्ञान सम्भव ही नहीं होता। इसलिये सारा पुरुषार्थ एकमात्र आत्मप्राप्ति हेतु तप, व्रत, बारह भावना, ''धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)'' का भाव इत्यादि स्वाध्यायरत रहने के लिये करना है ताकि जल्द ही आप निश्चय सम्यग्दर्शन पाकर सच्ची निर्जरा कर पायें। यही इस भावना का हेतु है।

लोक स्वरूप भावना :– प्रथम लोक का स्वरूप जानना, पश्चात् चिन्तन करना कि मैं अनादि से इस लोक के सभी प्रदेशों में अनन्त बार जन्मा और मरा, अनन्त दु:ख भोगे, अब कब तक चालु रखना है? इस के अन्त के लिये सम्यग्दर्शन आवश्यक है। अत: उस की प्राप्ति का उपाय

करना है। दूसरा, लोक में रहे हुए अनन्त सिद्ध भगवान और संख्यात अरिहन्त भगवान और साधु भगवन्तों की वन्दना करना और असंख्यात श्रावक-श्राविकाओं तथा सम्यग्दृष्टि जीवों की अनुमोदना करना, प्रमोद करना है।

अनादि से मैं इस लोक में जन्म-मरण, नरक, तिर्यंच और निगोद के दुःख सहता आया हूँ, देव और मनुष्य भव में भी मैंने अनादि से कई दुःख भोगे हैं। जब तक मिथ्यात्व मौजूद है, जीव को भवभ्रमण करने ही पड़ेंगे और दुःख झेलने ही पड़ेंगे। इस तरह से लोक स्वरूप भावना का विचार करके हर एक जीव को अपना पूर्ण पुरुषार्थ आत्मप्राप्ति के लिये लगाना यही इस भावना का उद्देश्य है।

लोक के स्वरूप का चिन्तन करना और उस में स्थित अनन्तानन्त जीवों के भावों का, सिद्धों का, अरिहन्तों का, मुनि भगवन्तों का, श्रावक-श्राविकाओं का, सम्यग्दृष्टियों का, जीवों के प्रकार का, जीवों के दुःखों का, दुःखों से मुक्ति पाने के मार्ग का, नरक-निगोद के स्वरूप का, छह द्रव्यों का, द्रव्य-गुण-पर्याय का, पुद्गल रूपी शरीर इत्यादि का भी चिन्तन करना लोक स्वरूप भावना का उद्देश्य है। जिस से जीव को मुक्ति का मार्ग आसानी से मिल पाये और वह कर्मों से मुक्त होकर सादि-अनन्त काल तक अनन्तानन्त सुख का उपभोग करे; यही इस भावना का फल है।

लोक, काल गणना इत्यादि की जानकारी लेना क्यों आवश्यक है? ऐसा लोग पूछते हैं, उस का उत्तर यह है कि - उस जानकारी से पता चलता है कि लोक कितना बड़ा है और हम अनादि से उस लोक के हर प्रदेश पर अनन्तों बार कैसे जन्म-मरण कर चुके हैं, कैसे-कैसे दुःख सहे हैं और भविष्य में कब तक ऐसे जन्म-मरण करने हैं, दुःख सहने हैं इत्यादि। इस से पता चलता है कि एक आत्मज्ञान नहीं होने से जीव कितना दुःखी होता है और आगे कितना दुःखी हो सकता है। इस से जीव जागृत हो सकता है और प्रमाद से बचके अपना आत्मकल्याण कर सकता है, यह है फल लोक स्वरूप भावना का। परन्तु किसी भी साधन को जब हम साध्य बना लेते हैं, तब हमारी प्रगति रुक जाती है। यह एक बड़ा भयस्थान है। इसीलिये किसी भी साधन का उचित उपयोग करके आगे बढ़ना होता है, न कि वहीं पर रुक जाना है अर्थात् उस साधन से लगाव नहीं बनाना है परन्तु अपने साध्य मोक्ष के लिये ही उस साधन (करणानुयोग) का उपयोग करके आगे बढ़ना है; इस प्रकार से लोक स्वरूप भावना का सहारा लेकर हमें अपनी संसार-मुक्ति तय करनी है। यही इस भावना का फल है।

बोधिदुर्लभ भावना :– बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन। अनादि से हमारी भटकन का यदि कोई कारण है तो वह है सम्यग्दर्शन का अभाव; इसलिये समझ में आता है कि सम्यग्दर्शन कितना दुर्लभ है, किसी आचार्य भगवन्त ने तो कहा है कि वर्तमान काल में सम्यग्दृष्टि अंगुली के पोर पर गिने जा सकें, इतने ही होते हैं।

बोधि यानी सम्यग्दर्शन कैसे पाएँ? किस विषय के चिन्तन से और अनुभव से सम्यग्दर्शन पाया जा सकता है और उस के लिये क्या योग्यता होनी चाहिये इत्यादि के लिये ही यह पुस्तक लिखी गई है; इस भावना का महत्त्व अपूर्व है। सभी त्वरा से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का उपाय करें यही इस भावना का फल है।

हमने अनन्तानन्त बार व्रत-नियम-यम-प्रत्याख्यान ग्रहण किये हैं ऐसा भगवान ने बताया है फिर भी अभी तक हम संसार से मुक्ति नहीं पा सके हैं, तब प्रश्न होता है कि ऐसा क्यों हुआ? उस का उत्तर एक ही है कि हमने जो भी व्रत-यम-नियम-प्रत्याख्यान ग्रहण किये वे संसार से मुक्ति पाने के लिये नहीं किये या फिर कहने के लिये तो संसार से मुक्ति पाने के लिये ही व्रत-यम-नियम-प्रत्याख्यान ग्रहण किये परन्तु अन्तर में संसार की रुचि समाप्त नहीं हुई यानी भवबन्धन रोग रूप नहीं लगा जिस से सच्चा वैराग्य उत्पन्न नहीं हुआ और सम्यग्दर्शन भी नहीं हुआ। बोधि यानी सम्यग्दर्शन के लिये सच्चा वैराग्य, कषायों की मन्दता और इच्छाओं का नाश आवश्यक है, जिस से मन में बसा हुआ संसार जल जाता है, तब हमारी बहिर्मुखता समाप्त होकर अन्तर्मुखता प्रगट होती है, जिस से हमारी सम्यग्दर्शन के लिये योग्यता बनती है। ऐसी योग्यता बनाकर सब जल्द से जल्द मोक्ष प्राप्ति का उपाय करें, यही इस भावना का फल है।

धर्म स्वरूप भावना :– वर्तमान काल में धर्म स्वरूप में बहुत विकृतियाँ प्रवेश कर चुकी हैं, अब सब को सत्य धर्म की शोध और उस का ही चिन्तन करना चाहिये। सारा पुरुषार्थ उसे प्राप्त करने में लगाना है।

वर्तमान काल में जिनशासन में कई सम्प्रदाय हो गये हैं और उन में भी बँटवारा हो हो कर के और नये-नये मत-पन्थ-सम्प्रदाय बन रहे हैं। प्राय: ये सभी सम्प्रदाय अपने को सच्चा/अच्छा/सर्वोच्च मानते हैं और अन्यों में कमियाँ दिखाते हैं या तो उन को कपोलकल्पित बताते हैं। इस तरह से अन्यों से जाने-अनजाने में द्वेष भी कराते हैं, जिस से अपना संसार बढ़ता है, दु:ख बढ़ता है।

प्रश्न :– ऐसे पंचम काल में एक मुमुक्षु जीव को धर्मप्राप्ति के लिये क्या करना चाहिये?

उत्तर :– सब से पहले उस मुमुक्षु जीव को भगवान के कथन के ऊपर विश्वास करके अपने कारोबार में से समय निकालना चाहिये क्योंकि धन तो पुण्य से आता है न कि कारोबार में ज़्यादा समय देने से। इस तरह से समय निकालकर उसे अपने सम्प्रदाय के शास्त्र निष्पक्ष दृष्टि से पढ़ना चाहिये, फिर उसे अन्य सम्प्रदाय के शास्त्रों को भी निष्पक्ष दृष्टि से पढ़ना चाहिये। उस अवलोकन में एक ही दृष्टि रखनी है कि ''जो सच्चा है, वह मेरा है।''

शास्त्र कैसे पढ़ें

उन शास्त्रों से अपनी आत्मा का निर्णय और अनुभव करने के लिये कार्यकारी बातें ग्रहण करनी हैं और अन्य विवादित बातों पर ज़्यादा लक्ष्य नहीं देना है। शास्त्रों को दर्पण रूप से पढ़ना अर्थात् शास्त्र की अच्छी बातें अगर मुझ में नहीं हों तो तुरन्त ही ग्रहण करना और अगर मेरी कोई बुरी बात लक्ष्य में आये तो तुरन्त ही निकालने की कोशिश करना और अगर निकाल नहीं पायें तब मन (अभिप्राय) से उस बुरी बात को अवश्य निकाल देना ताकि भविष्य में वह अपने आप निकल जाये यही है शास्त्र अभ्यास का तरीक़ा। इस तरह से शास्त्रों की बातों को अपने जीवन में प्रयोग में लायें और आगे बढ़ते जायें तब उसे अपने अन्तर से ही सत्य/असत्य का और उचित/अनुचित की समझ कालक्रम से आती रहेगी और वह खुले मन से आगे बढ़ता रहेगा। मुमुक्षु के लिये कोई भी शास्त्र अछूता नहीं होना चाहिये अर्थात् किसी भी शास्त्र विशेष का आग्रह, हठाग्रह, दुराग्रह नहीं होना चाहिये बल्कि सत्य की खोज और सत्य का ही आग्रह होना चाहिये। किसी भी शास्त्र या सम्प्रदाय का आग्रह आदि होने से अपने आप ही अन्यों के प्रति द्वेष उमड़ना स्वाभाविक हो जाता है और वह द्वेष उस मुमुक्षु को अनन्तानन्त काल तक संसार में रखता है, क्योंकि वह द्वेष शृंखला रूप होता है इसलिये वह आगे आनेवाले अनेक भवों तक उस मुमुक्षु को दु:खी करने के लिये सक्षम है। इसी प्रकार वह मुमुक्षु परीक्षा करके आगे बढ़ सकता है। जैसे, अगर कोई भी शास्त्र या सम्प्रदाय या गुरु अन्यों के प्रति रोष रखते हों या द्वेष करते हों या कराते हों, तब यह सोचना कि चूँकि यह निश्चित है कि सत्य धर्म में द्वेष के लिये कोई जगह नहीं होती, वहाँ मात्र करुणा होती है, इसलिये जहाँ द्वेष हो, वहाँ सत्य धर्म नहीं है। उस धर्म में कुछ कमी अवश्य है। इस प्रकार से मुमुक्षु का एकमात्र स्वकल्याण का ही लक्ष्य होना चाहिये न कि किसी मत–पन्थ–सम्प्रदाय या व्यक्ति विशेष की पालकी ढोने का या उस का प्रचार–प्रसार–विस्तार करने का कि जिस से अपने संसार का अन्त नहीं हो पायेगा। मुमुक्षु को उपर्युक्त दर्शाये गये पथ पर प्रयोगात्मक तरीक़े से और खुले मन से आगे बढ़ते रहना चाहिये और अपने विचार–वाणी–

वर्तन को बारीक़ी से देखते रहना चाहिये। उस में क्या बदलाव आ रहा है, यह भी देखते रहना चाहिये। एकमात्र आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से बारह भावना, चार भावना, ''धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)'' का भाव इत्यादि से मन में से संसार नाश करना है और यह देखते रहना है कि क्या अपनी इच्छाएँ कम हुईं? क्या अपने राग-द्वेष कम हुये? यही धर्म स्वरूप भावना का फल है। हमने इसी प्रकार से सत्य की प्राप्ति और अनुभूति पायी है। हम चाहते हैं कि आप भी इसी प्रकार से सत्य की प्राप्ति और अनुभूति करके सम्यग्दर्शन प्राप्त करें।

सत्य धर्म का स्वरूप क्या है? अर्थात् सत्य धर्म किसे कहते हैं और वह (सम्यग्दर्शन) कैसे पाया जा सकता है और उस के लिये क्या योग्यता होनी चाहिये इत्यादि के लिये ही यह पुस्तक लिखी है। इस भावना का महत्व अपूर्व है ऐसा समझकर जल्द ही सत्य धर्म का स्वरूप समझकर और उस का अनुभव करके सम्यग्दर्शन प्राप्त करें, यही इस भावना का फल है।

उपरोक्त योग्यता के विषय के कुछ सर्वाधिक महत्वपूर्ण बिन्दु संक्षेप में, मनन करने हेतु आगे प्रस्तुत करते हैं -

- मैं यहाँ केवल देने के लिये आया हूँ, वह भी बिना शर्त और बिना किसी अपेक्षा के।
- जो भी होता है, वह अच्छे के लिये ही होता है।
- मुझे मेरा फ़र्ज़ पूर्ण रूप से अदा करना है, परन्तु दूसरों से ऐसी अपेक्षा नहीं रखनी है।
- मुझे, अपने आप को बदलना है। यही एकमात्र धर्म की योग्यता पाने का पुरुषार्थ है; दूसरों को बदलने का प्रयत्न व्यर्थ होता है। दूसरों को, उनके अच्छे के लिये प्रेरणा दे सकते हैं परन्तु दबाव कभी नहीं डालना है।
- वर्तमान उदय को अर्थात् संयोग को बदलने का प्रयास न करके, उस को स्वीकार करने में ही समझदारी है, शान्ति है।
- वर्तमान का स्वीकार करके अपना पुरुषार्थ एकमात्र आत्मप्राप्ति के लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु लगाना है। क्योंकि वर्तमान उदय अर्थात् संयोग अपने हाथ की बात नहीं रही परन्तु भविष्य अपने हाथ में है। हम अपने भविष्य को बना सकते हैं, इसलिये अपना पुरुषार्थ प्रतिक्रिया में न लगाकर हमें अपना पुरुषार्थ क्रिया में, अर्थात् भविष्य सँवारने में लगाना चाहिये।
- मुझे सभी संयोग, कर्म (पुण्य/पाप) के अनुसार ही मिलनेवाले हैं और कर्म (पुण्य/पाप) के अनुसार ही टिकनेवाले हैं।
- कोई भी मुझे दु:ख देता है, उस के लिये दोष मेरे पूर्व कृत पाप कर्म का है अर्थात् मेरे

पूर्व के दुष्कृत्य का ही दोष है। उस दुष्कृत्य के लिये मन में माफ़ी माँगना है।

* अन्य किसी को दोषी नहीं मानना है। वे मात्र निमित्त हैं।
* दूसरों को अपने पूर्व पाप कर्मों से छुड़ानेवाले समझकर उन्हें उपकारी मानना और मन में धन्यवाद देना है, जिस से उन के ऊपर गुस्सा नहीं आयेगा।
* अगर कोई अपने घर का कचरा साफ़ कर देता है, तब हम उसे उपकारी ज़रूर मानते हैं। उसी तरह जब कोई अपनी आत्मा का कचरा (कर्म) साफ़ कर देता है, तब उसे भी उपकारी मानना आवश्यक है।
* इस तरह ''धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)'' करके आत्मा का फ़ायदा करते रहना है। इस से वह जीव जहाँ भी होगा वहाँ उसे किसी के प्रति शिकायत नहीं रहेगी।
* No Complaint Zone यानी मुझे कोई शिकायत नहीं रहेगी, क्योंकि वर्तमान में मेरे साथ जो भी हो रहा है, वह मेरे भूतकाल के कर्मों का ही फल है। इसलिये अगर मुझे किसी की शिकायत करनी भी हो तो वह मैं ख़ुद ही हूँ, अन्य कोई नहीं। तब फिर मैं किस से और क्यों शिकायत करूँ?
* लोक के सभी जीवों के प्रति अपने भावों को मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ्य इन चार वर्गों में ही बाँटना; अन्यथा वह मेरे लिये बन्धन का कारण बनेगा।
* हमारी सबसे बड़ी कमज़ोरी यह है कि हम सदैव दूसरों को ही बदलकर अपने अनुकूल बनाने में लगे रहते हैं, जिस में सफलता मिलना अत्यन्त कठिन है।
* अपने आप को बदलना, सब से आसान होने पर भी उस के लिये हम कभी प्रयास तक नहीं करते। अपने आप को धर्म के अनुकूल बदलना सम्यग्दर्शन की योग्यता प्राप्त करने के लिये अनिवार्य है।
* अनादि से हमने जगत के ऊपर अपना हुक्म चलाना चाहा है, जगत को अपने अनुकूल परिवर्तित करना चाहा है। सभी मेरे अनुसार चलें और मेरे कहे अनुसार बदलें, यही चाहा है। परन्तु हमने कभी अपने आप को भगवान के कहे अनुसार परिणमन कराना नहीं चाहा, बल्कि हम अनादि से अपनी मति अनुसार ही परिणमे हैं; यही हमारी स्वच्छन्दता है।
* अनादि से हम प्रशंसा प्रेमी हैं। कोई अगर हमारी निन्दा करता है, तब हमें तक़लीफ़ होती

है। मगर हमें यह समझना है कि निन्दा-प्रशंसा, सुख-दुःख, रति-अरति, अमीरी-ग़रीबी इत्यादि सभी संयोग कर्मों के अधीन होते हैं; अपने चाहने से या नहीं चाहने से उन में कोई फ़र्क़ पड़नेवाला नहीं, परन्तु हम आर्तध्यान और रौद्रध्यान के भागी अवश्य होंगे।

* अनादि से हमें सत्य धर्म की प्राप्ति अति दुर्लभ बनी हुई है और जब भी कभी हमें सत्य धर्म की प्राप्ति हुई, तब भी हम उसे पहचान नहीं पाये और अगर पहचाना भी तो हम उस पर श्रद्धा नहीं कर पाये।
* अनादि से हम सत्य धर्म के नाम से कोई न कोई सम्प्रदाय, पक्ष, आग्रह या किसी व्यक्ति के प्रति राग में फँसकर रह गये, उसे ही सत्य धर्म मानकर अपना अनन्त काल गँवाया है और अनन्त दुःख सहे हैं।
* सत्य धर्म पाने के लिये "सच्चा वही मेरा और अच्छा वही मेरा" यह भाव रखना आवश्यक है।
* सत्य धर्म पाने के लिये जीव को सत्य का स्वीकार करने को तत्पर होना चाहिये (ready to accept) और उस के अनुसार जीव अपने आप को बदलने के लिये भी तत्पर होना चाहिये (ready to change), अन्यथा वह सत्य धर्म नहीं पा सकता।
* सत्य धर्म ज्ञानी के अन्तर में बसता है, वह बाहर ढूँढ़ने से मिलनेवाला नहीं। सत्य धर्म प्राय: ज्ञानी के सांनिध्य में मिलेगा क्योंकि ज्ञानी ही जीव को आत्मा की पहचान आसानी से करा सकते हैं। इसलिये सत्य धर्म को कोई बाहर के क्रियाकाण्ड अथवा व्रत आदि में न मानकर उसे आगे कहे अनुसार ख़ुद के अन्तर में खोजना है अर्थात् ख़ुद के अन्तर में प्रगट करना है।
* जो मोक्षमार्ग जानता है, वही उसे बता सकता है। क्योंकि मोक्षमार्ग संसार में डूबे हुए जीवों के लिये अति गहन और अगम्य है, परन्तु सत्पुरुष/ज्ञानी के माध्यम से सुलभ है।
* सत्य धर्म की योग्यता प्रकट करने के लिये नीति-न्यायपूर्वक अर्थार्जन, प्राप्ति में सन्तोष, कम से कम समय अर्थार्जन के लिये देना, अधिक से अधिक समय स्वाध्याय-मनन-चिन्तन आदि में लगाना, सात्विक भोजन, कन्दमूल-अनन्तकाय का त्याग, जीव दया का पालन, रात्रिभोजन का त्याग, अभक्ष्य का त्याग, शरीर को कम से कम सँवारना, सादगीयुक्त जीवन, सुखशीलता का त्याग, अति क्रोध-मान-माया-लोभ का त्याग, पुराने पापों का पश्चात्ताप, बारह भावना का चिन्तन, जीवों के प्रति चार भावना, पंच परमेष्ठी

भगवन्तों के गुणों के प्रति अहोभाव, सभी जीवों के लिये गुणदृष्टि इत्यादि करना आवश्यक है।

* सत्य धर्म इतना सामर्थ्यवान है कि उस की सच्ची श्रद्धा होने मात्र से ही वह जीव अपने आप उस धर्म के अनुकूल बदलना शुरु हो जाता है।
* अपने आप को उस धर्म के अनुकूल बदलने से अपने सत्ता में रहे हुए कर्मों के ऊपर अनेक प्रक्रियाएँ होना प्रारम्भ हो जाती हैं। जैसे - पाप प्रकृति का पुण्य प्रकृति में संक्रमण, पुण्य का उदवर्तन, पाप का अपवर्तन इत्यादि। इस से कई बार सूली की सज़ा सुई में बदल जाती है।
* इस तरह से सूली की सज़ा सुई में बदल जाने के बावजूद भी हमें उस का ज्ञान न होने से लोग कभी-कभी ऐसा भी सोचते हैं कि - देखो यह धर्मी जीव होने के बावजूद भी कितना दु:खी है? मगर उन्हें पता नहीं है कि - सच्चा धर्मी जीव अब अमुक गति में जानेवाला ही नहीं होने से, उस गति के लायक पाप कर्मों का संक्रमण होकर अभी उदय में आये हैं, इस कारण से हमें कभी-कभी लगता है कि - यह धर्मी जीव होने के बावजूद भी कितना दु:खी है।
* उस दु:ख के संयोग में भी अगर जीव उपरोक्त ‘‘धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)’’ का भाव लाने का पुरुषार्थ करता है, तब वह जीव दु:ख में भी सुखी रह सकता है। लोगों को लगेगा कि यह जीव बहुत दु:खी है, मगर वह जीव ‘‘धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)’’ और ‘‘जो भी होता है अच्छे के लिये ही होता है’’ के माध्यम से समाधानी और समताभावी बनकर शान्त और प्रसन्न रहेगा।
* हमने अनादि से आज तक अनन्तानन्त बार दीक्षा ग्रहण की, अनन्तानन्त बार व्रत-तप आदि किये, अनन्तानन्त बार ध्यान आदि किये, अनन्तानन्त बार हमने ‘‘मैं आत्मा हूँ’’ या ‘‘मैं शुद्धात्मा हूँ’’ या ‘‘सोऽहम्’’ या ‘‘अहं ब्रह्मास्मि’’ या ‘‘तत्त्वमसि’’ इत्यादि जाप किये या रट्टा लगाया; परन्तु सत् की प्राप्ति अर्थात् सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हुई। क्योंकि जब तक आत्मा योग्यता की प्राप्ति नहीं करती तब तक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति अति दुर्लभ है अर्थात् पहले हमें आत्मा को मोह के ज्वर से बचाना है। इसीलिये भगवान ने कहा है कि कई बार अनेक जीव नौ पूर्वों के पाठी होने के बावजूद भी सम्यग्दर्शन नहीं पा सके।

मोह के बुख़ार को नापने के लिये मानक-मापदण्ड है यह प्रश्न - हमें क्या पसन्द है। इस प्रश्न के उत्तर में जब तक सांसारिक वस्तु या सम्बन्ध या इच्छा या आकांक्षा है, तब तक हमें समझना है कि हमें मोह का बहुत तेज़ बुख़ार है और उस बुख़ार का पहले कहे

अनुसार इलाज करना आवश्यक है।

- हमने अनादि से आज तक अनन्तानन्त बार दीक्षा ग्रहण की, अनन्तानन्त बार व्रत-तप आदि किये, अनन्तानन्त बार ध्यान आदि किये, अनन्तानन्त बार हमने ''मैं आत्मा हूँ'' या ''मैं शुद्धात्मा हूँ'' या ''सोऽह्म्'' या ''अहं ब्रह्मास्मि'' या ''तत्त्वमसि'' इत्यादि जाप किये या रट्टा लगाया; परन्तु सत् की प्राप्ति अर्थात् सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हुई। क्योंकि यह सब हठयोग कहलाता है और वास्तव में सत्य धर्म पीछे कहे गये उपचार (सहज योग) से सहज ही प्राप्त होता है, न कि हठयोग से।
- हमने अनादि से धर्म को बाहर ही ढूँढ़ा; मगर आत्मा का धर्म, आत्मा के बाहर कैसे हो सकता है? बाहर से हमको एक मात्र दिशा निर्देश ही मिल सकता है; परन्तु वह सम्यक् दिशा निर्देश प्राप्त करने के लिये हमारे पास खुला दिमाग़, शास्त्रों का गहन अध्ययन तथा शास्त्रों से मात्र अपने आत्म कल्याण के लिये कार्यकारी बातें (आत्मा के निर्णय और आत्मा की अनुभूति के लिये जो आवश्यक हैं, वे बातें) ही ग्रहण करने का भाव रखना चाहिये। विवादास्पद बातें ग्रहण न करें। जिस का उत्तर सिर्फ़ केवली भगवान ही दे सकते हैं ऐसी विवादास्पद बातें ग्रहण न करके वैसी बातों के लिये मध्यस्थ भाव रखना और जैसा केवली भगवान ने देखा है, वैसा मुझे मान्य है, ऐसा भाव रखना, ''सच्चा वही मेरा और अच्छा वही मेरा'' ऐसा भाव, सत्य का स्वीकार करने की तत्परता, उस के अनुसार जीव की अपने आप को बदलने की तत्परता इत्यादि होना परम आवश्यक हैं।
- जिन्होंने आत्मा का अनुभव किया है ऐसे सत्पुरुषों का योग और उन के प्रति अपना सम्पूर्ण समर्पण आवश्यक है। क्योंकि उन के प्रति अपने सम्पूर्ण समर्पण से उन का उपदेश हमारे जीवन में झट से परिणमता है। हमारे जीवन में त्वरा से धर्म के अनुकूल बदलाव आता है।
- मेरे साथ कभी भी अन्याय नहीं होता। मेरे साथ जो भी घटित होता है, वह निश्चय से मेरे कर्मों का ही फल है इस भावना से अन्याय की बात ही नहीं रहती। मेरे साथ जो कुछ भी होता है, वही मेरे लिये न्यायसंगत है। परन्तु इस से मुझे अन्य किसी के साथ अन्याय करने का लाइसेंस नहीं मिलता, यह समझना परम आवश्यक है।
- आत्मप्राप्ति के लक्ष्य के साथ पहले कहे अनुसार वैराग्य और उपशम होना अति आवश्यक है।
- सत्पुरुष, सत्संग और सत्शास्त्र का अध्ययन इत्यादि सत्य धर्म पाने के लिये पथप्रदर्शक का काम करते हैं।

- सर्व संयोग अनित्य हैं, कोई भी संयोग नित्य अपने साथ रहनेवाले नहीं हैं। इसलिये संयोगों में मेरापन और मैंपन त्यागना अति आवश्यक है।
- वैराग्य यानी मेरे मन में बसे संसार का नाश करना अर्थात् बाहर का संसार हमें उतना बाधाकारक नहीं होता जितना बाधाकारक हमें अपने मन का संसार होता है। इसलिये पहले हमें अपने मन के संसार का नाश बारह भावना-अनुप्रेक्षा से करना है, बाद में बाहर के संसार का नाश क्रमश: अवश्य होगा।
- मन में बसे संसार का कारण दर्शनमोहनीय कर्म है और बाहर के संसार का कारण चारित्रमोहनीय कर्म है। प्रथम दर्शनमोहनीय कर्म जाता है, तब सम्यग्दर्शन (चौथा गुणस्थानक) प्राप्त होता है, और बाद में जब चारित्रमोहनीय कर्म क्रमश: जाता है, तब पाँचवाँ आदि गुणस्थानक प्राप्त होता है अर्थात् बाहर के संसार का नाश क्रमश: होता है।
- संसार के सभी सम्बन्ध स्वार्थ पर आधारित हैं और क्षणिक भी हैं, उन में आसक्ति करने योग्य नहीं है। परन्तु अपना जो भी कर्तव्य है, वह पूरी निष्ठा से निभाना है, उस में कोई भी कमी नहीं रखनी है।
- शरीर अशुद्धि से भरा हुआ है। उसे कितनी ही बार स्नान कराने पर भी वह तुरन्त ही अशुद्ध हो जाता है। शरीर में करोड़ों रोग भी भरे हुए हैं। वे कब उदय में आ जायेंगे, पता नहीं। धुले हुए कपड़े को एक बार भी शरीर पर धारण करने से, कपड़े अशुद्धि-युक्त हो जाते हैं। ऐसे शरीर का मोह करने याग्य नहीं है।
- संसार आधि-व्याधि-उपाधि से भरा हुआ है। संसार में कहीं भी सुख नहीं होने पर भी जो सुख प्रतीत होता है, वह सुखाभास मात्र है और वह क्षणिक भी है; वह सच्चा सुख नहीं है। जब तक मोह मन्द नहीं होता, तब तक यह बात समझ में नहीं आती, इसलिये जिसे संसार में सुख दिखता हो, उसे पीछे कहे गये उपायों से मोह मन्द करना भी आवश्यक है।
- मनुष्य भव अति दुर्लभ है, उस में भी पूर्ण इन्द्रियाँ, लम्बी आयु, आर्य क्षेत्र, उत्तम कुल, सत्य धर्म, श्रद्धा आदि सभी एक-एक से अति दुर्लभ हैं। इन्हें पाने के बाद अगर हम उन का सही उपयोग नहीं कर पाये, तब हमें अन्ततोगत्वा एकेन्द्रिय में जाने से कोई बचा नहीं सकता। फिर एकेन्द्रिय गति से निकलना चिन्तामणि रत्न की प्राप्ति से भी अधिक दुर्लभ बताया गया है।
- Daily Progress यानि दैनिक प्रगति : अगर हम हर दिन आन्तरिक आध्यात्मिक

प्रगति कर नहीं पाये, तब हमारा आध्यात्मिक पतन निश्चित ही है। क्योंकि अपने भाव स्थिर नहीं रहते, अगर वे उन्नत नहीं हुए तो वे अवश्य अवनत हो जायेंगे।

* जीव के अनन्त संसार में डूबने के प्राय: निम्नलिखित स्थान है :-

विषय-कषाय, आरम्भ-परिग्रह, अहम्-मम् (मैं-मेरा), कर्तृत्वपन, निमित्ताधीनता, ईर्ष्या-निन्दा-दम्भ, आदि, शरीर-धन-काम-भोग, आदि, आर्त ध्यान-रौद्र ध्यान, प्राप्ति में आसक्ति-अप्राप्त की कामना, तत्त्व का विपरीत निर्णय, इत्यादि। इसलिये इन सब से बचने का पुरुषार्थ करना अति आवश्यक है।

* लोक में अनन्त काल तक रहने के दो ही स्थान हैं-निगोद तथा मोक्ष। इसलिये अपने पास दो ही विकल्प हैं - अगर हमने सिद्धत्व पाने के लिये सम्यग्दर्शन नहीं पाया तब नियम से दूसरा विकल्प यानी निगोद प्राप्त होगा। निगोद by default यानी बिना किसी यत्न के अपने-आप मिल जाता है मगर सिद्धत्व पाने के लिये पीछे बताये गये यत्न अर्थात् आत्मा का पुरुषार्थ करना आवश्यक है; अब तय हम को करना है कि हमें क्या चाहिये।

* इसलिये इस मनुष्य भव के प्रत्येक समय की क़ीमत अमूल्य है क्योंकि एक समय बीत जाने के बाद वह हमें फिर से, कोई भी क़ीमत चुकाने पर भी, प्राप्त नहीं होता। अर्थात् हमें हर समय का उपयोग विवेकपूर्ण ढंग से करना है और एक भी समय व्यर्थ नहीं गँवाना है।

* मैं, देह रूप नहीं मगर देह देवालय में विराजमान भगवान आत्मा हूँ। मैं ही पाँचों इन्द्रियों के माध्यम से जानने-देखनेवाला एकमात्र ज्ञायक हूँ। इसलिये जब तक मैं हाज़िर हूँ तब तक ही ये इन्द्रियाँ जानती-देखती हैं, जैसे ही मैं इस शरीर से निकला (अर्थात् मरण हुआ) बाद में यही इन्द्रियाँ बेकार हो जाती हैं। वे बिना आत्मा के कुछ भी जान-देख नहीं पातीं। वस्तुत: आत्मा ही सब कुछ जानता-देखता है न कि इन्द्रियाँ इसीलिये आत्मा को ज्ञायक संज्ञा प्राप्त है, ज्ञायक नाम प्राप्त हुआ है।

* मैं (आत्मा) सत्-चित्-आनन्द स्वरूप हूँ। सत् यानी अस्तित्व, अर्थात् मेरा अस्तित्व त्रिकाल है। चित् यानी जानना-देखना, अर्थात् मेरा कार्य त्रिकाल जानने-देखने का है। आनन्द यानी अनन्त अव्याबाध अतीन्द्रिय सुख, अर्थात् मेरा स्वभाव त्रिकाल आनन्दमय है। इतने वैभववान होने के बावजूद भी कई जीव सुखाभास के पीछे पागल दिखते हैं, सुखाभास की भीख माँगते दिखते हैं। यह बड़ी करुणाजनक कहानी है।

* सच्चा सुख उसे कहते हैं जो स्वाधीन हो, शाश्वत हो, कभी भी उस से ऊब न हो, दुःखमिश्रित न हो, दुःखपूर्वक न हो और दुःखजनक भी न हो। आत्मा ऐसी ही सुखमय है, अन्य जो भी सुख लगते या दिखते हैं, वे सभी सुखाभास मात्र हैं। क्योंकि वे क्षणिक हैं, पराधीन हैं, दुःखपूर्वक हैं और दुःखजनक भी हैं।

* धर्म २४ x ७ का होता है अर्थात् चौबीस घण्टे और हफ़्ते के सातों दिन चले ऐसा होता है। चार भावना, बारह भावना, अन्य योग्यता के बोल और ''धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)'' का भाव २४ x ७ सँजोना है। क्योंकि हमारा कर्म बन्ध २४ x ७ चलता रहता है, इसलिए हमें उस से बचने के लिये धर्म भी २४ x ७ चले ऐसा चाहिये। यह नहीं कि एक बार प्रक्षाल, पूजा, प्रवचन, सामायिक, क्रम, स्वाध्याय, ध्यान या प्रतिक्रमण इत्यादि कर लेने से हमारा काम पूरा हो गया।

* इस के लिये हर घण्टे को या दो घण्टे को हमारे मन के परिणाम जाँचते रहना है। परिणाम को उन्नत करते रहना और लगे हुए पापों का प्रायश्चित्त, निन्दा, गर्हा आदि करना है; फिर से ऐसे परिणाम न हों, उस का ख़याल रखना है।

* जब भी समय मिले णमोकार मन्त्र का स्मरण करते रहना और हमें भी भगवान बनना है, इस बात का स्मरण रखना है।

* निरन्तर सत्संग की इच्छा करना, अन्तर्मुखी रहना, ख़ुद के दोष देखते रहना, उसे मिटाने का पुरुषार्थ करते रहना इत्यादि एकमात्र आत्मप्राप्ति के लक्ष्यपूर्वक करना आवश्यक है। विद्वज्जनों के लिये भी मोह को जीतना महादुष्कर होता है क्योंकि कोरी विद्वत्ता मोह को परास्त करने के लिये कार्यकारी नहीं होती।

* मोह को पराभूत करने के लिये जितना वैराग्य और पीछे कही हुई अन्य योग्यतायें आवश्यक है, उतनी विद्वत्ता की आवश्यकता नहीं है, उल्टा कभी-कभी विद्वत्ता कषाय (क्रोध-मान-माया-लोभ) को जन्म या बढ़ावा देनेवाली बन जाती है; इसलिये सदैव सावधान रहना आवश्यक है।

◆

२५

शुभोपयोग निर्जरा का कारण नहीं

पंचाध्यायी उत्तरार्ध के श्लोक–

श्लोक ७६२ : अर्थ :– 'बुद्धि की मन्दता से ऐसी भी आशंका नहीं करना कि शुभोपयोग, एकदेश से भी निर्जरा का कारण होता है क्योंकि शुभ उपयोग, अशुभ को लानेवाला होने से (मतलब जो शुभ उपयोग में धर्म समझते हैं और शुभ उपयोग से निर्जरा भी मानते हैं ऐसा एक वर्ग है, उन्हें यहाँ समझाया है कि स्वात्मानुभूति रूप निश्चय सम्यग्दर्शन के बिना शुभ उपयोग नियम से आत्मा में अल्प शुभ के साथ–साथ मोहनीयादि घाति कर्मों का आस्रव भी कराता है और वह मोहनीयादि घाति कर्म नियम से जीव को दुःख के करनेवाले हैं, अशुभ को लानेवाले हैं यानी शुभ उपयोग जीव को संसार से मुक्त नहीं कराता ऐसा समझाना है। परन्तु यहाँ शुभ उपयोग का निषेध नहीं समझना, नहीं तो लोग स्वच्छन्दता से अशुभ ही आचरण करेंगे; यहाँ उद्देश्य शुभ छुड़ाकर अशुभ में ले जाने का नहीं परन्तु निर्जरा मात्र शुद्ध उपयोग से ही होती है ऐसा बताना है और इसीलिये बताया है कि शुभ उपयोग) वह निर्जरा का हेतु नहीं हो सकता तथा न तो वह शुभ भी कहा जा सकता है।'

इसलिये शुभ उपयोग से निर्जरा नहीं समझना और इस गाथा से शुभ का निषेध भी नहीं समझना। शुभ उपयोग वह शुद्ध उपयोग का (निर्जरा का) कारण नहीं परन्तु वह शुभ उपयोग शुभ भावों का (वीतराग देव–गुरु–शास्त्र के संयोग का) कारण अवश्य है, इसलिये एकमात्र आत्मा के लक्ष्य से यानी आत्मा की प्राप्ति के लिये (सम्यग्दर्शन के लिये) जो योग्यता रूप शुभ उपयोग है, वह अपेक्षा से आचरण करने योग्य है, क्योंकि जीव को अशुभ उपयोग में रहने का उपदेश तो कोई भी शास्त्र नहीं देते और इसीलिये पुण्य (शुभ) को हेय समझकर स्वच्छन्दता से कोई अशुभ उपयोग रूप परिणमता हो तो वह अपने अनन्त संसार को बढ़ाने का ही उपाय कर रहा है ऐसा समझना।

यहाँ शुभ उपयोग को निर्जरा का कारण नहीं माना है, क्योंकि गुण श्रेणी निर्जरा का एकमात्र कारण शुद्धोपयोग ही है। केवल इसी अपेक्षा से शुभ उपयोग (पुण्य) हेय है परन्तु कोई स्वच्छन्दता से अन्यथा समझकर यदि पुण्य को हेय कहकर पाप रूप परिणमेगा तो ऐसा तो किसी भी आचार्य भगवन्त का उपदेश नहीं है और ऐसी अपेक्षा भी नहीं है। रत्नकरण्डक श्रावकाचार श्लोक १४८

में भी बताया है कि ‘पाप जीव का शत्रु है और धर्म जीव का मित्र है, ऐसा निश्चय करता हुआ श्रावक यदि शास्त्र को जानता है, तो वह निश्चय से श्रेष्ठ ज्ञाता अथवा कल्याण का ज्ञाता होता है।’ और आत्मानुशासन गाथा ८ में भी बताया है कि ‘पाप से दुःख और धर्म से सुख यह बात लौकिक में भी जगत प्रसिद्ध है और सभी समझदार मनुष्य भी ऐसा ही मानते हैं। जो सुख के अर्थी हों, उन्हें पाप छोड़कर निरन्तर धर्म अंगीकार करना चाहिये।’

इसलिये नियम से एकमात्र आत्मलक्ष्य से शुभ में ही रहना योग्य है ऐसा हमारा अभिप्राय है जैसा कि इष्टोपदेश श्लोक ३ में कहा है कि ‘व्रतों द्वारा देव पद प्राप्त करना अच्छा है परन्तु अरे! अव्रतों द्वारा नरक पद प्राप्त करना अच्छा नहीं। जैसे छाया और धूप में बैठकर राह देखनेवाले दोनों (पुरुषों) में बड़ा अन्तर है, वैसे (व्रत और अव्रत का आचरण करनेवाले दोनों पुरुषों में बड़ा अन्तर है)।’

आगे आत्मानुशासन गाथा २३९ की टीका में भी पण्डित श्री टोडरमलजी बताते हैं कि ‘निश्चय दृष्टि से देखने पर एक शुद्धोपयोग ही उपादेय है। शुभाशुभ सर्व विकल्प त्याज्य हैं तथापि ऐसी तथारूप दशा सम्पन्नता प्राप्त न हो तब तक उसी दशा की (शुद्धोपयोग रूप दशा की) प्राप्ति के लक्ष्यपूर्वक प्रशस्तयोग (शुभोपयोग रूप) प्रवृत्ति उपादेय है अर्थात् शुभ वचन, शुभ अन्तःकरण, और शुभ काया परिस्थिति आदरणीय है–प्रशंसनीय है परन्तु मोक्षमार्ग का साक्षात् कारण नहीं तथापि शुद्धोपयोग के प्रति वृत्ति का प्रवाह कुछ अंश में लक्षित हुआ है, ऐसे लक्ष्यवान जीवों को परम्परा से कारण रूप होता है।’ आत्मानुशासन गाथा २४० में भी बताया है कि ‘प्रथम अशुभोपयोग छूटे तो उस के अभाव से पाप और तज्जनित प्रतिकूल व्याकुलता रूपी दुःख स्वयं दूर होते हैं और अनुक्रम से शुभ के भी छूटने से पुण्य, तथा तज्जनित अनुकूल व्याकुलता–जिसे संसार परिणामी जीव सुख कहते हैं, उस का भी अभाव होता है...’ इसलिये कोई स्वच्छन्दता से अशुभ उपयोग रूप न परिणमे ऐसा हमारा अनुरोध है क्योंकि ऐसा करने से तो उस का भव भ्रमण और बढ़ेगा।

◆

२६

सम्यग्दर्शन बिना द्रव्य चारित्र

पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध के श्लोक–

श्लोक ७६९ : अर्थ :– 'और जो द्रव्य चारित्र और श्रुतज्ञान है, वह यदि सम्यग्दर्शन के बिना होते हैं तो वह न ज्ञान है न चारित्र है। यदि है तो केवल कर्मबन्ध करनेवाला है।'

अर्थात् यहाँ प्रथम बताये अनुसार कोई अपने को द्रव्य चारित्र से ही अथवा क्षयोपशम ज्ञान से ही हम मोक्षमार्ग में हैं ऐसा समझते हों और लोगों को ऐसा समझाते हों तो उन के लिये यह श्लोक लाल बत्ती समान है। किसी को भी अभ्यास रूपी द्रव्य चारित्र लेने की कोई मनाही नहीं परन्तु उस से यदि कोई अपने को कृतकृत्य समझते हों अथवा समझाते हों और स्वयं को छठवें अथवा सातवें गुणस्थानक स्थित मानते हों अथवा मनवाते हों और श्रावक अपने को पाँचवें गुणस्थानक में स्थित समझते हों अथवा समझाते हों तो उन के लिये यह श्लोक लाल बत्ती समान है। इसलिये यदि कोई ऐसा न समझकर, अपने को मात्र आत्मलक्ष्य से यानी आत्मप्राप्ति के लिये अभ्यास रूपी चारित्र मानते, समझते हों और उस के लिये ही श्रुत ज्ञान आराधते हों तो वे कर्मबन्ध के कारण से आंशिक रूप से बच सकते हैं और पूर्व में बताये अनुसार अपना कल्याण भी कर सकते हैं।

* * *

२७

स्वपर विषय का उपयोग करनेवाला भी आत्मज्ञानी होता है

पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध के श्लोक–

श्लोक ८४५ : अर्थ :– 'उस क्षायोपशमिक ज्ञान का विकल्पपना (परपदार्थ को जानने रूप उपयोग) ज्ञान चेतना का बाधक कारण नहीं हो सकता (यानी यदि कोई ऐसा मानते हों कि जीव पर को जानता है, ऐसा मानने से मिथ्यात्वी हो जाते हैं अथवा जीव पर को जानता है ऐसा मानने से सम्यग्दर्शन को बाधा होती है, सम्यग्दर्शन नहीं होता। तो यहाँ समझाते हैं कि ज्ञान का पर को जानना, वह सम्यग्दर्शन के लिये बाधक कारण नहीं है) क्योंकि जिस गुण की जो पर्याय होती है, वह कथंचित् तद् रूप (उस गुण रूप) ही होती है इसलिये क्षायोपशमिक ज्ञान का विकल्प ज्ञानचेतना रूप शुद्ध ज्ञान का शत्रु नहीं है।'

इसलिये जब ज्ञान पर को जानता है तब वह ज्ञान गुण स्वयं ही उस आकार का होने पर भी अपना स्वत: सिद्ध ध्रुव रूप ज्ञानपना नहीं छोड़ता और इसीलिये ही उस पर को जानने रूप ज्ञान गुण का परिणमन ज्ञानसामान्य रूप ज्ञानचेतना का (शुद्धज्ञान का) शत्रु नहीं, बाधक नहीं, ऐसा समझकर ऐसा डर हो तो अवश्य निकाल देना आवश्यक है; यही बात आगे दृढ़ कराते हैं–

श्लोक ८५८ : अर्थ :– 'ज्ञानोपयोग के स्वभाव की महिमा ही कोई ऐसी है कि वह (ज्ञानोपयोग) प्रदीप की भाँति स्व तथा पर दोनों के आकार का एक साथ प्रकाशक है।' इस श्लोक में ज्ञान का स्व–पर प्रकाशक स्वभाव दर्शाया है और उसे ही ज्ञान की महिमा कहा है।

श्लोक ८६० : अर्थ :– 'जो स्वात्मोपयोगी ही है, वही नियम से उपयुक्त है ऐसा नहीं (जो मात्र स्व उपयोगी है, वही सम्यग्दृष्टि है ऐसा नहीं) तथा जो परपदार्थोपयोगी है, वही निश्चय से उपयुक्त है ऐसा नहीं (जो मात्र पर को जानता है वही सम्यग्दृष्टि है, ऐसा भी नहीं) परन्तु उभय (दोनों) विषय को जाननेवाला ही उपयुक्त अर्थात् उपयोग करनेवाला होता है–ऐसा नियम है, इस प्रकार क्रिया का अध्याहार – ऊहापोह करना चाहिये।' यानी सम्यग्ज्ञान स्व–पर के ज्ञान और विवेक सहित ही होता है, अन्यथा नहीं।

भावार्थ :– 'मात्र स्व–विषय का या मात्र पर विषय का ही उपयोग करनेवाला कोई उपयोग वाला होता है ऐसा नहीं, परन्तु स्व–पर विषय का उपयोग करनेवाला ही आत्मज्ञानी होता है।'

इसलिये जीव पर को जानता है, ऐसा मानने से मिथ्यात्वी हो जाते हैं अथवा जीव पर को जानता है ऐसा मानने से सम्यग्दर्शन को बाधा आती है, सम्यग्दर्शन नहीं होता ऐसा कोई डर हो तो छोड़ देना और उल्टा ज्ञान (आत्मा) पर को जानता है ऐसा कहने–मानने में कुछ भी दिक़्क़त नहीं क्योंकि वही ज्ञान की पहचान है। अन्यथा तो वह ज्ञान ही नहीं है।

श्लोक ८७७ : अर्थ :– 'रागादि भावों के साथ बन्ध की व्याप्ति है परन्तु ज्ञान के विकल्पों के साथ बन्ध की व्याप्ति नहीं (यानी आत्मा पर को जाने तो उस से कुछ बन्ध ही नहीं, मात्र वह = आत्मा उस में राग–द्वेष करे, उस से ही बन्ध होता है, और इसलिये मात्र पर का जानना अथवा जानने में आना, उस में बन्ध की व्याप्ति नहीं है।) अर्थात् ज्ञान विकल्पों के साथ इस बन्ध की अव्याप्ति ही है परन्तु रागादिकों के साथ जैसी बन्ध की व्याप्ति है, वैसी ज्ञान विकल्पों के साथ व्याप्ति नहीं।'

इसलिये आत्मा वास्तव में अपने ज्ञान में रचित आकारों को ही जानती है पर को नहीं जानती (आँख की पुतली की तरह) ऐसी ज्ञान की व्यवस्था होने पर भी, अर्थात् आत्मा पर सम्बन्धी के अपने ज्ञेयाकारों को ही जानती है और वैसा पर का जानना किसी भी प्रकार से सम्यग्दर्शन में बाधक नहीं है तथा वैसा पर का जानना किसी भी प्रकार से बन्ध का कारण नहीं है; अपितु वह अपेक्षा से स्व में जाने की सीढ़ी अवश्य है कि जो बात पूर्व में हमने विस्तार से समझायी है क्योंकि स्थूल से ही सूक्ष्म में जाया जाता है। प्रगट से ही अप्रगट में जाया जाता है। व्यक्त से ही अव्यक्त में जाया जाता है यही नियम है।

२८

प्रवचनसार अनुसार सम्यग्दर्शन का विषय

गाथा ३३ : टीका :- 'जैसे भगवान, युगपत् परिणमते समस्त चैतन्य विशेषोंवाले केवलज्ञान द्वारा, अनादिनिधन-निष्कारण-असाधारण-स्वसंवेद्यमान-चैतन्य सामान्य जिस की महिमा है तथा चेतक स्वभाव द्वारा एकपन होने से जो केवल (अकेला, अमिश्रित, शुद्ध, अखण्ड) है...'

ऐसा है सम्यग्दर्शन का विषय (दृष्टि का विषय) और वह चैतन्य सामान्य होने से यानी उस में सभी विशेषभावों का अभाव होने से ही शुद्धात्मा को = दृष्टि के विषय को अलिंगग्राह्य कहा है। इसी अपेक्षा से अलिंगग्रहण के बोल समझना आवश्यक है, अन्यथा नहीं। एकान्त से नहीं क्योंकि एकान्त तो अनन्त परावर्तन का कारण होने में सक्षम है।

गाथा ८० : भावार्थ :- ''अरिहन्त भगवान और अपनी आत्मा निश्चय से समान हैं; और अरिहन्त भगवान मोह-राग-द्वेष रहित होने के कारण उन का स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट है, इसलिये यदि जीव द्रव्य-गुण-पर्याय रूप से उन (अरिहन्त भगवान) के स्वरूप को मन द्वारा प्रथम समझ ले तो 'यह जो 'आत्मा' 'आत्मा' ऐसा एकरूप (कथंचित् सदृश) त्रैकालिक प्रवाह वह द्रव्य है, उस का जो एकरूप रहनेवाला चैतन्य रूप विशेषण वह गुण है, और उस प्रवाह में जो क्षणवर्ती व्यतिरेक है, वह पर्याय है।' ऐसे अपनी आत्मा भी द्रव्य-गुण-पर्याय रूप से उसे मन द्वारा ख़याल में आती है। इस प्रकार त्रैकालिक निज आत्मा को मन द्वारा ख़याल में लेकर पश्चात्-जैसे मोतियों को और सफ़ेदी को हार में ही अन्तर्गत करके केवल हार को जानने में आता है, वैसे-आत्म पर्यायों को और चैतन्य गुण को आत्मा में ही अन्तरगर्भित करके (सम्यग्दर्शन का विषय) केवल आत्मा को जानने पर परिणामी-परिणाम-परिणति के भेद का विकल्प नष्ट होता जाने से जीव निष्क्रिय चिन्मात्र भाव को (शुद्धोपयोग) प्राप्त करता है और इस से मोह (दर्शनमोह) निराश्रय होता हुआ विनाश को प्राप्त होता है।

यदि ऐसा है, तो मोह की सेना पर विजय प्राप्त करने का उपाय मैंने प्राप्त किया है''- ऐसा कहा, यानी सम्यग्दर्शन प्राप्त किया है।

श्लोक ७ :- 'जिस ने अन्य द्रव्य से भिन्नता द्वारा (प्रथम भेदज्ञान) आत्मा को एक ओर हटा लिया है (आत्मा को परद्रव्य से अलग दिखाया है) तथा जिस ने समस्त विशेषों के समूह को सामान्य में मग्न किया है (द्वितीय भेदज्ञान) (यानी समस्त पर्यायों को द्रव्य के भीतर डूबा

हुआ दिखाया है) – ऐसा जो यह उद्धत मोह की लक्ष्मी को (ऋद्धि को, शोभा को) लूट लेनेवाला शुद्ध नय (शुद्धोपयोग, यानी सम्यग्दर्शन = स्वात्मानुभूति) उस ने उत्कट विवेक द्वारा तत्त्व को (आत्मस्वरूप) को विविक्त (प्रगट) किया है।' यानी सम्यग्दर्शन प्राप्त किया है।

गाथा २४० : टीका :– 'जो पुरुष अनेकान्त केतन (अनेकान्तयुक्त) आगमज्ञान के बल से, सकल पदार्थों के ज्ञेयाकारों के साथ मिश्रित होता हुआ विशद एक ज्ञान (ज्ञेयाकार यानी ज्ञानाकार जो कि ज्ञान के ही बने हुए होने से उन आकारों को गौण करते ही ज्ञानसामान्यमात्र 'शुद्धात्मा' जो कि सम्यग्दर्शन का विषय है, वही प्राप्त होता है।) जिस का आकार है, ऐसी आत्मा को ('शुद्धात्मा' को) श्रद्धान और अनुभव करता हुआ (यानी श्रद्धा और अनुभव का विषय एक ही है), आत्मा में ही नित्य निश्चल वृत्ति को इच्छता हुआ....' यहाँ सम्यग्दर्शन की प्राप्ति की विधि बतायी है।

* * *

२९

नियमसार टीका में सम्यग्दर्शन का विषय

अब हम नियमसार श्री पद्मप्रभमलधारिदेव कृत टीका से जानेंगे कि सम्यग्दर्शन का विषय (दृष्टि का विषय) क्या है और सम्यग्दृष्टि किस का वेदन करता है? वह किन भावों में रत होता है? इत्यादि

श्लोक २२ :- 'सहज ज्ञान रूपी साम्राज्य जिस का सर्वस्व है ऐसा शुद्ध चैतन्यमय अपनी आत्मा को जानकर (शुद्धद्रव्यार्थिक नय से अपने को शुद्धात्मा जानकर) मैं यह निर्विकल्प हूँ' यानी शुद्ध चैतन्यमय आत्मा, वही सम्यग्दर्शन का विषय (दृष्टि का विषय) है क्योंकि उसे भाते ही जीव निर्विकल्प होता है।

श्लोक २३ :- 'दृशि ज्ञप्ति वृत्ति स्वरूप (दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप परिणमित) ऐसा जो एक ही चैतन्य सामान्य रूप (शुद्ध द्रव्यार्थिक नय के विषय रूप मात्र सामान्य जीव-शुद्धात्मा-परमपारिणामिकभाव) निज आत्म तत्त्व, वह मोक्षेच्छुकों का (मोक्ष का) प्रसिद्ध मार्ग है; इस मार्ग के बिना मोक्ष नहीं है।'

यह सामान्य जीव मात्र जिसे सहज परिणामी अथवा तो परमपारिणामिकभाव रूप भी कहा जाता है, वही दृष्टि का विषय है। सम्यग्दर्शन का विषय है और उस से ही सम्यग्दर्शन होने पर उसे ही प्रसिद्ध मोक्ष का मार्ग कहा क्योंकि सम्यग्दर्शन से ही उस मार्ग में प्रवेश है।

श्लोक २४ :- 'परभाव होने पर भी (विभाव रूप औदयिक भाव होने पर भी, उन औदयिक भावों को शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से परभाव बताया है क्योंकि वे कर्मों यानी पर की अपेक्षा से = निमित्त से होते हैं), सहज गुणमणि की खान रूप और पूर्ण ज्ञानवाले शुद्धात्मा को (परमपारिणामिकभाव रूप शुद्धात्मा को) एक को जो (भेदज्ञान को करके) तीक्ष्ण बुद्धिवाला शुद्ध दृष्टि (शुद्ध द्रव्यार्थिक चक्षु से) पुरुष भजता है (उस शुद्धभाव में 'मैंपन' करता है), वह पुरुष मुक्ति को प्राप्त करता है' यानी जीव शुद्धात्मा में एकत्व करके सम्यग्दर्शन प्राप्त होने से मोक्षमार्ग में प्रवेश पाकर अवश्य मुक्ति को प्राप्त करता है।

श्लोक २५ :- 'इस प्रकार पर-गुण पर्यायें होने पर भी (आत्मा औदयिकभाव रूप से परिणमता होने पर भी, यानी आत्मा अशुद्ध रूप से परिणमा होने पर भी) उत्तम पुरुषों के हृदयकमल

में (मन में) कारण आत्मा विराजमान है (परमपारिणामिकभाव रूप कारण परमात्मा विराजता है-लक्ष्य में रहता है)। अपने से उत्पन्न ऐसे उस परमब्रह्मस्वरूप समयसार को-कि जिसे तू भज रहा है (यानी जिसमें तू 'मैंपन' कर रहा है) उसे, हे भव्य शार्दूल! (भव्योत्तम) तू शीघ्र भज (मात्र उसी में उपयोग रख), तू वह है।'

आचार्य भगवन्त कहते हैं कि 'तू वह है' अर्थात् तू मात्र उस में ही 'मैंपन' (एकत्व) कर, कि जो सम्यग्दर्शन का विषय (दृष्टि का विषय) है और उस का ही अनुभव होने से सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है, इसलिये कहते हैं कि तू वह है, यही सम्यग्दर्शन की विधि है।

श्लोक २६ :- 'जीवत्व क्वचित् सद्गुणों सहित विलसता है-दिखाई देता है, क्वचित् अशुद्ध रूप गुणों सहित विलसता है (अर्थात् कोई जीव प्रगट गुणों सहित जानने में आता है और किसी के गुण अशुद्ध रूप से परिणमित होने से वह अशुद्ध भासित होता है), क्वचित् सहज पर्यायों सहित विलसता है (अर्थात् कोई कार्य समयसार रूप परिणमित हुआ होता है) और क्वचित् अशुद्ध पर्यायों सहित विलसता है (अर्थात् कोई जीव संसार में अशुद्ध पर्यायों सहित परिणमित हुए ज्ञात होते हैं)। इन सब से सहित होने पर भी (अर्थात् कोई प्रगट भाव शुद्ध रूप से है अथवा कोई प्रगट भाव अशुद्ध रूप होने पर भी) जो इन सब से रहित है (अर्थात् जो शुद्ध, अशुद्ध भावों रूप बताये हुए समस्त विशेषभावों से रहित है अर्थात् औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक भावों से रहित है) ऐसे इस जीवत्व (अर्थात् परमपारिणामिकभाव रूप परिणमते शुद्धात्म रूप कारण समयसार-कारण शुद्ध पर्याय) में सकल अर्थ की सिद्धि के लिये सदा नमता हूँ, भाता हूँ।' क्योंकि वह सम्यग्दर्शन का विषय (दृष्टि का विषय) है और इसीलिये उस भाव में ही 'मैंपन' करने से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है कि जिस से मोक्ष यात्रा का प्रारम्भ होता है और काल से मोक्ष होते ही सकल अर्थ की सिद्धि होती है, ऐसा भाव इस गाथा में व्यक्त किया है।

श्लोक ३० :- 'सकल मोहरागद्वेषवाला जो कोई पुरुष परम गुरु के चरणकमल युगल की सेवा के प्रसाद से (अर्थात् परम गुरु से तत्त्व समझकर)-निर्विकल्प सहज समयसार को (परमपारिणामिकभाव रूप कारण समयसार को) जानता है, वह पुरुष परम श्रीरूपी सुन्दरी का प्रियकान्त होता है।' अर्थात् इस काल में इस निर्विकल्प सहज समयसार को जाननेवालों को परम गुरु कहा है, क्योंकि इस काल में सम्यग्दर्शनयुक्त जीव बहुत ही अल्प होते हैं और ऐसे परम गुरु के कहे अनुसार निर्विकल्प सहज समयसार को जो जानता है अर्थात् अनुभव करता है, वह सम्यग्दर्शनयुक्त होकर नियम से मुक्त होता है।

श्लोक ३४ :- '(हमारे आत्म स्वभाव में) विभाव असत् होने से (अर्थात् अभी भले हमारी आत्मा में औदयिक भाव रूप विभाव हो, परन्तु वह क्षणिक है। तीनों काल रहनेवाला नहीं है। इसलिये असत् है) उस की हमें चिन्ता नहीं है, हम तो हृदयकमल में स्थित (अर्थात् मन में जो शुद्ध द्रव्यार्थिक नय के विषय रूप सहज समयसार रूप मेरा स्वरूप है, उस में स्थित), सर्व कर्म से विमुक्त, शुद्ध आत्मा का एक का सतत अनुभव करते हैं, क्योंकि अन्य किसी प्रकार से मुक्ति नहीं है, नहीं है, नहीं ही है।' अर्थात् अन्य कोई भाव उपादेय नहीं, अन्य कोई भाव भजने योग्य नहीं; एकमात्र शुद्धात्मा को भजते ही, अनुभव करते ही और उसी में स्थिरता करते ही, मुक्ति सहज ही है। अन्य किसी प्रकार से नहीं है, नहीं है, नहीं है। (वज़न देने के लिये तीन बार 'नहीं है' कहा है।)

गाथा १९ : अर्थ :- 'द्रव्यार्थिक नय से जीव पूर्व कथित पर्यायों से व्यतिरिक्त (रहित) है; पर्याय नय से जीव उस पर्याय से संयुक्त है, इस प्रकार जीव दोनों नयों से संयुक्त है।'

अर्थात् एक ही संसारी जीव को देखने के = अनुभव करने के दृष्टि भेद से भेद है, उस जीव में कोई भाग शुद्ध अथवा कोई भाग अशुद्ध - ऐसा नहीं है परन्तु अपेक्षा से अर्थात् द्रव्यदृष्टि से अथवा पर्यायदृष्टि से वही जीव अनुक्रम से शुद्ध अथवा अशुद्ध भासित होता है। इसलिये यदि कुछ करना हो तो मात्र दृष्टि बदलनी है, अन्य कुछ नहीं।

श्लोक ३६ :- 'जो दो नयों के सम्बन्ध का उल्लंघन न करते हुए (अर्थात् कोई भी बात अपेक्षा से समझनेवाले अर्थात् एकान्त से शुद्ध अथवा एकान्त से अशुद्ध कहनेवाले-माननेवाले, वे दोनों मिथ्यात्वी हैं जब कि अपेक्षा से शुद्ध और अपेक्षा से अशुद्ध माननेवाले-कहनेवाले नयों के सम्बन्ध को नहीं लांघते हुए जीव समझना) परम जिन के चरणों में अनुरक्त हुए भ्रमर समान हैं (अर्थात् ऐसे जीव परम जिन रूप ऐसे अपने शुद्धात्मा में-परमपारिणामिकभाव में-कारण समयसार में-कारण शुद्ध पर्याय में मत्त) ऐसे जो सत्पुरुष हैं वे शीघ्र ही समयसार को (कार्य समयसार को) अवश्य प्राप्त करते हैं। पृथ्वी पर मत के कथन से सज्जनों को क्या काम है? (अर्थात् जगत के जैनेतर दर्शनों के मिथ्या कथनों से सज्जनों को क्या लाभ है?)' अर्थात् जो कोई दर्शन इस शुद्धात्म रूप कारण समयसार को अन्य किसी प्रकार से अर्थात् एकान्त से शुद्ध समझता है अथवा एकान्त से अशुद्ध समझता है, वह भी जैनेतर दर्शन ही है अर्थात् मिथ्यादर्शन ही है।

अब, आगे हम ध्यान के बारे में संक्षेप में बताते हैं।

* * *

३०

ध्यान के विषय में

अब हम थोड़ा सा ध्यान के विषय को समझकर आगे बढ़ेंगे। कोई भी वस्तु-व्यक्ति-परिस्थिति आदि पर मन का एकाग्रतापूर्वक चिन्तन ध्यान कहलाता है। हमने अभी तक देखा कि मन का सम्यग्दर्शन में बहुत ही महत्त्व है, जैसा कि आचार्य पूज्यपाद कृत समाधितन्त्र श्लोक ३५ में बताया है कि 'जिस का मन रूपी जल राग-द्वेषादि तरंगों से चंचल नहीं होता, वह आत्मा के यथार्थ स्वरूप को देखता है - अनुभव करता है, उस आत्म तत्त्व को दूसरा मनुष्य - रागद्वेषादि से आकुलित चित्तवाला (मनवाला) मनुष्य देख नहीं सकता।' अर्थात् सम्यग्दर्शन का विषय (दृष्टि का विषय), वह भी मन से ही चिन्तन होता है और अतीन्द्रिय स्वानुभूति के काल में भी वह भावमन ही अतीन्द्रिय ज्ञान रूप परिणमता है।

इसीलिये मन किस विषय पर चिन्तन करता है अथवा मन किन विषयों में एकाग्रता करता है, उसी के आधार पर बन्ध और मोक्ष होता है। जैसा कि परमात्मप्रकाश छन्द २७१ में बताया है कि 'पाँच इन्द्रियों के स्वामी मन को तुम वश में करो, उस मन के वश होने से वे पाँच इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं। जैसे कि वृक्ष के मूल का नाश होने पर पत्र नियम से सूख जाते हैं।' अर्थात् मन ही बन्ध का कारण है और मन ही मुक्ति का कारण है।

यह बात एकान्त से मत समझ लेना, यह बात अपेक्षा से कहने में आयी है। मन ही सम्यग्दर्शन का निमित्त कारण है और बन्ध का भी निमित्त कारण है। इस अपेक्षा से विवेकपूर्वक यह बात कहने में आयी है। जैसा कि परमात्मप्रकाश मोक्षाधिकार छन्द १५७ में बताया है कि 'जिन्होंने मन को शीघ्र ही वश में करके अपनी आत्मा को परमात्मा में नहीं मिलाया (अर्थात् स्वात्मानुभूति नहीं की), हे शिष्य! जिन की ऐसी शक्ति नहीं, वे योग से क्या कर सकेंगे? (अर्थात् ऐसे जीव अध्यात्मयोग से स्वात्मानुभूतिरूप लाभ नहीं ले सकते)' इस प्रकार मोक्षमार्ग में मन का अत्यन्त महत्त्व होने से बहुत ग्रन्थों में ध्यान के विषय में बहुत अधिक बताया गया है, परन्तु यहाँ उस का मात्र थोड़ा सा उल्लेख करके हम आगे बढ़ेंगे।

ध्यान शुभ, अशुभ और शुद्ध रूप तीन प्रकार से होता है। ध्यान के चार प्रकार हैं - आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान। इन चार प्रकारों के भी अन्तर प्रकार हैं। मिथ्यात्वी जीवों को आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान नामक दो अशुभ ध्यान सहज ही होते हैं क्योंकि वैसे ही ध्यान

के उन्हें अनादि के संस्कार हैं। फिर भी वे प्रयत्नपूर्वक मन को अशुभ में जाने से रोक सकते हैं। मन को अशुभ में जाने से रोकने की ऐसी विधियाँ हैं, जैसे कि-आत्मलक्ष्य से शास्त्रों का अभ्यास, आत्मस्वरूप का चिन्तन, छह द्रव्य रूपी लोक का चिन्तन, नव तत्त्वों का चिन्तन, भगवान की आज्ञा का चिन्तन, कर्म-विपाक का चिन्तन, कर्म की विचित्रता का चिन्तन, लोक के स्वरूप का चिन्तन, इत्यादि। ऐसा मिथ्यात्वी जीवों का ध्यान भी शुभ रूप धर्मध्यान कहलाता है, ना कि शुद्ध रूप धर्मध्यान। इसलिये उसे अपूर्व निर्जरा का कारण नहीं माना है क्योंकि अपूर्व निर्जरा के लिये वह ध्यान सम्यग्दर्शन सहित होना आवश्यक है अर्थात् शुद्ध रूप धर्मध्यान होना आवश्यक है। सम्यग्दृष्टि को इस के उपरान्त शुद्धात्मा का ध्यान मुख्य होता है. जिस से वह गुणश्रेणी निर्जरा द्वारा गुणस्थानक आरोहण करते-करते आगे शुक्लध्यान रूपी अग्नि से सभी घाती कर्मों का नाश करके केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त करता है और क्रम से सिद्धत्व को पाता है।

धर्मध्यान के अन्तर प्रकार रूप समस्त ध्यान के प्रकार में आत्मा ही केन्द्र में है, जिस से कोई भी सम्यक् ध्यान उसे ही कहा जाता है कि जिस में आत्मा ही केन्द्र में हो और आत्मप्राप्ति ही उस का लक्ष्य हो। बहुत से व्यक्ति ऐसा मानते हैं कि आत्मज्ञान अर्थात् सम्यग्दर्शन ध्यान के बिना होता ही नहीं तो उन्हें हम कहते हैं कि वास्तव में सम्यग्दर्शन भेदज्ञान के बिना होता ही नहीं, ध्यान के बिना तो होता है। इसलिये सम्यग्दर्शन के लिये आवश्यकता ध्यान नहीं बल्कि शास्त्रों से भलीभाँति निर्णय किये हुए तत्त्व का ज्ञान और सम्यग्दर्शन के विषय का ज्ञान तथा वह ज्ञान होने के बाद यथार्थ भेदज्ञान होने से ही परमपारिणामिकभाव रूप शुद्धात्मा में 'मैंपन' होने से ही स्वात्मानुभूतिपूर्वक सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। इसलिये आग्रह ध्यान का नहीं परन्तु यथार्थ तत्त्वनिर्णय का और योग्यता का रखना आवश्यक है। वही करने योग्य है।

मोक्षप्राभृतम् में भी ध्यान के बारे में बताया है कि -

गाथा २० : अर्थ :- 'योगी-ध्यानी-मुनि जिनवर भगवान के मत से शुद्धात्मा को ध्यान में ध्याते हैं (अर्थात् एकमात्र शुद्धात्मा का ही ध्यान करने योग्य है, वही उत्तम है और उस के ध्यान से ही ध्यानकर्ता योगी कहलाता है), इसलिये निर्वाण को प्राप्त करते हैं, तो क्या उस से स्वर्ग लोक प्राप्त नहीं हो सकता? अवश्य ही प्राप्त हो सकता है।'

अर्थात् अनेक लोग स्वर्ग की प्राप्ति के लिये नाना प्रकार के अनेक उपाय करते देखे जाते हैं तो उस उपाय से तो कदाचित् क्षणिक स्वर्ग प्राप्त हो भी अथवा न भी हो, परन्तु परम्परा में तो उसे अनन्त संसार ही मिलता है। जब कि शुद्धात्मा का अनुभवन और ध्यान से मुक्ति मिलती

है और मुक्ति न मिले तब तक स्वर्ग और स्वर्ग जैसा ही सुख होता है। इसलिये सभी को उसी का ध्यान करना चाहिये। वही मुक्ति का मार्ग है और उस मार्ग में स्वर्ग तो सहज ही होता है, उस की याचना नहीं होती ऐसा बताया है।

अन्य मति के ध्यान, जैसे कि–कोई एक बिन्दु पर एकाग्रता कराये, तो कोई श्वासोच्छ्वास पर एकाग्रता कराये अथवा तो अन्य किसी प्रकार से, परन्तु जिस से देहाध्यास ही दृढ़ होता हो ऐसा कोई भी ध्यान वास्तव में तो आर्त्तध्यान रूप ही है। ऐसे ध्यान से मन को थोड़ी सी शान्ति मिलने से लोग ठगे जाते हैं और उसे ही सच्चा ध्यान मान लेते हैं। दूसरे, श्वासोच्छ्वास देखने से और उस का अच्छा अभ्यास हो, उस से कषायों का उद्‌भव होने पर उस का ज्ञान होने पर भी, स्वयं कौन है, इस का स्वात्मानुभूतिपूर्वक का ज्ञान नहीं होने से, ऐसे समस्त ही ध्यान आर्त्तध्यान के रूप मे परिणमते हैं। उस आर्त्तध्यान का फल है तिर्यंच गति, जब कि क्रोध, मान, माया–कपट रूपी ध्यान रौद्रध्यान है। उस का फल है नरक गति। धर्मध्यान के अन्तर प्रकारों में आत्मा ही केन्द्र में होने से ही उसे सम्यक् ध्यान कहा जाता है।

मन की जाँच करने के लिये, स्वयं को क्या रुचता है? यह जाँच करना यही आत्मप्राप्ति का थर्मॉमीटर–बॅरोमीटर है। इस प्रश्न के उत्तर पर चिन्तन करना। जब तक उत्तर में कुछ भी सांसारिक इच्छा/आकांक्षा हो, वहाँ तक अपनी गति संसार की ओर समझना। जब उत्तर – एकमात्र आत्मप्राप्ति, ऐसा हो तो समझना कि आप के संसार का अन्त बहुत निकट आ गया है। इसलिये उस के लिये पुरुषार्थ बढ़ाना चाहिये।

आगे हम साधक को मोक्षमार्ग की साधना के लिये आवश्यक बातें बताते हैं।

◆

३१

साधक को सलाह

साधक आत्मा को सर्वप्रथम तो अपना लक्ष्य दुनिया से हटाकर 'मैं और कर्म' इतना ज़रूर समझ लेना आवश्यक है क्योंकि अनादि से जो मेरा परिभ्रमण चलता है, वह कर्मों के कारण ही है। वे कर्म कहीं मात्र पुद्गल रूप नहीं, वे कर्म अर्थात् मेरे ही पूर्व में किये गये भाव हैं, कि जिन के निमित्त से ये पुद्गल कर्म रूप परिणमित हुए हैं। इसलिये समझना यह है कि अपने को यदि किसी ने सब से अधिक दु:खी किया हो तो वह मात्र और मात्र 'मैं' ही हूँ अर्थात् वह मात्र अपने ही पूर्व में किये हुए भाव हैं, कि जिन के निमित्त से, पुद्गल कर्म रूप हुये और उन पुद्गल रूप कर्मों का उदय होने से ही मैं उन के निमित्त से परिणमकर दु:खी हुआ।

यदि व्यवस्था ऐसी ही है तो मैं ऐसा कैसे विचार कर सकता हूँ कि किसी अन्य व्यक्ति ने मुझे दु:खी किया है? या मेरा अहित किया है? ऐसा विचारने से ही उस व्यक्ति के साथ के सांकल रूपी सम्बन्ध में एक नयी कड़ी जुड़ती है और मेरे नये कर्म बन्धते हैं कि जिन के उदय के समय फिर से इसी प्रकार नये कर्म बाँधने की सम्भावना खड़ी ही रहेगी। ऐसे अनुबन्ध को ही अनन्तानुबन्धी कषाय कहा जाता है।

दूसरों का दोष देखने से आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान होता है, वह न हो इस के लिये साधक जीव को दु:ख के काल में पूर्व में बताये गये "धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)" के अन्तर्गत ऐसा विचारना कि – अहो! मैंने ऐसा दुष्कृत्य पूर्व में किया था! तो उस के लिये मेरा मिच्छामि दुक्कडं (यह है प्रतिक्रमण) उस के लिये मैं पश्चात्तापपूर्वक अपनी निन्दा करता हूँ और अब मैं भविष्य में ऐसे भाव कभी भी नहीं करूँ ऐसी प्रतिज्ञा करता हूँ (यह है प्रत्याख्यान) और जो व्यक्ति मुझे मेरे ऐसे भावों से (कर्मों से) छुड़ाने में निमित्त हुए हैं, वे मेरे परम उपकारी हैं, इसलिये वे धन्यवाद के पात्र हैं। ऐसा विचारने से उस व्यक्ति के प्रति न रोष आयेगा न दुर्भाव आयेगा। आयेगी तो मात्र कृतज्ञता। और मैं आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान से बचकर शुभभाव रूप धर्मध्यान में स्थित रहने से एक तो उस व्यक्ति के साथ की साँकल टूट जायेगी (बैर छूट जायेगा) और नये दु:खदायक कर्मों का बन्ध रुक जायेगा। इसलिये मुमुक्षु जीव को ऐसा ही विचारना चाहिये और स्वयं को तथा सब को मात्र शुद्धात्मा देखने के (जैसा पूर्व अपेक्षा से समझाया है वैसा,

एकान्त से नहीं) भाव में रहकर तत्त्व का निर्णय और सम्यग्दर्शन ही करने योग्य है।

यहाँ कोई यह कहे कि आप तो शुभ की बात कर रहे हैं? उन्हें हम कहते हैं कि कोई भी जीव निरन्तर कोई न कोई (शुभ अथवा अशुभ) ध्यान/भाव करके अनन्तानन्त कर्म से बाँध ही रहा है और यदि वह प्रयत्नपूर्वक आत्मलक्ष्य से शुभ में नहीं रहे तो नियम से अशुभ में ही रहेगा कि जिस का फल नरक गति तथा अनन्त काल की तिर्यंच गति है; जब कि एकमात्र आत्मलक्ष्य से जो जीव शुभ में प्रयत्नपूर्वक रहता है, उसे मनुष्य गति, देव-शास्त्र-गुरु तथा केवली प्ररूपित जिन धर्म इत्यादि मिलने की सम्भावनायें खड़ी रहती हैं और उस के कल्याण के दरवाज़े खुले रहते हैं। इसीलिये इसी अपेक्षा से हम आत्मलक्ष्य से शुभभाव में रहने को कहते हैं, परन्तु उस में एकमात्र लक्ष्य आत्मप्राप्ति ही होनी चाहिये, अन्यथा शुभभाव भी अशुभभाव की तरह ही जीव को बाँधता है और अनन्त संसार में भटकाता है, अनन्त दु:खों का कारण बनता है।

यदि कोई ऐसा माने कि मुमुक्षु जीव को योग्यता अपने काल में हो जायेगी, उस के लिये प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है; तो उन से हम प्रश्न करते हैं कि क्या आप जीवन में पैसा, प्रतिष्ठा, परिवार इत्यादि के लिये प्रयत्न करते हैं? या फिर आप कहते हैं कि वे उन के काल में आ जायेंगे? आ जायेंगे क्या? तो उत्तर अपेक्षित ही मिलता है कि हम उन के लिये प्रयत्न करते हैं। तो हम प्रश्न करते हैं कि जो वस्तु अथवा संयोग कर्म अनुसार अपने आप आकर मिलनेवाले हैं, उन के लिये आप बहुत अधिक प्रयत्न करते हैं। परन्तु जो आत्मा के घर का है, ऐसा पुरुषार्थ अर्थात् प्रयत्नपूर्वक आत्मा के उद्धार के लिये पहले बताया हुआ तथा अन्य आचरण जीवन में करने में उपेक्षा/आलस करते हैं तो आप जैन सिद्धान्त की अपेक्षा न समझकर उन्हें अन्यथा ही समझे हैं, ऐसा ही कहना पड़ेगा। क्योंकि जैन सिद्धान्तानुसार कोई भी कार्य होने के लिये पाँच समवाय का होना आवश्यक है और उन में आत्मस्वभाव में पुरुषार्थ ही उपादान कारण होने से; यदि आप उस की उपेक्षा करके मात्र निमित्त की राह देखते बैठे रहेंगे अथवा नियति का इन्तज़ार करते बैठे रहेंगे तो आत्मप्राप्ति होनी अत्यन्त कठिन है। इसलिये मुमुक्षु जीव को अपना पुरुषार्थ अधिक से अधिक आत्मधर्म क्षेत्र में प्रवर्तित करना आवश्यक है और सिर्फ़ थोड़ा सा काल जीवन की आवश्यकताओं को अर्जित करने में डालना, यह प्रथम आवश्यकता है।

जैसे आत्मानुशासन गाथा ७८ में बताया है कि :- 'हे जीव! आत्मकल्याण के लिये कुछ यत्न कर! कर! क्यों शठ होकर प्रमादी बन रहा है? जब काल (मृत्यु) अपनी तीव्र गति से आ पहुँचेगा तब यत्न करने पर भी वह रुकेगा नहीं ऐसा तू निश्चय समझ। कब, कहाँ से और किस

प्रकार वह काल अचानक आ चढ़ेगा, इस की भी किसी को ख़बर नहीं है। दुष्ट यमराज, जीव को कुछ भी सूचना पहुँचाये बिना अचानक हमला करता है, उस का कुछ तो ख़याल कर। काल की अप्रतिहत अरोक गति के समक्ष मन्त्र तन्त्र औषधादि सभी साधन व्यर्थ हैं।' अर्थात् आत्मकल्याण के लिये ही सारे पुरुषार्थ को आदर देना चाहिये।

आगे आत्मानुशासन गाथा १९६ में भी बताया है कि :- 'अहो! जगत के मूर्ख जीवों को क्या कठिन है? वे अनर्थ करें तो आश्चर्य नहीं, परन्तु न करें वही वास्तव में आश्चर्य। शरीर को प्रतिदिन पोसते हैं, साथ ही साथ विषयों का भी वे सेवन करते हैं। उन मूर्ख जीवों को कुछ भी विवेक नहीं कि विषपान करके अमरत्व चाहते हैं! सुख चाहते हैं! अविवेकी जीवों को कुछ भी विवेक या पाप का भय नहीं है तथा विचार भी नहीं है....'

हम जब पाप-त्याग के विषय में बताते हैं, तब कोई ऐसा पूछता है कि रात्रिभोजन त्याग इत्यादि व्रत अथवा प्रतिमायें तो सम्यग्दर्शन के बाद ही होती हैं तो हमें उस के पूर्व रात्रिभोजन करने से क्या दोष लगेगा? तो उन्हें हमारा उत्तर होता है कि-रात्रिभोजन का दोष सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि को अधिक ही लगता है क्योंकि मिथ्यादृष्टि उसे रच-पचकर सेवन करता है जब कि सम्यग्दृष्टि को तो आवश्यक न हो, अनिवार्यता न हो तो ऐसे दोषों का सेवन ही नहीं करता और यदि किसी काल में ऐसे दोषों का सेवन करता है तो भी भीरु भाव से और रोग की औषधि के रूप में करता है, न कि आनन्द से अथवा स्वच्छन्दता से, क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव को तो भोजन करना पड़ता है वह भी मजबूरी जैसा लगता है, रोग जैसा लगता है और उस से शीघ्र छुटकारा ही चाहता है।

इसलिये किसी भी प्रकार का छल किसी को धर्मशास्त्रों से ग्रहण नहीं करना चाहिये, क्योंकि धर्म शास्त्रों में प्रत्येक बात अपेक्षा से कही होती है, इसलिये व्रत और प्रतिमायें पाँचवें गुणस्थान में कही हैं, उन का अर्थ ऐसा नहीं निकालना कि अन्य कोई निम्न भूमिकावाले उसे अभ्यास के लिये अथवा पाप से बचने के लिये ग्रहण नहीं कर सकते। बल्कि सबको अवश्य ग्रहण करने योग्य ही है, क्योंकि जिसे दुःख प्रिय नहीं ऐसे जीव दुःख के कारण रूप पाप किस प्रकार आचरण कर सकते हैं? अर्थात् आचरण कर ही नहीं सकते।

समझने की बात मात्र इतनी ही है कि सम्यग्दर्शन के पहले अणुव्रती अथवा तो महाव्रती, वह अपने को अनुक्रम से पाँचवें अथवा छठवें-सातवें गुणस्थान में न समझकर (मानकर) मात्र आत्मार्थ (अर्थात् आत्मा की प्राप्ति के लिये) अभ्यास रूप ग्रहण किये हुए अणुव्रती अथवा महाव्रती समझना

(मानना) और लोगों को भी वैसा ही बताना कि जिस से लोगों को ठगने का दोष भी नहीं लगे।

इसलिये शास्त्र में से किसी भी प्रकार का छल अथवा विपरीत यानी ठगने की बात ग्रहण नहीं करना परन्तु उसे यथार्थ अपेक्षा से समझना प्रत्येक मुमुक्षु के लिये अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि प्रत्येक शास्त्र में स्पष्ट कहने में आया है कि गिरने का अर्थात् निचली श्रेणी में जाने का तो कोई उपदेश दे ही नहीं सकता? उपदेश तो मात्र ऊपर चढ़ने के लिये ही है अर्थात् कोई पहले गुणस्थानवाला व्रती हो तो उसे व्रत छोड़ना नहीं बताया परन्तु उसे अनुकूल गुणस्थान प्राप्त करने के लिये प्रोत्साहित किया है; उसे अन्यथा ग्रहण करके व्रत-प्रत्याख्यान छोड़ देना नहीं, वह तो महा अनर्थ का कारण है। तो ऐसा तो कोई आचार्य भगवन्त उपदेश देते ही नहीं न? यह तो मात्र वर्तमान काल के मानवों की वक्रता ही है कि वे उसे विपरीत रूप से ग्रहण करते हैं, इसी प्रकार अनादि से हम धर्म को विपरीत रूप से ग्रहण करते आये हैं और इसीलिये अनादि से भटक रहे हैं।

अब तो बस हो! बस हो! ऐसी विपरीत प्ररूपणा। जैसे कि पुरुषार्थसिद्ध्युपाय श्लोक ५० में भी कहा है कि 'जो जीव यथार्थ निश्चय स्वरूप को जाने बिना (अर्थात् सम्यग्दर्शन को प्राप्त किये बिना) उसे ही (अर्थात् उसे ही मात्र शब्द रूप से ग्रहण करके) निश्चय श्रद्धा से अंगीकार करता है, वह मूर्ख बाह्य क्रिया में आलसी है और बाह्य क्रिया रूप आचरण का नाश करता है।'

प्रश्न I :- बहुत साधकों का प्रश्न होता है कि हमें तत्त्व का अभ्यास होने पर भी आत्मा का अनुभव क्यों नहीं होता? अर्थात् सम्यग्दर्शन क्यों नहीं होता?

उत्तर :- जैसे योग्य कारण बिना कोई कार्य नहीं होता, वैसे वैराग्य आये बिना अर्थात् भव से रोग रूप त्रास लगे बिना, सुख की आकांक्षा छोड़े बिना, किसी भी नय का पक्ष अथवा साम्प्रदायिक मान्यता का आग्रह छोड़े बिना और तत्त्व को विपरीत रूप से ग्रहण करके स्वात्मानुभूति अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त होना अति विकट है; इसलिये सभी साधकों को हमारा निवेदन है कि आप योग्य कारण अर्थात् वैराग्य रूप योग्यता प्रगट करें और पक्ष-आग्रह छोड़कर तत्त्व का यथार्थ निर्णय करेंगे तो सम्यग्दर्शन रूप कार्य अवश्य होगा ही, ऐसा हमारा अभिप्राय है।

प्रश्न II :- बहुत साधकों का प्रश्न होता है कि आप को आत्मा का अनुभव हुआ तब क्या हुआ? अर्थात् आत्मा के अनुभव के काल में क्या होता है?

उत्तर :- स्वात्मानुभूति के काल में शरीर से भिन्न ऐसा सिद्ध सदृश आत्मा का अनुभव होता है, जिस में शरीर का किसी भी प्रकार का अनुभव नहीं होता।

प्रश्न III :- बहुत से साधक हमें बताते हैं कि उन्हें प्रकाशमय आत्मा का अनुभव हुआ अथवा

कोई कहते हैं कि वे एकदम हल्के फूल जैसे हो गये हों, ऐसा अनुभव हुआ अथवा कोई कहते हैं कि हम रोमांचित हो गये, इत्यादि।

उत्तर :– ऐसे साधकों को हम बताते हैं कि ऐसे भ्रमों से अपने आप को ठगना योग्य नहीं हैं, क्योंकि स्वात्मानुभूति के काल में शरीर का किसी भी प्रकार का अनुभव होता ही नहीं, मात्र सिद्ध सदृश आत्मा का ही अनुभव होता है अर्थात् आंशिक सिद्ध सदृश आनन्द का अनुभव होता है अर्थात् आंशिक सिद्धत्व का ही अनुभव होता है और फिर आत्मा के सन्दर्भ में कोई भी प्रश्न रहता ही नहीं। इतना स्पष्ट अनुभव होता है। अर्थात् स्वात्मानुभूति के बाद शरीर से भेदज्ञान प्रतीत होता है। दृष्टान्त रूप से–स्वात्मानुभूति के बाद आप दर्पण के सामने जब भी जायेंगे तब आप किसी अन्य व्यक्ति को निहारते हों ऐसा भाव आता है।

प्रश्न IV :– किसी का यह भी प्रश्न होता है कि आप के गुरु कौन हैं?

उत्तर :– हमारे गुरु भगवान महावीरस्वामी हैं, जिन की दिव्यध्वनि हम को शास्त्र रूप से प्राप्त हुई, जिस से हमें सत्य की प्राप्ति हुई अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ। उन के अलावा हमने अन्य बहुत से लोगों से कुछ ना कुछ सीखा अवश्य है, उन सभी के हम अत्यन्त आभारी हैं।

अमृतचन्द्राचार्य कृत प्रवचनसार टीका श्लोक २०२ के अनुसार सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने के बाद सम्यग्दृष्टि जीव का विकास क्रम ऐसा होता है – 'सम्यग्दृष्टि जीव अपने स्वरूप को जानता है, अनुभव करता है, अन्य समस्त व्यवहार भावों से अपने को भिन्न जानता है। जब से उसे स्व-पर के विवेक रूप भेदविज्ञान प्रगट हुआ था, तब से ही वह सकल विभावभावों का त्याग कर चुका है और तब से ही उस ने टंकोत्कीर्ण निज भाव अंगीकार किया है। इसलिये उसे न कुछ त्यागना रहा और न कुछ ग्रहण करना–अंगीकार करना रहा। स्वभावदृष्टि की अपेक्षा से ऐसा होने पर भी, पर्याय में वह पूर्वबद्ध कर्मों के उदय के निमित्त से अनेक प्रकार के विभावभावों से परिणमता है। वह विभाव परिणतियों नहीं छूटती देखकर वह आकुल-व्याकुल भी नहीं होता तथा समस्त विभाव परिणति को टालने का पुरुषार्थ किये बिना भी नहीं रहता। सकल विभाव परिणति रहित स्वभावदृष्टि के पुरुषार्थ से गुणस्थानों की परिपाटी के सामान्य क्रम अनुसार उसे पहले अशुभ परिणति की हानि होती है और फिर धीमे-धीमे शुभ परिणति भी छूटती जाती है। ऐसा होने से उस शुभ राग के उदय की भूमिका में गृहवास का और कुटुम्ब का त्यागी होकर व्यवहार रत्नत्रय रूप पंचाचारों को अंगीकार करता है। यद्यपि ज्ञानभाव से वह समस्त शुभाशुभ

क्रियाओं का त्यागी है, तथापि पर्याय में शुभ राग नहीं छूटने से वह पूर्वोक्त प्रकार से पंचाचार को ग्रहण करता है।'

जिस धर्म में (अर्थात् जैन सिद्धान्त में) 'सभी जीव स्वभाव से सिद्ध समान ही हैं'-ऐसा कहा गया हो तब, सभी जीवों को अपने समान ही देखते हुए, कहीं भी वैर-विरोध को अवकाश ही कहाँ से होगा? अर्थात् विश्व मैत्री की भावना होती है और ऐसे धर्म में धर्म के ही नाम से वैर-विरोध और झगड़ा हो तो, उस में समझना कि अवश्य हमने धर्म का रहस्य समझा ही नहीं है। इसलिये कहीं भी धर्म के लिये वैर, विरोध या झगड़ा नहीं होना चाहिये क्योंकि धर्म प्रत्येक की समझ के अनुसार ही परिणमनेवाला है और इसीलिये उस में मतभेद अवश्य रहने ही वाले हैं। उन मतभेदों को मतभेद से अधिक, कोई राग-द्वेष के कारण से वैर, विरोध और झगड़े का रूप देना धर्म के लिये मृत्यु घण्टे के समान है।

इसलिये हम तो सब को एक ही बात बताते हैं कि धर्म के नाम से ऐसे वैर, विरोध और झगड़े हों तो उन्हें समाप्त कर देना और सभी जनों को वैर, विरोध और झगड़े अपने मन में से भी निकाल देना चाहिये। अन्यथा वे वैर, विरोध और झगड़े आप को मोक्ष तो दूर, अनन्त संसार का कारण बनेंगे। इसलिये जिस से भी जो भी वैर-विरोध हो, उसे क्षमा कर के भूल जाना ही हितप्रद है। उसी में ही जिनधर्म का हित समाहित है। ऐसा वैर-विरोध और झगड़ा भी धर्म को विपरीत रूप से ग्रहण करने का ही फल है, अन्यथा जिस ने धर्म सम्यक् रूप से ग्रहण किया हो, उस के मन में वैर-विरोध उठे कैसे? अर्थात् मात्र करुणा ही जन्मे, न कि वैर-विरोध अथवा झगड़ा, यह समझने की बात है और इसीलिये सभी जनों को धर्म के नाम पर वैर, विरोध अथवा झगड़ा भूलकर सत्य धर्म को फैलाना चाहिये, ऐसा हमारा मानना है।

* * *

३२

नियमसार के अनुसार सम्यग्दर्शन और ध्यान का विषय

आगे हम नियमसार श्री पद्मप्रभमलधारिदेव कृत टीका में से वे गाथायें तथा श्लोक देखेंगे जिन में सम्यग्दर्शन का विषय (दृष्टि का विषय) और सम्यग्दृष्टि के ध्यान का विषय/स्थिरता का विषय बताया है।

गाथा ३८ : अर्थ :–'जीवादि बाह्य तत्त्व हेय हैं; कर्मोपाधिजनित गुण पर्यायों से व्यतिरिक्त आत्मा ही आत्मा को उपादेय है।' यहाँ जो जीवादि विशेष रूप (अर्थात् पर्याय रूप) तत्त्व हेय कहे हैं अर्थात् कर्मों के निमित्त से हुए जीव के विशेषभाव (अर्थात् विभाव पर्यायों) को हेय बताया है, उस का अर्थ ऐसा है कि उन भावों में सम्यग्दर्शन के लिये 'मैंपन' नहीं करना है इस अपेक्षा से वे हेय हैं। जब कि उस पर्याय (अर्थात् पूर्ण द्रव्य) में छिपे हुये सामान्यभाव अर्थात् परमपारिणामिकभाव रूप शुद्धात्मा सम्यग्दर्शन का विषय (दृष्टि का विषय) होने से आत्मा को उपादेय है, उस में ही 'मैंपन' करने योग्य है क्योंकि वह त्रिकाली शुद्धभाव है और शुद्ध द्रव्यार्थिक नय के चक्षु से आत्मा मात्र उतनी ही है, और वैसी ही (शुद्ध ही) है। इसलिये इस शुद्धात्मा के अतिरिक्त समस्त भाव जीव में ही होने पर भी, वे अन्य के लक्ष्य से होते होने से, उन में सम्यग्दर्शन के लिये 'मैंपन' (एकत्व) करने योग्य नहीं है। इसलिये इस अपेक्षा से वे जीव के भाव ही नहीं हैं, ऐसा पूर्व में बताया है, वही भाव यहां और आगे भी दर्शाया है।

श्लोक ६० : अर्थ :– 'सतत रूप से अखण्ड ज्ञान की (अर्थात् जो ज्ञान विकल्पवाला है तथा खण्ड–खण्ड है इसलिये उन ज्ञानाकारों को गौण करते ही अखण्ड ज्ञान की प्राप्ति होती है और वही परमपारिणामिकभाव रूपी शुद्धात्मा कहलाता है) सद्भावनावाली आत्मा (अर्थात् 'मैं अखण्ड ज्ञान हूँ' ऐसी सच्ची भावना जिसे निरन्तर वर्तती है, वह आत्मा) संसार के घोर विकल्प को नहीं पाती परन्तु निर्विकल्प समाधि को प्राप्त करती हुई पर परिणति से दूर, अनुपम, अनघ (दोषरहित, निष्पाप, मलरहित) चिन्मात्र को (जानने देखने वाली आत्मा को) प्राप्त करती है।' अर्थात् वह जीव सम्यग्दर्शन पाता है – आत्मज्ञानी होता है।

गाथा ४३ : अर्थ :– 'आत्मा (परमपारिणामिकभाव रूप शुद्धात्मा) निर्दण्ड, निर्द्वन्द्व, निर्मम, नि:शरीर, निरालम्ब, निराग, निर्दोष, निर्मूढ, निर्भय है।'

श्लोक ६४ : अर्थ :– 'जो आत्मा भव्यता द्वारा प्रेरित हो, वह आत्मा भव से विमुक्त होने के

हेतु (अर्थात् सम्यग्दृष्टि होने और मोक्षमार्ग में आगे बढ़ने) के लिये निरन्तर इस आत्मा को (अर्थात् ऊपर बताये शुद्धात्मा को) भजो कि जो (आत्मा) अनुपम ज्ञान के आधीन है, जो सहज गुणमणि की खान है, जो (सर्व) तत्त्वों में सार है और जो निज परिणति के सुखसागर में मग्न है।'

श्लोक ६६ : अर्थ :– 'जो अनाकुल है, अच्युत है, जन्म–मृत्यु, रोगादि से रहित है, सहज निर्मल सुखामृतमय है, उस समयसार को (अर्थात् परमपारिणामिकभाव रूप शुद्धात्मा, की जिसे कारण समयसार अथवा कारण शुद्ध पर्याय भी कहा जाता है) मैं समरस (अर्थात् उस में ही एकरस होकर, उस में ही एकत्व करके) द्वारा सदा पूजता हूँ।' अर्थात् मैं सदा समयसार रूप परमपारिणामिकभाव रूप शुद्धात्मा की भावना भाता हूँ।

गाथा ४४ : अर्थ :– 'आत्मा (शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय ऐसी शुद्धात्मा) निर्ग्रन्थ, निराग, नि:शल्य, सर्वदोष विमुक्त, निष्काम, नि:क्रोध, निर्मान, और निर्मद है।' आगे आचार्य भगवान कहते हैं कि स्त्री, पुरुष आदि पर्यायें, रस–गन्ध–वर्ण–स्पर्श और संस्थान तथा संहनन इत्यादि रूप पुद्‌गल की पर्यायें तो आत्मा की हैं ही नहीं परन्तु वैसे जो भाव आत्मा में होते हैं, उन में भी मेरा 'मैंपन' नहीं, उन से व्यतिरिक्त जो परमपारिणामिकभाव रूप शुद्धात्मा है, उस में ही मेरा 'मैंपन' है; इसलिये वे जीव कोई भी लिंग से (अर्थात् विशेष रूप परिणमन से–पर्याय से) ग्रहण हो वैसे नहीं हैं, वैसा जीव मात्र अव्यक्त रूप है और वह पूर्व में बताये अनुसार भावमन का विषय होता है और वही शुद्ध द्रव्यार्थिक नय के विषय रूप शुद्धात्मा की अपेक्षा से 'सभी जीव स्वभाव से सिद्ध समान ही है' ऐसा कहने में आता है और वैसा शुद्धात्मा ही उपादेय है अर्थात् एकत्व करने योग्य है।

श्लोक ७३ : अर्थ :– 'शुद्ध निश्चय नय से मुक्ति में तथा संसार में अन्तर नहीं है; ऐसा ही वास्तव में, तत्त्व विचारते शुद्ध तत्त्व के रसिक पुरुष कहते हैं।'

अर्थात् शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से जीव तीनों काल सम्पूर्ण शुद्ध ही है, न कि जीव का कोई भाग शुद्ध और दूसरा भाग अशुद्ध। नय पद्धति में पूर्ण द्रव्य (प्रमाण का द्रव्य ही) मलिन पर्याय रूप अथवा पूर्ण शुद्ध रूप इत्यादि, अपेक्षा से कहा जाता है और वैसा ही समझ में आता है, एकान्त से नहीं; यदि उसे एकान्त से मलिन अथवा शुद्ध रूप मानने में आये तो वह जैनदर्शन बाह्य ही समझना।

आगे आचार्य भगवन्त सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिये किस प्रकार से और किस से भेदज्ञान करना है, वह बताते हैं। जैसे कि नारकादि पर्यायें, मार्गणा स्थान, गुणस्थान, जीवस्थान, बाल वृद्ध इत्यादि शरीर की अवस्थायें, राग–द्वेष रूप कषायें मैं नहीं, मैं उन का कर्ता, कारयिता नहीं अथवा अनुमोदक भी नहीं अर्थात् उन में मेरा कोई कर्ता भाव नहीं और उन्हें अच्छा मानता भी नहीं।

गाथा ८२ : अर्थ :- 'ऐसा भेद अभ्यास होने पर जीव मध्यस्थ होता है (अर्थात् ज्ञानी को लब्ध में शुद्धात्मा और उपयोग में वर्तमान दशा होने से, ज्ञानी उस वर्तमान अशुद्ध दशा से मुक्त होने के उपाय रूप चारित्र ग्रहण इत्यादि करता है कि जिस से वह साक्षात् शुद्धात्म रूपी मुक्ति प्राप्त कर सकता है न कि पुण्य के लक्ष्य रूप चारित्र अर्थात् यह पुरुषार्थ शुद्धात्मा के आश्रय से, कर्मों से मुक्ति प्राप्त करने के लिये ही होता है, अन्यथा नहीं), इसलिये चारित्र होता है। उसे (चारित्र को) दृढ़ करने के निमित्त मैं प्रतिक्रमणादि कहूँगा।'

गाथा ८३ : अर्थ :- 'वचन रचना को छोड़कर (अर्थात् जो प्रतिक्रमण सूत्र रूप वचन रचना है, वह विकल्प रूप होने से उसे छोड़कर निर्विकल्प शुद्धात्मा को भाना, अनुभव करना और उस में ही स्थिर होना, वही प्रतिक्रमणादि का लक्ष्य है और यदि वह लक्ष्य सिद्ध हो जाता हो तो उस वचन रचना रूप प्रतिक्रमण की आवश्यकता पूरी हो जाती है) रागादि भावों का निवारण करके (अर्थात् जीव के रागादि जो भाव हैं उन्हें ध्यान में न लेकर अर्थात् उन्हें गौण कर के अर्थात् उन रागादि भावों में मैंपन नहीं करके), जो आत्मा को (परमपारिणामिकभाव रूपी शुद्धात्मा को) ध्याता है, उसे (परमार्थ) प्रतिक्रमण होता है।'

गाथा ९२ : अर्थ :- 'उत्तमार्थ (उत्तम पदार्थ) आत्मा है। उस में (उस शुद्धात्मा में) स्थित मुनिवर कर्म का नाश करते हैं इसलिये ध्यान ही (शुद्धात्मा का ध्यान ही) वास्तव में उत्तमार्थ का प्रतिक्रमण है।'

श्लोक १२२ :- 'समस्त विभाव को तथा व्यवहार मार्ग के रत्नत्रय को छोड़कर (अर्थात् समस्त विभाव को गौण करके तथा व्यवहार रत्नत्रय के सभी विकल्प शान्त करके) निज तत्त्व वेदी (निज आत्मतत्त्व को जाननेवाला - अनुभव करनेवाला) मतिमान पुरुष शुद्ध आत्मतत्त्व में नियत (जुड़ा हुआ) ऐसा जो एक निज ज्ञान, दूसरा श्रद्धान और फिर तीसरा चारित्र, उस का आश्रय करता है।'

श्लोक १२३ :- 'आत्मध्यान के अतिरिक्त दूसरा सब घोर संसार का मूल है (अर्थात् ध्यान मात्र शुद्धात्मा का ही श्रेष्ठ है) और ध्यान ध्येयादिक सुतप (अर्थात् ध्यान, ध्येय इत्यादि के विकल्पवाला शुभ तप भी) केवल कल्पना में रम्य है (अर्थात् वास्तव में अच्छा नहीं है, कल्पना मात्र में अच्छा है); ऐसा जानकर धीमान (बुद्धिमान पुरुष) सहज परमानन्द रूपी पीयूष के पूर में डूबते हुए (अतीन्द्रिय आनन्द में लीन होते हुए) सहज एक परमात्मा का (परमपारिणामिकभाव रूप कारण परमात्मा का) ही आश्रय करता है।'

गाथा ९३ : अर्थ :- '(शुद्धात्मा के) ध्यान में लीन साधु सभी दोषों का परित्याग करते हैं;

इसलिये ध्यान ही (उस शुद्धात्मा का ध्यान ही) वास्तव में सारे अतिचार का प्रतिक्रमण है।’

गाथा ९५ : अर्थ :- ‘समस्त जल्प को (वचन विस्तार को अर्थात् विकल्पों को) छोड़कर (अर्थात् गौण करके) और अनागत शुभ-अशुभ का निवारण करके (अर्थात् शुभाशुभ भावों को गौण करके अर्थात् शुभ-अशुभ भावों के विकल्पों को छोड़कर अर्थात् सभी विभावभावों को गौण करके अर्थात् समयसार गाथा ६ के अनुसार का भाव अर्थात् जो प्रमत्त भी नहीं है और अप्रमत्त भी नहीं है, ऐसा एक ज्ञायकभाव रूप) जो आत्मा को (अर्थात् शुद्ध द्रव्यार्थिक नय के विषय रूप शुद्धात्मा को) ध्याता है उसे (निश्चय) प्रत्याख्यान है।’ अर्थात् पूरा पुरुषार्थ मात्र आत्मस्थिरता रूपी चारित्र के लिये ही हो कि जो साक्षात् केवलज्ञान का कारण है।

गाथा ९६ : अर्थ :- ‘केवल ज्ञान स्वभावी केवल दर्शन स्वभावी, सुखमय और केवल शक्ति स्वभावी मैं हूँ - ऐसा चिन्तवन ज्ञानी करते हैं।’ अर्थात् ज्ञानी अपने को कारण समयसार रूपी शुद्धात्मा ही अनुभव करते हैं।

श्लोक १२८ :- ‘समस्त मुनिजनों के हृदयकमल (मन) का हंस ऐसा जो यह शाश्वत (त्रिकाली शुद्ध) केवल ज्ञान की मूर्ति रूप (ज्ञानमात्र), सकल-विमल दृष्टिमय (शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय - शुद्ध द्रव्यदृष्टि का विषय ऐसा शुद्धात्मा), शाश्वत आनन्द रूप, सहज परम चैतन्य शक्तिमय (परमपारिणामिक ज्ञानमय) परमात्मा जयवन्त है।’ अर्थात् उसे ही भाने योग्य है, उस में ही मैंपन करने योग्य है।

गाथा ९७ : अर्थ :- ‘जो निज भाव को छोड़ता नहीं (अर्थात् परमपारिणामिकभाव रूप सहज परिणमन, तीनों काल ऐसा का ऐसा ही होने से अर्थात् उपजने से और वही उस का निज भाव होने से बताया है कि वह निज भाव को छोड़ता नहीं और दूसरा ज्ञानी को लब्ध रूप से वही भाव रहता होने की अपेक्षा से भी कहा है कि निज भाव को छोड़ता नहीं) कुछ भी परभाव को ग्रहण नहीं करता (अर्थात् किसी भी परभाव में मैंपन न करता होने से उसे ग्रहण नहीं करता ऐसा कहा है), सब को जानता देखता है (अर्थात् उसे ज्ञानमात्रभाव में ही ‘मैंपन’ होने से सब को जानता-देखता है, परन्तु पर में ‘मैंपन’ नहीं करता), वह ‘मैं हूँ’ (अर्थात् शुद्धात्मा, वह ‘मैं हूँ’) - ऐसा ज्ञानी चिन्तन करता है।’ अर्थात् अनुभव करता है और ध्याता है अर्थात् वही ध्यान का और सम्यग्दर्शन का विषय है।

श्लोक १२९ :- ‘आत्मा, आत्मा में निज आत्मिक गुण रूपी समृद्ध आत्मा को (अर्थात् शुद्धात्मा को) एक पंचमभाव को (अर्थात् परमपारिणामिकभाव रूप आत्मा को) जानता है और देखता है (अनुभव करता है), वह सहज एक पंचमभाव को (अर्थात् आत्मा के सहजपरिणमन रूपी पंचमभाव

– परमपारिणामिकभाव को) उस ने छोड़ा ही नहीं और अन्य ऐसे परभाव को (अर्थात् औदयिक, उपशम और क्षयोपशम भाव को) कि जो वास्तव में पौद्‌गलिक विकार है उसे – वह ग्रहण ही नहीं करता (मैंपन करता ही नहीं)।'

श्लोक १३३ :– 'जो मुक्ति साम्राज्य का मूल है (अर्थात् सम्यग्दर्शन का विषय है क्योंकि सम्यग्दर्शन वह मुक्ति साम्राज्य का मूल है) ऐसे इस निरुपम, सहज परमानन्दवाले एक चिद्रूप को (चैतन्य के स्वरूप को = सामान्य ज्ञानमात्र को) चतुर पुरुषों के द्वारा सम्यक् प्रकार से ग्रहण करना योग्य है (अर्थात् एक सामान्य ज्ञानमात्रभाव कि जो सहज परिणमनयुक्त परमपारिणामिकभाव है, उस में ही चतुर पुरुषों को 'मैंपन' करने योग्य है); इसलिये हे मित्र! तू भी मेरे उपदेश के सार को (और यही सभी जिनागमों का सार है अर्थात् समयसार का सार है अर्थात् समयसार को) सुनकर, तुरन्त ही उग्र रूप से इस चैतन्य–चमत्कार के प्रति अपनी वृत्ति कर।'

अर्थात् तू भी उसे ही लक्ष्य में ले और उस में ही 'मैंपन' कर कि जिस से तू भी आत्मज्ञानी रूप से परिणम जायेगा अर्थात् तुझे भी सम्यग्दर्शन प्रगट होगा। यहाँ सम्यग्दर्शन की विधि बतायी है।

श्लोक १३५ :– 'मेरे सहज सम्यग्दर्शन में, शुद्ध ज्ञान में, चारित्र में, सुकृत और दुष्कृत रूपी कर्म द्वन्द्व के संन्यास काल में (समयसार गाथा ६ का भाव अर्थात् जो प्रमत्त भी नहीं और अप्रमत्त भी नहीं, ऐसा एक ज्ञायकभाव रूप) संवर में और शुद्ध योग में (शुद्धोपयोग में) वह परमात्मा ही है (अर्थात् सम्यग्दर्शनादि सबका आश्रय – अवलम्बन शुद्धात्मा ही है कि जो सिद्ध सम ही भाव है); मुक्ति की प्राप्ति के लिये जगत में दूसरा कोई भी पदार्थ नहीं है, नहीं है।' अर्थात् दृष्टि के विषय की ही दृढ़ता करायी है।

श्लोक १३६ :– 'जो कभी निर्मल दिखायी देता है कभी निर्मल तथा अनिर्मल दिखायी देता है तथा कभी अनिर्मल दिखायी देता है अर्थात् शुद्ध नय (द्रव्यदृष्टि) से निर्मल ज्ञात होता है, प्रमाणदृष्टि से निर्मल तथा अनिर्मल दिखायी देता है और अशुद्ध नय (पर्यायदृष्टि) से अनिर्मल दिखायी देता है और इस कारण से अज्ञानी के लिये जो गहन है (इसलिये ही बहुत लोग आत्मा को एकान्त शुद्ध अथवा अशुद्ध धार लेते हैं और दूसरे लोग आत्मा को एक भाग शुद्ध और एक भाग अशुद्ध, ऐसी धारणा कर लेते हैं), वही – कि जिस ने निजज्ञान रूपी दीपक से पाप तिमिर को नष्ट किया है वही (अर्थात् जिसने प्रज्ञाछैनी अर्थात् तीक्ष्ण बुद्धि से सभी विभावभावों को गौण करके जो परमपारिणामिकभाव रूप शुद्धात्मा ग्रहण किया है अर्थात् उस में ही 'मैंपन' किया है और ऐसा करते ही सम्यग्दर्शन रूप दीप प्रगटाकर पाप तिमिर को नष्ट किया है, वही शुद्धात्मा) सद्‌पुरुषों के (ज्ञानी

के) हृदयकमल (मन) रूपी घर में निश्चय रूप से संस्थित है (भली प्रकार स्थिरता प्राप्त है)।'

गाथा १०२ : अर्थ :- 'ज्ञानदर्शनलक्षणवाला शाश्वत एक आत्मा मेरा है; शेष सभी संयोग लक्षणवाले भाव मुझसे बाह्य हैं।'

ये गाथा भेदज्ञान की गाथा है, इस में सम्यग्दर्शन के लिये भेदज्ञान किस प्रकार करना यह बताया है कि जो 'देखने-जाननेवाला आत्मा है, वह मैं हूँ' अन्य सभी भाव (ज्ञेय), उन्हें गौण करने के भाव होने से ही वे भाव बाह्य कहे हैं क्योंकि उन से ही भेदज्ञान करना है।

श्लोक १४८ :- 'तत्त्व में निष्णात बुद्धिवाले जीव के हृदयकमल रूप अभ्यन्तर (भावमन) में जो सुस्थित (भले प्रकार स्थिरता प्राप्त) है, वह सहज तत्त्व (परमपारिणामिकभाव रूपी सहज परिणामी शुद्ध आत्मा) जयवन्त है (वही सर्वस्व है)। उस सहज तेज ने मोहान्धकार का नाश किया है (अर्थात् दर्शनमोह का उपशम, क्षयोपशम, अथवा तो क्षय किया है) और वह (सहज तेज) (सम्यग्दर्शन का विषय) निज रस के फैलाव से प्रकाशित ज्ञान के प्रकाश मात्र (ज्ञायक) है।'

श्लोक १४९ :- 'और जो (शुद्धात्मा) अखण्डित है (अर्थात् आत्मा में कोई भाग शुद्ध और कोई भाग अशुद्ध, ऐसा नहीं है, पूर्ण आत्मा ही द्रव्यदृष्टि से शुद्धात्मा रूपी ज्ञात होता है), शाश्वत है (अर्थात् तीनों काल ऐसा का ऐसा परिणमता है), सकल दोष से दूर है (अर्थात् सकल दोष से भेदज्ञान किया होने से वह शुद्धात्मा सकल-दोष से दूर है), उत्कृष्ट है (अर्थात् सिद्ध सदृश भाव है), भवसागर में डूबे हुए जीव समूह के लिये (अर्थात् सभी संसारी जीवों को) नौका समान है (अर्थात् मुक्ति का कारण है अर्थात् सम्यग्दर्शन का विषय है) और प्रबल संकटों के समूह रूपी दावानल (अर्थात् किसी भी प्रकार के उपसर्ग रूप संकटों में स्वयं शान्त रहने) के लिये जल समान है (अर्थात् शुद्धात्मा का अवलम्बन लेते ही संकट गौण हो जाते हैं, पर हो जाते हैं), उस सहज तत्त्व को मैं प्रमोद से सतत नमस्कार करता हूँ।' अर्थात् प्रमोद से सतत भाता हूँ, उस का ही ध्यान करता हूँ।

गाथा १०७ : अर्थ :- 'नोकर्म और कर्म से रहित (अर्थात् प्रथम, पुद्गल से भेदज्ञान किया, जो कि आत्मा से प्रगट भिन्न है) तथा विभावगुण पर्यायों से व्यतिरिक्त (अर्थात् दूसरा, आत्मा जो कर्मों के निमित्त से विभावभाव रूप अर्थात् औदयिकभाव रूप परिणमता है, उस से भेदज्ञान किया अर्थात् वे भाव होते तो है आत्मा में ही - मुझ में ही, परन्तु वे भाव मेरा स्वरूप नहीं होने से उन में 'मैंपन' नहीं करके अर्थात् उन्हें गौण करते ही उन से रहित शुद्धात्मा प्राप्त होती है, ऐसी) आत्मा को (अर्थात् शुद्ध आत्मा को) जो ध्याता है उस श्रमण को (परम) आलोचना समझना चाहिये।'

श्लोक १५२ :- 'घोर संसार के मूल ऐसे सुकृत और दुष्कृत को सदा निकाल-निकालकर (अर्थात् समयसार गाथा ६ का भाव अर्थात् जो प्रमत्त भी नहीं और अप्रमत्त भी नहीं ऐसा एक ज्ञायकभाव रूप और दूसरा, यहाँ पुण्य और पाप, दोनों को घोर संसार का मूल कहा है, उस के विषय में हमने पूर्व में बताये अनुसार समझना अर्थात् दोनों आत्मा को बन्धन रूप होने से संसार से मुक्ति के लिये वांछनीय नहीं है, फिर भी आप ऐसा न समझें कि पाप और पुण्य, ये दोनों हेय होने से हमें पाप करने की छूट मिली है। ऐसा समझनेवाला नियम से अनन्त संसारी ही है। पाप का विचार भी नहीं करके, मात्र आत्मलक्ष्य से सुकृत करने योग्य है और वह शुभभाव भी शुद्धभाव से विरुद्ध भाव होने से, शुद्धभाव में 'मैंपन' करने से अथवा मात्र शुद्धभाव के लक्ष्य से भले आप नियम से शुभ में ही रहें परन्तु उस पर आदर भाव से नहीं। आदर भाव मात्र शुद्धभाव पर ही हो। रहना भी शुद्धभाव में ही है। यदि आप शुद्धभाव से स्खलित हों अथवा शुद्धभाव की प्राप्ति न हुई हो तो शुद्धभाव के लक्ष्य से रहना नियम से शुभ में ही। अशुभभाव की तो परछाई भी लेने योग्य नहीं है, इसलिये यहाँ किसी ने छल ग्रहण कर के शुभभाव छोड़कर अशुभ का आचरण मत कर बेठना। तीसरे यहाँ दृष्टि के विषय रूपी शुद्धात्मा इष्ट है कि जिस में सुकृत और दुष्कृत रूपी विभावभावों को सदा आलोच-आलोचकर अर्थात् अत्यन्त गौण करके) मैं निरूपाधिक (स्वाभाविक) गुणवाली शुद्धात्मा का आत्मा से अवलम्बन लेता हूँ (अर्थात् शुद्धात्मा में ही रहने का प्रयत्न करता हूँ) पश्चात् (अर्थात् उस से ही) द्रव्य कर्म रूपी समस्त प्रकृति को नाश प्राप्त कराकर (अर्थात् घाति कर्म का नाश कर के केवलज्ञान-केवलदर्शन रूप) सहज विलसती ज्ञान लक्ष्मी को प्राप्त करूँगा।' यानी सम्यग्दृष्टि जीव के ध्यान के विषय रूप शुद्धात्मा ही है।

श्लोक १५५ :- 'जिस ने ज्ञानज्योति द्वारा (अर्थात् ज्ञानमात्रभाव के अवलम्बन से) पाप तिमिर के पुंज का नाश किया है (अर्थात् उस का 'मैंपन' ज्ञानमात्रभाव = परमपारिणामिकभाव में ही होने से सभी पापों के उदय रूप औदायिकभाव को अत्यन्त गौण किया है) और जो पुराण (सनातन अर्थात् त्रिकाली शुद्ध) है ऐसी आत्मा परम संयमियों के चित्तकमल (भावमन) में स्पष्ट है, वह आत्मा संसारी जीवों के वचन-मनोमार्ग से अतिक्रान्त है (वचन और मन से स्पष्ट कर सकने अथवा व्यक्त कर सकने योग्य नहीं है) यह निकट परम पुरुष में (अर्थात् निकट में ही मोक्ष प्राप्त करने योग्य पुरुष में) विधि क्या और निषेध क्या?'

अर्थात् ऐसी शुद्धात्मा में मग्न रहनेवाले परम पुरुष, कोई विधि का अनुसरण करे या न करे उन्हें उस में कुछ भी दोष नहीं है इसलिये उन के लिये कोई विधि निषेध नहीं है ऐसा बताया है।

श्लोक १५६ :- 'जो सकल इन्द्रियों के समूह से उत्पन्न होनेवाले कोलाहल से विमुक्त है

(अर्थात् जो ज्ञान सकल इन्द्रियों से होता है, ऐसे ज्ञानाकार रूप विशेष, जिस में गौण है ऐसा सामान्य ज्ञान है), जो नय और अनय के समूह से दूर है (अर्थात् नयातीत है, क्योंकि नय विकल्पात्मक होते हैं और सम्यग्दर्शन का विषय रूप स्वरूप, सभी विकल्पों से रहित है अर्थात् वह नयातीत) होने पर भी योगियों को (अर्थात् आत्मज्ञानियों को) गोचर है (अर्थात् नित्य लब्ध रूप और कभी उपयोग रूप है), जो सदा शिवमय है (अर्थात् सिद्ध सदृश भाव है), उत्कृष्ट है और जो अज्ञानियों को परम दूर है (क्योंकि वे शुद्धात्मा को एकान्त से ग्रहण करने का प्रयास करते हैं अर्थात् जैसा वह है नहीं, वैसी उस की कल्पना करके ग्रहण करने का प्रयास करते हैं इसलिये वे मात्र भ्रम में ही रहते हैं और सत्य स्वरूप से योजनों दूर रहते हैं) ऐसा यह अनघ (शुद्ध) चैतन्यमय सहज तत्त्व अत्यन्त जयवन्त (बारम्बार अवलम्बन करने योग्य) है।'

श्लोक १५७ :- 'निज सुख रूपी सुधा के सागर में (यहाँ एक स्पष्टीकरण आवश्यक है कि कोई वर्ग ऐसा मानता है कि योग पद्धति से सुधा रस का पान करने से आत्मा का अनुभव होता है अर्थात् सम्यग्दर्शन होता है। उन्हें एक बात यहाँ स्पष्ट समझने योग्य है कि जो अतीन्द्रिय आनन्द है कि जो स्वात्मानुभूति से आता है, उसे ही शास्त्रों में सुधा का सागर अर्थात् सुधा रस कहा है, परन्तु किसी शारीरिक क्रिया अथवा तो पुद्गल रूपी रस के विषय की यहाँ बात नहीं है, क्योंकि अनुभव काल में कोई देह भाव होता ही नहीं, स्वयं मात्र शुद्धात्म रूप ही होता है तो पुद्गल रूपी रस की बात ही कहाँ से होगी? अर्थात् होती ही नहीं, ऐसे सुधा के सागर में) डूबते हुए इस शुद्धात्मा को जानकर भव्य जीव परम गुरु द्वारा (इस ज्ञान का प्राय: अभाव होने से इस की दुर्लभता बताने को परम गुरु शब्द प्रयोग किया है) शाश्वत सुख को प्राप्त करते हैं; इसलिये, भेद के अभाव की दृष्टि से (अर्थात् स्वानुभूति में कुछ भेद ही नहीं अर्थात् वहाँ द्रव्य-पर्याय अथवा तो पर्याय के निषेध इत्यादि रूप कोई भेद ही नहीं है, उस में तो मात्र द्रव्यदृष्टि ही महत्त्व की है कि जिस में पर्याय ज्ञात ही नहीं होती अर्थात् पूर्ण द्रव्य मात्र शुद्धात्मा रूप ही ज्ञात होता है; ऐसी दृष्टि से) जो सिद्धि से उत्पन्न होनेवाले सौख्य (अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्द, नहीं कि पुद्गल रूपी सुधा रस) द्वारा शुद्ध है ऐसे किसी (अद्भुत) सहज तत्त्व को (परमपारिणामिकभाव रूपी शुद्धात्मा को) मैं भी सदा अति अपूर्व रीति से अत्यन्त भाता हूँ।'

श्लोक १५८ :- 'सभी संग से निर्मुक्त, निर्मोही, अनघ और परभाव से मुक्त ऐसे इस परमात्म तत्त्व को (इस प्रकार से भेदज्ञानपूर्वक ग्रहण किये हुए शुद्धात्मा को) मैं निर्वाणरूपी स्त्री से उत्पन्न होनेवाले अनंग सुख के (अतीन्द्रिय सुख के) लिये नित्य सम्भाता हूँ (सम्यक् रूप से भाता हूँ -

अनुभव करता हूँ) और प्रणाम करता हूँ।'

श्लोक १५९ :- 'निज भाव से भिन्न ऐसे सकल विभाव को छोड़कर (अर्थात् यहाँ भेदज्ञान की विधि बतायी है) एक निर्मल चिन्मात्र को (ज्ञानसामान्य रूप परमपारिणामिकभाव को) मैं भाता हूँ। संसारसागर से तिर जाने के लिये, अभेद कहे हुए (ऊपर जिस प्रकार अभेद समझाया है, उस प्रकार से अभेद कहे हुए) मुक्ति के मार्ग को भी मैं नित्य नमन करता हूँ।'

श्लोक १६० :- 'जो कर्म के दूरपने के कारण (अर्थात् कर्म और उन के निमित्त से होनेवाले भावों से भेदज्ञान करने से वे गौण हो गये हैं और स्वयं को शुद्धात्मा प्राप्त हुआ है, उस के कारण) प्रगट सहजावस्थापूर्वक (अर्थात् सहजपरिणमन रूप परमपारिणामिकभाव जो कि पंचमभाव भी कहलाता है, उस में ही 'मैंपन' करके) रहा हुआ है, जो आत्मनिष्ठापरायण (आत्मस्थित) समस्त मुनियों की मुक्ति का मूल है (अर्थात् ऐसे शुद्धात्मा में ही 'मैंपन' करने योग्य है और उस का ही ध्यान करने योग्य है अर्थात् उसे ही सेवन करने से मुक्ति मिलती है अर्थात् श्रेणी चढ़ी जाती है और केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त होता है और आयु क्षय से मोक्ष पाता है, इसलिये शुद्धात्मा को मुक्ति का मूल कहा है) जो एकाकार है (अर्थात् सदा वैसा का वैसा ही उपजता होने से त्रिकाली शुद्ध अर्थात् तीनों काल एक जैसा ही है इसलिये उसे त्रिकाली ध्रुव भी कहा जाता है), जो निज रस के फैलाव से भरपूर होने से (यहाँ निज रस कहा कि जो आत्मा का अरूपी अतिन्द्रिय आनन्द है, न कि कोई रूपी पुद्गल द्रव्य रूप सुधा रस) पवित्र है और जो पुराण है (अर्थात् सनातन है - तीनों काल वैसा का वैसा ही उपजता हुआ वह सहजपरिणमन रूप परमपारिणामिकभाव कहलाता है), वह शुद्ध-शुद्ध (अर्थात् परम शुद्ध) एक पंचमभाव सदा जयवन्त है।'

श्लोक १६१ :- 'अनादि संसार से समस्त जनता (जन समूह) को तीव्र मोह के उदय के कारण ज्ञानज्योति सदा मत्त है, काम के वश है, (यहाँ आचार्य भगवन्त ने जगत की स्थिति का बयान किया है कि आप सब विषय-कषाय में रत हो और उपदेश भी दिया है कि आप उन विषय-कषाय में रतपना - वशपना छेदकर/छोड़कर ज्ञानज्योति का अनुभव करो) और निज आत्मकार्य में मूढ़ है (अर्थात् संसार की समस्त होशियारी होने पर भी अपनी आत्मा की प्राप्ति के लिये योग्य काल की राह देखता अर्थात् नियतिवादी बनकर बैठा रहता है और अपना पूरा पुरुषार्थ संसार के लिये प्रयोग करता है और निज आत्मकार्य में मूढ़ है अर्थात् पुरुषार्थहीन है)। मोह के अभाव से वह ज्ञानज्योति शुद्धभाव को पाता है (अर्थात् परमपारिणामिकभाव के अनुभवन और सेवन से श्रेणी चढ़कर मोह का अभाव करके ज्ञानज्योति अर्थात् सम्यग्दृष्टि आत्मा, केवलज्ञान-केवलदर्शन रूप शुद्धभाव

को प्राप्त करता है) जिस शुद्धभाव ने दिशा मण्डल को उज्ज्वल किया है (अर्थात् उस से तीन काल-तीन लोक सहज ज्ञात होते हैं) और सहज अवस्था को प्रगट किया है (अर्थात् सभी गुणों की साक्षात् शुद्ध दशा प्रगट की है)।' यही विधि है सिद्धत्व की प्राप्ति की।

श्लोक १६७ :- 'शुभ और अशुभ से रहित शुद्ध चैतन्य की भावना (अर्थात् विभावभाव रहित शुद्धात्मा अर्थात् परमपारिणामिकभाव की ही भावना कि जो भाव श्री समयसार गाथा ६ में कहे अनुसार प्रमत्त भी नहीं और अप्रमत्त भी नहीं मात्र एक ज्ञायकभाव है, यही भावना) मेरे अनादि संसार रोग की उत्तम औषधि है।' अर्थात् जो निर्विकल्प आत्म स्वरूप है अर्थात् शुद्धात्मा है, वही सम्यग्दर्शन का विषय (दृष्टि का विषय) है और सम्यग्दृष्टि को आगे की साधना में वही ध्यान का विषय भी है।

श्लोक १७० :- 'जिस ने सहज तेज से (अर्थात् सहजपरिणमन रूप परमपारिणामिकभाव रूपी शुद्धात्मा को भाने से) राग रूपी अन्धकार का नाश किया है (अर्थात् राग रूपी विभावभाव का जिस के भाने से नाश हुआ है अर्थात् जिस के कारण वीतरागता आयी है), जो मुनिवरों के मन में बसता है (अर्थात् मुनिवर उस का ही ध्यान करते हैं और उस का ही सेवन करते हैं अर्थात् उस में ही अधिक से अधिक स्थिरता करने का पुरुषार्थ करते हैं), जो शुद्ध-शुद्ध (जो अनादि-अनन्त शुद्ध) है, जो विषय सुख में रत जीवों को सर्वदा दुर्लभ है (अर्थात् मुमुक्षु जीव को समस्त विषय-कषाय के प्रति आदर छोड़ देना आवश्यक है अर्थात् अत्यन्त आवश्यकता के सिवाय उन का ज़रा भी सेवन न करने से उन के प्रति आदर निकल जाता है; उस की परीक्षा के लिये 'मुझे क्या रुचता है?' ऐसा प्रश्न स्वयं से पूछ कर उस का उत्तर खोजना और यदि उत्तर में संसार अथवा संसार के सुखों के प्रति आकर्षण/आदर भाव हो तो समझना कि मुझे अभी विषय-कषाय का आदर है, संसार का आदर है जो कि छोड़ने योग्य है, क्योंकि वह अनन्त परावर्तन कराने में सक्षम है), (शुद्धात्मा) जो परम सुख का समुद्र है, जो शुद्ध ज्ञान है (अर्थात वह ज्ञानसामान्यमात्र है) और जिस ने निद्रा का नाश किया है (अर्थात् इस शुद्धात्मा को भाने से जिन्होंने केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त किया है उन्होंने इस भावना के बल से ही निद्रा का नाश किया है) वह यह (शुद्धात्मा) जयवन्त है (अर्थात् वह शुद्धात्मा ही सर्वस्व है)।'

श्लोक १९० :- 'जिस ने नित्यज्योति (अनादि-अनन्त शुद्धभाव रूप परमपारिणामिकभाव) द्वारा तिमिर पुंज का नाश किया है, जो आदि-अन्त रहित है (अर्थात् तीनों काल शुद्ध ही है), जो परम कला सहित है और जो आनन्द मूर्ति है ऐसी एक शुद्ध आत्मा को जो जीव शुद्ध आत्मा में

अविचल मनवाला होकर निरन्तर ध्याता है (अर्थात् उस का ही ध्यान करता है), वह यह आचारवान (चारित्रवान) जीव शीघ्र बन्धनमुक्त होता है।'

श्लोक १९३ :- 'यह ध्यान है, यह ध्येय है, यह ध्याता है और यह फल है – ऐसे विकल्प जालों से जो मुक्त है (अर्थात् जो निर्विकल्प शुद्धात्मा है) उसे मैं नमन करता हूँ (स्तवन करता हूँ, सम्यक् प्रकार से भाता हूँ)।'

उस का ही मैं ध्यान करता हूँ और उस में ही 'मैंपन' करता हूँ कि जिस से मैं निर्विकल्प होता हूँ अर्थात् शुद्धात्मा का अनुभव करता हूँ; किसी भी विकल्प रूप ध्यान से इस शुद्धात्मा का निर्विकल्प ध्यान उत्तम है, आचरणीय है जो कि सम्यग्दर्शन के बाद ही होता है।

गाथा १२३ : अर्थ :- 'संयम, नियम और तप से तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यान से जो आत्मा को ध्याता है, उसे परम समाधि है।' अर्थात् सम्यग्दृष्टि की आगे की भूमिका में जो करने योग्य है अर्थात् जो सहज होता है, उस का वर्णन किया है और अन्यों को भी वह अभ्यास रूप से भी करने योग्य है।

श्लोक २०२ :- 'वास्तव में समता रहित (अर्थात् सम्यग्दर्शन रहित, क्योंकि सम्यग्दृष्टि को ही सच्ची समता प्राप्त होती है) यति को अनशनादि तपश्चरणों से फल नहीं है (अर्थात् मुक्ति रूप फल नहीं है परन्तु संसार रूप फल है जो कि हेय है, इसलिये कहा है कि फल नहीं है); इसलिये हे मुनि! समता का कुल मन्दिर ऐसा जो अनाकुल निज तत्त्व (अर्थात् शुद्धात्मा) है उसे भज।'

अर्थात् सर्वप्रथम शुद्धात्मा का चिन्तन, निर्णय, लक्ष्य और योग्यता करके सम्यग्दर्शन प्राप्त करना योग्य है क्योंकि तत्पश्चात् ही सर्व तपश्चरण का अपूर्व फल अर्थात् मुक्ति रूपी फल मिलता है, अन्यथा नहीं। इसलिये जिस को भी बग़ैर सम्यग्दर्शन के अभ्यास रूप से मुनिपन लेना है, उस को एकमात्र लक्ष्य आत्मप्राप्ति का ही रखना चाहिये और आत्मप्राप्ति के लिये ही पूर्ण पुरुषार्थ करना चाहिये।

श्लोक २०७ :- 'मैं – सुख की इच्छा रखनेवाला आत्मा – अजन्म और अविनाशी ऐसे निज आत्मा को आत्मा द्वारा ही आत्मा में स्थिर रहकर बारम्बार भाता हूँ।' जो कोई परम सुख के इच्छुक हैं उन के लिये एकमात्र शुद्धात्मा का ही लक्ष्य और शुद्धात्मा का ही ध्यान श्रेष्ठ है क्योंकि उसी से ही मुक्ति मिलेगी।

श्लोक २११ :- 'यह अनघ (निर्दोष = शुद्ध) आत्म तत्त्व जयवन्त है – कि जिस ने संसार

को अस्त किया है (अर्थात् संसार के अस्त के लिये अर्थात् मुक्ति के लिये यह शुद्धात्मा ही शरणभूत – सेवने योग्य है), जो महामुनिगण के आदिनाथ (गणधरों) के हृदयारविन्द (मन) में स्थित है, जिस ने भव का कारण त्याग दिया है (अर्थात् जो इस भाव में स्थिर हो जाता है, उसे अब फिर कोई भव रहता ही नहीं क्योंकि वह मुक्त ही हो जाता है), जो एकान्त से शुद्ध प्रगट हुआ है (अर्थात् जो सर्वथा शुद्ध रूप से स्पष्ट ज्ञात होता है अर्थात् जो तीनों काल शुद्ध ही होता है परन्तु सम्यग्दर्शन होने से, उस एकान्त से शुद्ध अर्थात् तीनों काल शुद्ध ही है, वह प्रगट हुआ, अनुभव में आया इसलिये प्रथम से वह शुद्ध ही होने पर भी उस का अनुभव न होने से, अनुभूति की अपेक्षा से वह प्रगट हुआ कहलाता है) और जो सदा (टंकोत्कीर्ण चैतन्य सामान्य रूप अर्थात् ज्ञेयों को गौण करते ही जो जानने-देखनेवाला शेष रहता है, वह तीनों काल वैसा का वैसा ही ज्ञानसामान्य रूप होने से, टंकोत्कीर्ण कहलाता है; दूसरे प्रकार से ज्ञेय विशेष है और वह जिन का बना हुआ है अर्थात् ज्ञान का, उसे सामान्य ज्ञान अर्थात् चैतन्य सामान्य कहा जाता है, जो सदा) निज महिमा में लीन होने पर भी सम्यग्दृष्टियों को अनुभूति में आता है।'

श्लोक २१६ :- 'यह स्वत: सिद्ध ज्ञान (अर्थात् ऊपर बताये अनुसार परमपारिणामिकभाव रूप सामान्यज्ञान) पाप-पुण्य रूपी वन को जलानेवाली अग्नि है (अर्थात् अपूर्व निर्जरा का कारण है) महा-मोहान्धकारनाशक (अर्थात् मोह का नाश करके अरिहन्त पद दिलानेवाला है) अति प्रबल तेजमय है। विमुक्ति का मूल है और निरूपाधि महा-आनन्द सुख का (अर्थात् अतीन्द्रिय शाश्वत् सुख का) दायक है। भव भय का ध्वंस करने में निपुण (अर्थात् मुक्ति दिलानेवाले) ऐसे इस ज्ञान को मैं नित्य पूजता हूँ।' अर्थात् उसे नित्य भाता हूँ और उस में ही स्थिरता का पुरुषार्थ करता हूँ।

श्लोक २२० :- 'जो भव भय के हरनेवाले इस सम्यक्त्व की, शुद्ध ज्ञान की और चारित्र की भव छेदक (अर्थात् यह सम्यग्दर्शन, शुद्धज्ञान अर्थात् सम्यग्ज्ञान और उस में ही स्थिरता करने रूप चारित्र को भव भय का हरनेवाला कहा है अर्थात् मुक्तिदाता कहा है) अतुल भक्ति निरन्तर करता है, वह काम-क्रोधादि समस्त दुष्ट पाप समूह से मुक्त चित्तवाला जीव – श्रावक हो या संयमी हो निरन्तर भक्त है, भक्त है।' अर्थात् जैन -सिद्धान्त अनुसार ऐसी अभेद भक्ति ही कार्यकारी है और इसलिये ऐसी ही भक्ति की इच्छा करना चाहिये।

श्लोक २२७ :- 'इस अविचलित-महाशुद्ध-रत्नत्रयवाले मुक्ति के हेतुभूत निरुपम-सहज-ज्ञानदर्शनचारित्र रूप (अर्थात् ज्ञान-दर्शन-चारित्र इत्यादि अनन्त गुणों का सहज परिणमन रूप परमपारिणामिकभाव रूप शुद्धात्मा), नित्य आत्मा में (अर्थात् शुद्धात्मा जो कि नित्य शुद्ध रूप वैसा

का वैसा ही उपजता है अर्थात् परिणमता है ऐसे नित्य आत्मा में) आत्मा को वास्तव में सम्यक् प्रकार से स्थापित करके (अर्थात् उस का ही अनुभव करके और उस का ही ध्यान धर कर) यह आत्मा चैतन्य चमत्कार की (सामान्य चेतना रूप परमपारिणामिकभाव की) भक्ति द्वारा निरतिशय (अजोड़) घर को, जिस में से विपदायें दूर हो गयी हैं और जो आनन्द से भव्य है प्राप्त करता है अर्थात् सिद्धि रूपी स्त्री का स्वामी होता है।' शुद्धात्मा के ध्यान से ही जीव अरिहन्त होता है और फिर सिद्ध होकर मुक्त होता है।

गाथा १३७ टीका का श्लोक :- 'आत्म प्रयत्न सापेक्ष विशिष्ट जो मनोगति (अर्थात् नोइन्द्रिय रूप मन द्वारा जो, आत्मा को स्वानुभव होता है वह), उस का ब्रह्म में संयोग होना (अर्थात् स्वात्मानुभूति होती है अर्थात् शुद्धात्मा में = ब्रह्म में 'मैंपन' = सोऽहं करते ही सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है), उसी को योग कहा जाता है।'

जैन सिद्धान्त के अनुसार योग की यह व्याख्या है और यही योग आत्मा के लिये हितकर है, जबकि अन्य प्रकार के योग, मात्र विकल्प रूप आर्तध्यान के कारण होने से सेवन योग्य नहीं हैं। अब आगे योग भक्तिवाले जीव की व्याख्या करते हैं, वही भक्ति का स्वरूप भी है।

श्लोक २२८ :- 'जो आत्मा ख़ुद को अपने साथ निरन्तर जोड़ती है (अर्थात् एकमात्र शुद्धात्मा का ही ध्यान करती है, अनुभव करती है), वह मुनीश्वर निश्चय से योग भक्तिवाला है।'

गाथा १३८ : अर्थ :- 'जो साधु सभी विकल्पों के अभाव में (अर्थात् निर्विकल्प स्वरूप परमपारिणामिकभाव में) आत्मा को जोड़ता है (अर्थात् उस में ही 'मैंपन' करता है), वह योग भक्तिवाला है; दूसरे को योग किस प्रकार हो सकता है?' अर्थात् ऐसे स्वात्मानुभूति रूप योग के अतिरिक्त दूसरे को योग माना ही नहीं अर्थात् दूसरा कोई योग कार्यकारी नहीं।

श्लोक २२९ :- 'भेद का अभाव होने पर (अर्थात् अभेदभाव से शुद्धात्मा को भाने पर अर्थात् अनुभव करने पर) श्रेष्ठ योग भक्ति होती है; उस के द्वारा योगियों को आत्मलब्धि रूप ऐसी वह (प्रसिद्ध) मुक्ति होती है।' अर्थात् ऐसा ही योग मुक्ति का कारण है और इसलिये अभेदभाव से शुद्धात्मा ही भाने योग्य है, अन्य कोई नहीं।

गाथा १३९ : अर्थ :- 'विपरीत अभिनिवेश का परित्याग (अर्थात् मताग्रह, हठाग्रह इत्यादि का त्याग) करके जो जैन कथित तत्त्वों में आत्मा को जोड़ता है, उस का निज भाव (अर्थात् शुद्धात्मानुभूति) योग है।'

गाथा १४० : अर्थ :- ‘वृषभादि जिनवरेन्द्र इस प्रकार योग की उत्तम भक्ति करके निवृत्ति सुख को प्राप्त हुए; इसलिये योग की (ऐसी) उत्तम भक्ति को तू धारण कर (न कि अन्ध भक्ति अथवा व्यक्ति राग रूप भक्ति को)।’

श्लोक २३३ :- ‘अपुनर्भव सुख की (मुक्ति सुख की) सिद्धि के लिये मैं शुद्ध योग की (अर्थात् शुद्धात्मा में ‘मैंपन’ करनेवाले योग की) उत्तम भक्ति करता हूँ (अर्थात् उसे ही बारम्बार भाता हूँ), संसार की घोर भीति से सभी जीव नित्य यह उत्तम भक्ति करें।’ अर्थात् सब को उसी शुद्ध योग की भक्ति की ही प्रेरणा देते है, न कि चापलूसीवाली भक्ति की अथवा व्यक्ति राग रूप भक्ति की।

गाथा १४१ : अर्थ :- ‘जो अन्य के वश नहीं (अर्थात् जो पूर्ण भेदज्ञान करके मात्र शुद्धात्मा में ही ‘मैंपन’ करता है और इस कारण से वह जिन कुछ कर्मों का उदय होता है अर्थात् उदय आता है, उन्हें समताभाव से भोगता है अर्थात् उस में अच्छा-बुरा अर्थात् इष्ट-अनिष्ट बुद्धि नहीं करता, इसलिये वह अन्य के वश नहीं है) उसे (निश्चय परम) आवश्यक कर्म कहते हैं (अर्थात् उस जीव को आवश्यक कर्म है ऐसा परम योगीश्वर कहते हैं)। (ऐसा) कर्म का विनाश करनेवाला योग (अर्थात् ऐसा जो यह आवश्यक कार्य) वह निर्वाण का मार्ग है ऐसा कहा है।’

श्लोक २३८ :- ‘स्ववशता से उत्पन्न आवश्यक कर्म स्वरूप यह साक्षात् धर्म नियम से (निश्चित रूप से) सच्चिदानन्दमूर्ति आत्मा में (सत्-चित्-आनन्द स्वरूप आत्मा में अर्थात् परमपारिणामिकभाव रूप आत्मा में) अतिशय रूप से होता है। वह यह (आत्मस्थित धर्म), कर्म क्षय करने में कुशल है। ऐसा निर्वाण का एक मार्ग है। उस से ही मैं (अर्थात् उस में ही ‘मैंपन’ करके मैं) शीघ्र कोई (अद्‌भुत) निर्विकल्प सुख को प्राप्त करता हूँ।’ अर्थात् स्वात्मानुभूति में अद्‌भुत-अतीन्द्रिय निर्विकल्प आनन्द ही होता है, उसे मैं प्राप्त करता हूँ।

श्लोक २३९ :- ‘कोई योगी स्वहित में लीन रहता हुआ शुद्ध जीवास्तिकाय [अर्थात् पूर्ण जीव जो कि प्रमाण का विषय है, उस में से विभावभाव अर्थात् कर्म (पर) के लक्ष्य से होनेवाले भावों को गौण करते ही, अर्थात् उस जीव को द्रव्यदृष्टि से निहारते ही वह परमपारिणामिकभाव रूपी शुद्ध जीवास्तिकाय प्राप्त होता है, वह अपने] अतिरिक्त अन्य पदार्थों के वश नहीं होता, ऐसा जो सुस्थित रहना, वह निरुक्ति (अर्थात् अवशपने का व्युत्पत्ति अर्थ) है, ऐसा करने से (अर्थात् अपने में लीन रहकर पर के वश नहीं होने से) दुरित रूपी (दुष्कर्म रूपी) तिमिर पुंज का जिस ने नाश किया है (अर्थात् वह किसी भी प्रकार के पाप आचरता नहीं ऐसा अर्थात् भावमुनि) ऐसे उस

योगी को सदा प्रकाशमान ज्योति द्वारा (अर्थात् परमपारिणामिकभाव स्वरूप कारण समयसार रूप सदा प्रकाशमान ज्योति द्वारा) सहज अवस्था (अर्थात् कार्य समयसार रूपी मुक्ति) प्रगट होने से अमूर्तपना (सिद्धत्व की प्राप्ति) होता है।'

श्लोक २४१ :- 'कलिकाल में (अर्थात् वर्तमान हुण्डावसर्पिणी पंचमकाल में) भी कहीं-कोई भाग्यशाली जीव मिथ्यात्वादि रूप मल कादव से रहित (अर्थात् सम्यग्दर्शन सहित) और सद्धर्म रक्षामणि ऐसा समर्थ मुनि होता है। जिस ने अनेक परिग्रहों का विस्तार छोड़ा है और जो पाप रूपी अटवी को जलानेवाली अग्नि है, ऐसा मुनि इस काल में भूतल में (पृथ्वी पर) तथा देवलोक में देवों द्वारा भी भली प्रकार पूज्य है।' अर्थात् ऐसे समर्थ मुनि कोई विरले ही होते हैं जो कि अत्यन्त आदर के पात्र हैं।

श्लोक २४२ :- 'इस लोक में तपश्चर्या समस्त सुबुद्धियों को प्राणप्यारी है; वह योग्य तपश्चर्या (मात्र आत्म लक्ष्य से और मुक्ति के लक्ष्य से) इन्द्रों को भी सतत वन्दनीय है। उसे पाकर जो कोई जीव कामान्धकारयुक्त संसार से जनित सुख में रमता है, वह जड़ मति है। अरे रे! कलि से हना हुआ है।' अर्थात् चारित्र अथवा तपश्चर्या अंगीकार करने के बाद भी यदि किसी जीव को काम-भोग के प्रति आदर जीवन्त रहता है तो वैसे जीव को जड़ मति कहा है अर्थात् वैसा जीव अपना अनन्त संसार जीवन्त रखनेवाला है।

श्लोक २४३ :- 'जो जीव पर के वश (अर्थात् सम्यग्दर्शन रहित) है वह भले मुनिवेशधारी हो फिर भी संसारी है, नित्य दुःख का भोगनेवाला है; जो जीव स्ववश (अर्थात् सम्यग्दर्शन सहित) है वह जीवन्मुक्त है, जिनेश्वर से किंचित् न्यून है।'

सम्यग्दर्शन सहित मुनि में जिनेश्वरदेव की अपेक्षा ज़रा सी ही हीनता है यानी वैसे मुनि शीघ्र ही जिनत्व प्राप्त करने योग्य हैं और सम्यग्दर्शन रहित मुनिवेशधारियों को भी सर्वप्रथम में प्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त करने योग्य है क्योंकि उस के बिना मोक्षमार्ग शुरु ही नहीं होता-ऐसा उपदेश भी दिया है।

श्लोक २४४ :- 'ऐसा होने से ही जिननाथ के मार्ग में मुनि वर्ग में स्ववश मुनि (अर्थात् सम्यग्दर्शन सहित समताधारी मुनि) सदा शोभता है; और अन्य के वश मुनि नौकर के समूह में राजवल्लभ नौकर के समान शोभता है।'

अर्थात् सम्यग्दर्शन रहित मुनि सभी संसारीजन रूप नौकरों में राजवल्लभ यानी ऊँची पदवीवाले नौकर की तरह शोभता है, उस से अधिक नहीं। वैसा मुनि भी ऊँची पदवीवाला संसारी ही है ऐसा बताकर सम्यग्दर्शन की ही महिमा समझायी है जो कि एकमात्र सभी जीवों का कर्तव्य है।

श्लोक २४५ :- 'मुनिवर देवलोकादि के क्लेश के प्रति रति तजो और निर्वाण के कारण का कारण (अर्थात् निर्वाण का कारण रूप निश्चयचारित्र का कारण, ऐसे सम्यग्दर्शन का विषय) ऐसे सहज परमात्मा को भजो (अर्थात् जो सम्यग्दर्शन का विषय है, ऐसा परमपारिणामिकभाव जो कि आत्मा का सहज परिणमन है और इसलिये ही उसे सहज परमात्म रूप कहा जाता है, कि उस में 'मैंपन' करने पर सम्यग्दर्शन प्रगट होता है जो कि निश्चय चारित्र का कारण है, इसलिये इस सम्यग्दर्शन के विषय को निर्वाण के कारण का कारण कहा गया है) जो कि सहज परमात्मा परमानन्दमय है, सर्वथा (अर्थात् तीनों काल) निर्मल ज्ञान का आवास है, निरावरण स्वरूप है और नय-अनय के समूह से (सुनय और कुनयों के समूह से अर्थात् विकल्प मात्र से) दूर (अर्थात् निर्विकल्प) है।'

गाथा १४५ : अर्थ :- 'जो द्रव्य-गुण-पर्यायों में (अर्थात् उनके विकल्पों में) मन जोड़ता है, वह भी पर वश है; मोहान्धकार रहित श्रमण ऐसा कहते हैं।'

ऊपर बताये अनुसार जो निर्विकल्प शुद्धात्मा है, उस में ही उपयोग लगाने योग्य है, अन्यथा नहीं। इस अपेक्षा से भेद रूप व्यवहार हेय है, उस का उपयोग वस्तु का स्वरूप समझने के लिये ही है - जैसे कि द्रव्य-गुण-पर्याय अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रुव और अनन्त गुण इत्यादि; परन्तु वे सभी भेद विकल्प रूप होने से और वस्तु का स्वरूप अभेद होने से, भेद रूप व्यवहार से वस्तु जैसी है वैसी समझकर भेद में न रहकर, अभेद में ही रमने योग्य है।

प्रश्न :- यहाँ किसी के मन में विकल्प हो कि दृष्टि का विषय तो पर्याय से रहित द्रव्य है न? तो?

उत्तर :- ऐसा विकल्प करने से वहाँ द्वैत का जन्म होता है अर्थात् एक अभेद द्रव्य में द्रव्य और पर्याय रूप द्वैत का जन्म होने से, अभेद का अनुभव नहीं होता; अर्थात् दृष्टि का विषय अभेद, शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से 'शुद्धात्मा' है और शुद्ध द्रव्यार्थिक नय में पर्याय अत्यन्त गौण हो जाने से ज्ञात ही नहीं होती। अथवा उस का विकल्प भी नहीं आता इसलिये अभेद रूप शुद्धात्मा का अनुभव हो जाता है कि जिस में विभावपर्याय अत्यन्त गौण है। यही विधि है निर्विकल्प सम्यग्दर्शन की अर्थात् उस में द्रव्य को पर्यायरहित प्राप्त करने का अथवा किसी भी विभावभाव के निषेध का विकल्प न करके, मात्र दृष्टि के विषय रूप 'शुद्धात्मा' को ही शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से ग्रहण करने पर अन्य सभी अपने आप ही अत्यन्त गौण हो जाते हैं।

परन्तु जो ऐसा न करके निषेध का ही आग्रह रखते हैं, वे मात्र निषेध रूप विकल्प में ही रहते हैं और निर्विकल्प स्वरूप का अनुभव नहीं कर सकते। वे मात्र भ्रम में ही रहते हैं और अपने को सम्यग्दृष्टि समझकर अनन्त परावर्तन को आमन्त्रण देते हैं, जो करुणा उपजानेवाली बात है।

श्लोक २४६ :- 'जैसे ईंधनयुक्त अग्नि वृद्धि को प्राप्त होती है (अर्थात् जब तक ईंधन है, तब तक अग्नि की वृद्धि होती है), उसी प्रकार जब तक जीवों को चिन्ता (विकल्प) है, तब तक संसार है।' अर्थात् निर्विकल्प स्वरूप 'शुद्धात्मा' ही उपादेय है।

गाथा १४६ : अर्थ :- 'जो परभाव का परित्याग कर (अर्थात् दृष्टि में अत्यन्त गौण करके) निर्मल स्वभाववाले आत्मा को ध्याता है, वह वास्तव में आत्मवश है (अर्थात् स्ववश है) और उसे (निश्चयपरम) आवश्यक कर्म (जिनवर) कहते हैं।' अर्थात् आत्मध्यान वह परम आवश्यक है।

श्लोक २४९ :- 'निर्वाण का कारण ऐसा जो जिनेन्द्र का मार्ग है, उसे इस प्रकार जान कर (अर्थात् जिनेन्द्र कथित निर्वाण का मार्ग यहाँ समझाये अनुसार ही है, अन्यथा नहीं, इसलिये उसे इस प्रकार जान कर) जो निर्वाण सम्पदा को प्राप्त करता है उसे मैं बारम्बार वन्दन करता हूँ।'

श्लोक २५२ :- 'जिस ने निज रस की विस्तार रूपी बाढ़ द्वारा पापों को सभी ओर से धो डाला है (अर्थात् शुद्धात्मा में पाप रूप सभी विभावभाव अत्यन्त गौण होने से अर्थात् ज्ञात ही न होते होने से और उन में 'मैंपन' भी न होने से ऐसा कहा है), जो सहज समता रस से पूर्ण भरा हुआ होने से पवित्र है (अर्थात् शुद्धात्मा सर्व गुणों के सहजपरिणमन रूप परमपारिणामिकभाव रूप सहज समता रस से पूर्ण होता है), जो पुराण (अर्थात् शुद्धात्मा सनातन - त्रिकाल शुद्ध) है, जो स्ववश मन में सदा सुस्थित है (अर्थात् सम्यग्दर्शनयुक्त को वह भाव सदा लब्ध रूप से होता है) और जो शुद्ध सिद्ध है (अर्थात् शुद्धात्मा, सिद्ध भगवान समान शुद्ध है और इसी अपेक्षा से 'सभी जीव स्वभाव से सिद्ध समान ही हैं' कहा जाता है) ऐसा सहज तेज राशि में मग्न जीव (अर्थात् स्वात्मानुभूतियुक्त जीव) जयवन्त हो।'

गाथा १४७ : अर्थ :- 'यदि तू (निश्चय परम) आवश्यक को चाहता है तो तू आत्म स्वभावों में (अर्थात् शुद्धात्मा में) स्थिर भाव करता है, उस से जीव को सामायिक गुण सम्पूर्ण होता है।' अर्थात् जो जीव शुद्धात्मा में ही स्थिर भाव करता है, उसे ही कार्यकारी = सच्ची सामायिक कहा है और उसे ही अपूर्व निर्जरा होती है।

श्लोक २५६ :- 'आत्मा को अवश्य मात्र सहज-परम-आवश्यक को एक को ही, कि जो अघ समूह का (दोष समूह का) नाशक है और मुक्ति का मूल (कारण) है उसे ही - अतिशय रूप से करना (अर्थात् सहज परम-आवश्यक वह कोई शारीरिक अथवा शाब्दिक क्रिया न होने से, मात्र मन की ही क्रिया है अर्थात् अतीन्द्रिय ध्यान रूप होने से अतिशय रूप से करने को कहा है)। (ऐसा

करने से) सदा निज रस के फैलाव से पूर्ण भरपूर होने से (अर्थात् शुद्धात्मा में मात्र निज गुणों का सहज परिणमन ही ग्रहण होता है कि जो सम्पूर्ण होने के कारण) पवित्र और पुराण (सनातन – त्रिकाल) ऐसा वह आत्मा वाणी से दूर (वचन अगोचर) ऐसे किसी सहज शाश्वत सुख को (सिद्धों के सुख को) प्राप्त करता है।'

श्लोक २५७ :– 'स्ववश मुनीन्द्र को (अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रयुक्त मुनीन्द्र को) उत्तम स्वात्म चिन्तन (निजात्मानुभवन) होता है, और वह (निज आत्मा के सुख का अनुभव रूप) आवश्यक कर्म उस के मुक्ति सुख का (सिद्धत्व का) कारण होता है।'

गाथा १५१ : अर्थ :– 'जो धर्मध्यान और शुक्लध्यान में परिणत है वह भी अन्तरात्मा है। ध्यान विहीन (अर्थात् इन दोनों ध्यान विहीन) श्रमण बहिरात्मा है, ऐसा जान।'

गाथा १५४ : अर्थ :– 'यदि किया जा सके तो अहो! ध्यानमय (स्वात्मानुभूति रूप शुद्धात्मा के ध्यानमय) प्रतिक्रमणादि कर; यदि तू शक्तिविहीन हो (अर्थात् यदि तुझे सम्यग्दर्शन हुआ न हो और इस कारण से शुद्धात्मानुभूति रूप ध्यान करने में शक्तिविहीन हो) तो वहाँ तक (अर्थात् जब तक सम्यग्दर्शन न हो तब तक) श्रद्धान ही (अर्थात् यहाँ बतायी तत्त्व की उसी प्रकार से श्रद्धा) कर्तव्य (अर्थात् करने योग्य) है।'

श्लोक २६४ :– 'असार संसार में, पाप से भरपूर कलिकाल का विलास होने पर, इस निर्दोष जिननाथ के मार्ग में मुक्ति नहीं है, इसलिये इस काल में अध्यात्म ध्यान कैसे हो सकता है? इसलिये निर्मल बुद्धिवाले भव भय का नाश करनेवाली ऐसी इस (ऊपर बताये अनुसार की) निजात्म श्रद्धा को अंगीकृत करते हैं।' अर्थात् इस काल में सम्यग्दर्शन अत्यन्त दुर्लभ होने से यहाँ बताये अनुसार अपनी आत्मा की श्रद्धा परम कर्तव्य है। वही कार्यकारी = सच्ची भक्ति है। इस पंचम काल में सत्य धर्म का महत् अंश से लोप हो जाने के कारण धर्म में कई प्रकार की विकृतियाँ आ गयी हैं, इसलिये सत्य समझने के लिये भी साधक को निर्मल बुद्धि होना आवश्यक है, अन्यथा वह प्राय: एकान्त मार्ग में ही श्रद्धा कर बैठेगा; इस से मुक्ति के बजाय अनन्त संसार मिलेगा, यह बात समझायी है।

गाथा १५६ : अर्थ :– 'नाना प्रकार के जीव हैं। नाना प्रकार के कर्म हैं, नाना प्रकार की लब्धि है, इसलिये स्वसमयों (स्वधर्मियों) और परसमयों (परधर्मियों) के साथ वचन विवाद वर्जन योग्य है।'

तत्त्व के लिये कुछ भी वाद-विवाद, वैर-विरोध, झगड़ा कभी भी करने योग्य नहीं है क्योंकि

उस से तत्त्व की ही पराजय होती है। धर्म ही लजाता है। दोनों पक्षों को धर्म प्राप्त नहीं होता, इसलिये उस में वाद-विवाद, वैर-विरोध, झगड़ा त्यागने योग्य ही है।

श्लोक २७१ :- 'हेय रूप ऐसा जो कनक और कामिनी सम्बन्धी मोह, उसे छोड़ कर (अर्थात् मुमुक्षु जीव को आत्मप्राप्ति के लिये यह मोह छोड़ने योग्य है), हे चित्त (अर्थात् चेतन)! निर्मल सुख के लिये (अर्थात् अतीन्द्रिय सुख के लिये) परम गुरु द्वारा धर्म को प्राप्त करके तू अव्यग्र रूप (शान्त स्वरूपी) परमात्मा में (अर्थात् निर्विकल्प परमपारिणामिकभाव रूपी त्रिकाली शुद्ध आत्मा में) जो (शुद्धात्मा) नित्य आनन्दवाला है, निरुपम गुणों से अलंकृत है और दिव्य ज्ञानवाला (अर्थात् शुद्ध सामान्यज्ञानवाला शुद्धात्मा) है – शीघ्र प्रवेश कर।' अर्थात् सभी मुमुक्षु जीवों को कनक और कामिनी सम्बन्धी मोह छोड़ कर शुद्धात्मा में ही शीघ्र 'मैंपन' कर के उसी की ही अनुभूति में एक रूप हो जाने की प्रेरणा की है अर्थात् सभी मुमुक्षु जीवों को वही करने योग्य है।

गाथा १५९ टीका का श्लोक :- 'वस्तु का यथार्थ निर्णय वह सम्यग्ज्ञान है, वह सम्यग्ज्ञान, दीपक की भाँति स्व और (पर) पदार्थों के निर्णयात्मक है (अर्थात् यह सम्यग्ज्ञान वही विवेकयुक्त ज्ञान है कि जो शुद्धात्मा में 'मैंपन' करने पर भी, आत्मा को वर्तमान राग-द्वेष रूप अशुद्धि से मुक्त कराने के लिये, विवेकयुक्त मार्ग अंगीकार कराता है) तथा प्रमिति (प्रमाण द्वारा प्राप्त यथार्थ ज्ञान) से कथंचित् भिन्न (अर्थात् जो जानना होता है, वह विशेष अर्थात् ज्ञानाकार है जो कि ज्ञान का ही बना हुआ होने पर भी, उस ज्ञानाकार को दृष्टि का विषय प्राप्त करने में गौण करने में आया होने से और वह ज्ञानाकार तथा ज्ञान कथंचित् अभेद होने से अर्थात् एकान्त से भेद नहीं होने से उन्हें कथंचित् भिन्न कहा) है।'

गाथा १६४ : अर्थ :- 'व्यवहार नय से ज्ञान परप्रकाशक है; इसलिये दर्शन परप्रकाशक है; व्यवहार नय से आत्मा परप्रकाशक है इसलिये दर्शन परप्रकाशक है।'

जो ज्ञान है अथवा दर्शन है, वही आत्मा है और परप्रकाशन में (ज्ञेयाकार रूप ज्ञान के परिणमन में) सामान्यज्ञान और ज्ञेयाकार अर्थात् ज्ञानाकार ऐसा भेद होने से, स्व से कथंचित् भिन्न कहलाता है। यानी स्व, अभेद और निर्विकल्प स्वरूप है, जब कि परप्रकाशन में ज्ञेयाकार रूप जो ज्ञान का परिणमन होता है वह विकल्प रूप है और इसलिये वह भेद रूप होने से उसे व्यवहार रूप कहा है, क्योंकि भेद वह व्यवहार और अभेद वह निश्चय-ऐसी ही जिनागम की रीति है। दूसरा, अगर कोई दर्शन को मात्र स्वप्रकाशक मानता है तो उस बात का भी खण्डन किया है।

गाथा १७० : अर्थ :- 'ज्ञान जीव का स्वरूप है, इसीलिये आत्मा, आत्मा को जानता है, यदि ज्ञान आत्मा को न जाने तो आत्मा से व्यतिरिक्त (भिन्न) सिद्ध होगा।'

इस गाथा में भी अगर कोई ज्ञान को मात्र परप्रकाशक मानता है तो उस बात का खण्डन किया है।

गाथा १७१ : गाथा और अर्थ :- 'रे! (इसलिये ही) जीव है वह ज्ञान है और ज्ञान है वह जीव है, इस कारण से निज प्रकाशक ज्ञान तथा दृष्टि है-आत्मा को ज्ञान जान, और ज्ञान आत्मा है ऐसा जान; इस में सन्देह नहीं इसलिये ज्ञान तथा दर्शन स्व-परप्रकाशक हैं।'

अर्थात् जहाँ भी ज्ञान से कथन किया हो, वहाँ पूर्ण आत्मा ही समझना। तदुपरान्त कहीं किसी ने ज्ञान को साकार उपयोगवाला होने के कारण मात्र पर को जाननेवाला कहा है, और दर्शन को निराकार उपयोगवाला होने के कारण मात्र स्व को जाननेवाला कहा है, इस बात का उपरोक्त गाथाओं से निषेध किया है।

गाथा १७२ : अर्थ :- 'जानते और देखते हुए भी (अर्थात् केवली भगवन्त स्व-पर को जानते-देखते हैं तो भी) केवली को इच्छापूर्वक (वर्तन) नहीं होता, इसलिये उन्हें 'केवलज्ञानी' कहा है, और इसलिये अबन्धक कहा है' क्योंकि उन्हें पर में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि नहीं है अर्थात् पर का जानना जीव को दोषकारक नहीं परन्तु पर में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि ही नियम से दोषकारक अर्थात् बन्ध का कारण है। जो बात हमने पूर्व में भी बतायी है।

श्लोक २८७ :- 'आत्मा को ज्ञान-दर्शन रूप जान और ज्ञान-दर्शन को आत्मा जान; स्व और पर ऐसे तत्त्व को (समस्त पदार्थों को) आत्मा स्पष्ट रूप से प्रकाशित करता है।' अर्थात् जहाँ भी ज्ञान से अथवा दर्शन से कथन हुआ हो, वहाँ उसे अपेक्षा से पूर्ण आत्मा ही समझना और उसे नियम से स्व-परप्रकाशक समझना।

श्लोक २९७ :- 'भाव पाँच हैं, उन में यह परम पंचमभाव (परमपारिणामिकभाव) निरन्तर स्थायी है (अर्थात् तीनों काल वैसा का वैसा ही सहज परिणमन रूप - शुद्धभाव रूप उपजता है, इस अपेक्षा से स्थायी कहा है), संसार के नाश का कारण है और सम्यग्दृष्टियों को गोचर (अर्थात् अनुभव में आता) है, बुद्धिमान पुरुष समस्त राग-द्वेष के समूह को छोड़कर (अर्थात् द्रव्यदृष्टि से समस्त विभावभावों को अत्यन्त गौण करके) तथा उस परम पंचमभाव को जान कर (अर्थात् शुद्धात्मा की अनुभूति कर के) अकेला (अर्थात् शुद्धात्मा की अनुभूति के बाद की साधना आभ्यन्तर होने से

अकेला कहा है अथवा इस काल में सम्यग्दर्शन की दुर्लभता दर्शाने के लिये अकेला कहा है), कलियुग में पाप वन में अग्नि रूप मुनिवर रूप से शोभा देता है।' अर्थात् जो बुद्धिमान पुरुष परमपारिणामिकभाव का उग्र रूप से आश्रय करते हैं, वे ही पुरुष पाप वन को जलाने में अग्नि समान मुनिवर हैं। यहाँ पर परम पंचमभाव को निरन्तर स्थायी कहा है अर्थात् अपेक्षा से उसे अपरिणामी कहा जा सकता है, परन्तु उसे एकान्त से अपरिणामी नहीं मानना। ऐसा मानने पर अनर्थ हो जायेगा और अपना संसार का परिभ्रमण बढ़ जायेगा।

श्लोक २९९ :- 'आत्मा की आराधना से रहित जीव को सापराध (अपराधी) गिनने में आया है (इसलिये) मैं आनन्द मन्दिर आत्मा को (शुद्धात्मा को) नित्य नमन करता हूँ।' अर्थात् आत्मा के लक्ष्य के अतिरिक्त की सभी साधना-आराधना अपराधयुक्त कही है, क्योंकि उस का फल अनन्त संसार ही है।

इस प्रकार नियमसार शास्त्र में नियम से कारण समयसार रूप निज शुद्धात्मा जो कि परमपारिणामिकभाव रूप अर्थात् सहज परिणमन रूप है, उसे ही जानने को, उस में ही 'मैंपन' करने को, उसे ही भजने को और उस में ही स्थिरता करने को कहा है। यही मोक्षमार्ग का निश्चित नियम अर्थात् क्रम है, इसलिये इसे निश्चित नियम का सार अर्थात् नियमसार कहा है।

◆

३३

पंचास्तिकाय संग्रह की गाथाएं

अब हम श्री पंचास्तिकाय संग्रह शास्त्र की थोड़ी सी गाथायें देखेंगे-

गाथा १६५ : अर्थ :- 'शुद्ध सम्प्रयोग (भक्तिभाव) से दु:ख मोक्ष होता है ऐसा यदि अज्ञान के कारण ज्ञानी (अर्थात् सम्यग्दर्शन रहित क्षयोपशम ज्ञानी) माने, तो वह पर-समय रत जीव है।' ['अरिहन्त आदि के प्रति भक्ति-अनुरागवाली मन्द शुद्धि से क्रम से मोक्ष होता है' ऐसा यदि अज्ञान के कारण (शुद्धात्म सम्वेदन के अभाव के कारण) ज्ञानी को (अर्थात् क्षयोपशम ज्ञानी को) भी मन्द पुरुषार्थवाला झुकाव वर्ते, तो वहाँ तक वह भी सूक्ष्म पर-समय रत है।'] अर्थात् शुभभाव रूप जिनभक्ति से मुक्ति मिलती है, ऐसा जो मानता है वह मिथ्यात्वी है।

गाथा १६६ : अर्थ :- 'अरिहन्त, सिद्ध, चैत्य (अरहन्त आदि की प्रतिमा), प्रवचन (शास्त्र), मुनिगण और ज्ञान के प्रति भक्ति सम्पन्न जीव बहुत पुण्य बाँधता है, परन्तु वह वास्तव में कर्म का क्षय नहीं करता।'

अर्थात् मोक्षमार्ग मात्र स्वात्मानुभूति रूप सम्यग्दर्शन के अतिरिक्त मिलता ही नहीं, यही दृढ़ कराना है, इसलिये सभी को सम्यग्दर्शन के लिये ही सारे प्रयत्न करना चाहिये।

गाथा १६९ : अर्थ :- 'इसलिये मोक्षार्थी जीव (मुमुक्षु) नि:संग (अर्थात् अपने को शुद्धात्म रूप अनुभव करके, क्योंकि वह भाव त्रिकाल नि:संग है) और निर्मम (सब के प्रति ममता त्याग कर अर्थात् सभी संयोगीभाव में आदर छोड़कर निर्मम) होकर सिद्धों की (अभेद) भक्ति (शुद्ध आत्मद्रव्य में स्थिरता रूप पारमार्थिक सिद्ध भक्ति) करता है, इसलिये वह निर्वाण को पाता है (अर्थात् मुक्त होता है)।' हम पूर्व में स्पष्ट कर चुके हैं कि शुद्धात्मा की अभेद भक्ति ही मोक्षमार्ग में कार्यकारी है, न कि अन्धभक्ति अथवा व्यक्तिराग रूपी भक्ति।

गाथा १७२ : अर्थ :- 'इसलिये मोक्षाभिलाषी जीव (मुमुक्षु) सर्वत्र किंचित् राग न करे; राग न करने से वह भव्य जीव वीतराग होकर भवसागर को तिरता है।' अर्थात् मोक्षाभिलाषी जीव को मत, पन्थ, सम्प्रदाय, व्यक्ति विशेष इत्यादि कहीं भी राग नहीं करना चाहिये।

* * *

३४

अट्ठपाहुड की गाथाएं

अब हम अट्ठपाहुड शास्त्र की थोड़ी सी गाथायें देखेंगे-

'दर्शनपाहुड' गाथा ८ : अर्थ :- 'जो पुरुष दर्शन में भ्रष्ट है (अर्थात् मिथ्यात्वी है) तथा ज्ञान चारित्र में भी भ्रष्ट है, वे पुरुष भ्रष्ट में भी विशेष (अति) भ्रष्ट हैं। कोई दर्शन सहित है परन्तु ज्ञान-चारित्र उन्हें नहीं होता, तथा कोई अन्तरंग दर्शन से भ्रष्ट है तो भी ज्ञान-चारित्र का भली भाँति पालन करते हैं (यहाँ ज्ञान अर्थात् जिनागम का क्षयोपशम ज्ञान समझना) और जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीनों से भ्रष्ट हैं, वे तो अत्यन्त भ्रष्ट हैं। वे स्वयं तो भ्रष्ट हैं परन्तु बाक़ी के अर्थात् अपने अतिरिक्त अन्य जनों को भी भ्रष्ट करते हैं।'

इस गाथा से स्पष्ट होता है कि जिनसिद्धान्त में अनेकान्त प्रवर्तता है अर्थात् जिनसिद्धान्त में प्रत्येक कथन अपेक्षा से ही होता है और इसलिये कोई स्वच्छन्दता से ऐसा कहे कि सम्यग्दर्शन के अतिरिक्त अभ्यासार्थ और पाप से बचने के लिये भी अहिंसादि व्रत-तप नहीं होते, उन्हें यहाँ भ्रष्ट से भी अतिभ्रष्ट कहा है और दूसरो को भी वे भ्रष्ट रूप प्रवर्तन करानेवाले कहे हैं।

अर्थात् इस काल में सम्यग्दर्शन अति दुर्लभ होने के कारण, यदि कोई मिथ्यात्वी जीव (अर्थात् दर्शनविहीन जीव अथवा दर्शनभ्रष्ट जीव) ज्ञान अथवा चारित्र की आराधना करे, तो उस में कुछ भी ग़लत नहीं है, मात्र वह ज्ञान और चारित्र उसे मुक्ति दिलाने में शक्तिमान नहीं होने से और गुणस्थानक अनुसार नहीं होने से, वे उसे मात्र अभ्यास रूप और शुभभाव रूप ही हैं, परन्तु उन की कोई मनाही नहीं है, अपितु उन के लिये यहाँ प्रोत्साहन दिया है। इसलिये सभी को जिनसिद्धान्त सभी अपेक्षाओं से समझना अत्यन्त आवश्यक है, न कि एकान्त से, क्योंकि एकान्त बहुतों के परम अहित का कारण होने में सक्षम है।

'भावपाहुड' गाथा ८६ : अर्थ :- 'अथवा जो पुरुष आत्मा का इष्ट नहीं करता (अर्थात् जिस का लक्ष्य आत्मप्राप्ति नहीं) उस का स्वरूप जानता नहीं (अर्थात् आत्मस्वरूप वस्तुव्यवस्था का सत्य ज्ञान नहीं), उसे अंगीकार नहीं करता (अर्थात् आत्मा का अनुभव नहीं करने से मिथ्यात्वी है) और सब प्रकार के समस्त पुण्य करता है तो भी सिद्धि (मोक्ष) प्राप्त नहीं करता परन्तु वह पुरुष संसार में ही भ्रमण करता है।'

अर्थात् जिस का लक्ष्य आत्मप्राप्ति नहीं, ऐसा जीव सब प्रकार के समस्त पुण्य करता है तो भी सिद्धि (मोक्ष) प्राप्त नहीं करता परन्तु वह पुरुष संसार में ही भ्रमण करता है इसलिये

सभी मोक्षेच्छुकों को पूर्व में हमने देखा वैसा एकमात्र आत्मा के लक्ष्य से ही शुभ में रहना और अशुभ का त्याग करना, ऐसा विवेक है। अर्थात् पाप का तो त्याग; और एकमात्र आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से जो भाव हो वह नियम से शुभ ही हो, ऐसी है सहज व्यवस्था। जो कोई इस से विपरीत ग्रहण करे तो उस के तो अब बाद के भवों का भी ठिकाना नहीं रहेगा और जिनधर्म इत्यादि उत्तम संयोग भी प्राप्त होने दुर्लभ हो जायेंगे। इसलिये शास्त्र में से छल ग्रहण नहीं करना चाहिये, अन्यथा अनन्त संसार-भ्रमण ही प्राप्त होगा जो कि अनन्त दु:ख का कारण है।

'मोक्षपाहुड' गाथा ९ : अर्थ :- 'मिथ्यादृष्टि पुरुष अपनी देह के समान दूसरे की देह को देखकर, यह देह अचेतन है तो भी, मिथ्याभाव से आत्मभाव द्वारा बहुत प्रयत्न से, उसे पर की आत्मा ही मानता है, अर्थात् समझता है।'

मिथ्यात्वी जीव इसी प्रकार से देहभाव पुष्ट करता है। यदि वह साक्षात् समोसरण में भी जाये तो भगवान की देह को ही आत्मा मान कर अथवा यदि वह मन्दिर में जाये तो भगवान की मूर्ति रूप देह को ही आत्मा मानता है और पूजता है और ऐसा करके वह अपना देहाध्यास ही पक्का करता है अर्थात् देहाध्यास ही दृढ़ करता है।

गाथा १८ : अर्थ :- 'संसार के दु:ख देनेवाले ज्ञानावर्णादिक दुष्ट आठ कर्मों से रहित है (अर्थात् जो सम्यग्दर्शन के विषय रूप शुद्धात्मा है, उस में द्रव्यदृष्टि से सभी विभावभाव अस्त हुआ है अर्थात् अत्यन्त गौण हो गया है, इसलिये वह दुष्ट आठ कर्मों से रहित कहा है।) जिसे किसी की उपमा नहीं दी जा सकती, ऐसा अनुपम है, जिस का ज्ञान ही शरीर है (अर्थात् जो सामान्यज्ञानमात्रभाव है वही, परमपारिणामिकभाव रूप शुद्धात्मा है वही), जिस का नाश नहीं होता ऐसा अविनाशी - नित्य है और शुद्ध अर्थात् विकार रहित है, वह केवल ज्ञानमयी आत्मा (अर्थात् सर्व गुणों के सहज परिणमन रूप परमपारिणामिकभाव कि जिसे शुद्धात्मा भी कहा जाता है, उस के सर्व गुण शुद्ध ही परिणमते हैं, इस अपेक्षा से केवल ज्ञानमयी कहा है और दूसरे ऊपर बताये अनुसार जिस का ज्ञान ही शरीर है अर्थात् वह ज्ञानमात्रभाव होने से उसे केवल ज्ञानमयी कहा है) जिन भगवान सर्वज्ञ ने कहा है, वही स्वद्रव्य (अर्थात् वही मेरा स्व है और उस में ही मेरा मैंपन/एकत्व करने योग्य है, इस अपेक्षा से उसे स्वद्रव्य कहा) है।' यह परमपारिणामिकभाव रूपी शुद्धात्मा ही उपादेय है और उस में ही 'मैंपन' करने से स्वात्मानुभूति रूप सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, ऐसा इस गाथा में बताया है। दूसरे, कई लोग यहाँ बताये गये स्वभाव के लक्षण जैसे कि ज्ञानावर्णादिक आठ कर्मों से रहित या केवल ज्ञानमयी को शब्दश: पकड़कर और नयों से अपरिचित होने के कारण या फिर नयों के पक्षवाले होने के कारण इसे समझ नहीं पाते।

गाथा २० : अर्थ :- 'योगी-ध्यानी-मुनि जिनवर भगवान के मत से शुद्धात्मा को ध्यान में ध्याते हैं (अर्थात् एकमात्र शुद्धात्मा का ही ध्यान करने योग्य है, वही उत्तम है और उस के ध्यान से ही व्यक्ति योगी कहलाते हैं), इसलिये वे निर्वाण को प्राप्त करते हैं, तो उस से क्या स्वर्गलोक प्राप्त नहीं हो सकता? अवश्य ही प्राप्त हो सकता है।'

अर्थात् अनेक लोग स्वर्ग की प्राप्ति के लिये नाना प्रकार के उपाय करते देखने में आते हैं तो उस उपाय से तो कदाचित् क्षणिक स्वर्ग प्राप्त हो भी अथवा न भी हो, परन्तु परम्परा में तो उसे अनन्त संसार ही मिलता है; जब कि शुद्धात्मा का अनुभव और ध्यान से मुक्ति मिलती है और मुक्ति न मिले तब तक स्वर्ग और स्वर्ग जैसा ही सुख होता है। इसलिये सभी को उसी का ध्यान करने योग्य है जो कि मुक्ति का मार्ग है और उस मार्ग में स्वर्ग तो सहज ही होता है, उस की याचना नहीं की जाती ऐसा बताया है।

गाथा ६६ : अर्थ :- 'जब तक मनुष्य इन्द्रियों के विषयों में अपने मन को जोड़े रखता है (अर्थात् मन में इन्द्रियों के विषयों के प्रति आदरभाव वर्तता है), तब तक आत्मा को नहीं जानता (क्योंकि उस का लक्ष्य विषय है, आत्मा नहीं। इसलिये ही पूर्व में हम ने कहा था कि 'मुझे क्या रुचता है?' यह मुमुक्षु जीव को देखते रहना चाहिये और उस से अपनी योग्यता की जाँच करते रहना चाहिये। यदि योग्यता न हो तो उस का पुरुषार्थ करना आवश्यक है) इसलिये विषयों से विरक्त चित्तवाले योगी-ध्यानी-मुनि ही आत्मा को जानते हैं।' इस गाथा में आत्मप्राप्ति के लिये योग्यता बतायी है।

'शीलपाहुड' गाथा ४ : अर्थ :- 'जब तक यह जीव विषय बल अर्थात् विषयों के वश रहता है, तब तक ज्ञान को नहीं जानता और ज्ञान को जाने बिना केवल विषयों से विरक्त होने मात्र से ही पहले बाँधे हुए कर्मों का नाश नहीं होता।'

अर्थात् विषयविरक्ति वह कोई ध्येय नहीं है। वह तो सम्यग्दर्शन के लिये आवश्यक योग्यता है। विषयविरक्ति भी एकमात्र आत्मलक्ष्य से ही होनी चाहिये ताकि उस से आगे चलकर आत्मज्ञान होते ही, अपूर्व निर्जरा हो सके। आत्मज्ञान के लक्ष्य रहित जीव की मात्र विषयविरक्ति कर्म नष्ट करने में कार्यकारी नहीं है, ऐसा बताया है। मुमुक्षु जीवों को एकमात्र आत्मलक्ष्य से विषयविरक्ति करना अत्यन्त आवश्यक है।

* * *

३५

सम्यग्दर्शन और मोक्षमार्ग

यहाँ तक जो भाव हमने दृढ़ किये वे यह हैं कि सम्यग्दर्शन और बाद में मोक्षमार्ग तथा मुक्ति के लिये प्रत्येक को लक्ष्य में लेने योग्य कोई वस्तु है तो वह सम्यग्दर्शन का विषय (दृष्टि का विषय) है। वही परमपारिणामिकभाव रूप अर्थात् आत्मा के सहज परिणमन रूप शुद्धात्मा है जो कि मुक्ति का कारण होने से कारण समयसार अथवा कारण शुद्ध पर्याय के रूप में भी बतायी है, उस के बहुत नाम प्रयोग में आते हैं, परन्तु उन में से शब्द नहीं पकड़कर, एकमात्र शुद्धात्म रूप भाव जैसा कहा है वैसा लक्ष्य में लेना आवश्यक है, क्योंकि उस के बिना मोक्षमार्ग में प्रवेश ही नहीं है। इस कारण भेदज्ञान कराने को, आध्यात्मिक शास्त्र उसे 'स्वतत्त्व' या 'स्वभाव' रूपी आत्मा मानते हैं और बाक़ी के जो आत्मा के समस्त भाव हैं, उन का आत्मा में 'निषेध' करते हैं। उसे ही 'नेति-नेति' रूप कहा जाता है अर्थात् निश्चय नय रूप - निषेध रूप से भी कहा जाता है। इसलिये ही समयसार अथवा नियमसार जैसे आध्यात्मिक शास्त्रों का प्राण - हार्द मात्र यह शुद्धात्मा ही है क्योंकि वे शास्त्र, भेदज्ञान के शास्त्र हैं जिन से मुमुक्षु जीव अपने विभावभाव से भेदज्ञान करके 'शुद्धात्मा' का अनुभव करे और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करके मोक्षमार्ग में आगे बढ़कर परम्परा से मुक्त हो। यही इन शास्त्रों का एकमात्र उद्देश्य है। इसलिये इन शास्त्रों को इसी उद्देश्य से अर्थात् इसी अपेक्षा से समझना अत्यन्त आवश्यक है, न कि एकान्त से। प्राय: एक बड़ा वर्ग इस उद्देश्य को नहीं समझ पाने से ऐसे उत्तम शास्त्रों से दूर ही रहता है और दूसरा वर्ग इसे एकान्त रूप से ग्रहण करके स्वच्छन्दता रूप परिणमता है। ऐसे शास्त्रों को सम्यक् रूप से समझकर प्ररूपणा करनेवाले बहुत ही कम लोग हैं।

इन शास्त्रों को पढ़कर लोग ऐसा कहने लगते हैं कि मुझ में तो राग है ही नहीं, मैं राग करता ही नहीं, इत्यादि और वे उस के उद्देश्य रूप भेदज्ञान न करके, उस का ही आधार लेकर स्वच्छन्दता से राग-द्वेष रूप ही परिणमते हैं और वह भी किंचित् भी अफ़सोस बिना। इस से बड़ा करुणा योग्य क्या होगा? अर्थात् इस से बड़ा पतन क्या होगा? यह महापतन ही है। क्योंकि जो शास्त्र भेदज्ञान करके मुक्त होने के लिये है, उसे लोग एकान्त से शब्दश: समझकर - जानकर स्वच्छन्दता से परिणमकर, अपने अनन्त संसार का कारण बनते हैं। और मानते हैं कि हम तो सब कुछ समझ गये, हम औरों से ऊँचे/बड़े हैं क्योंकि उन को तो इस बात की ख़बर ही नहीं है कि आत्मा राग नहीं करता, आत्मा में राग है ही नहीं इत्यादि। यह है स्वच्छन्दता से शब्दों को पकड़कर एकान्त रूप परिणमन जो कि समयसार अथवा नियमसार जैसे शास्त्रों का प्रयोजन है ही नहीं। अपितु राग आत्मा में जाने की सीढ़ी

है, क्योंकि जो राग है वह आत्मा का विशेषभाव है, कि जिसे गौण करते ही शुद्धात्मा ज्ञात होती है अर्थात् सभी विशेषभाव साधन रूप हैं और उन्हें गौण करते ही, वे जिस के बने हुए हैं वह परमपारिणामिकभाव साध्य रूप है। यही विधि है सम्यग्दर्शन की। क्योंकि स्थूल से ही सूक्ष्म में जाया जाता है। प्रगट से ही अप्रगट में जाया जाता है अर्थात् व्यक्त से ही अव्यक्त में जाया जाता है, यही नियम है। **आध्यात्मिक शास्त्र भेदज्ञान कराने के लिये विभावभाव को जीव का नहीं है ऐसा कहते हैं क्योंकि उन में 'मैंपन' नहीं करना है। सम्यग्दर्शन के लिये मात्र 'शुद्धात्मा' में ही 'मैंपन' है इसलिये इन शास्त्रों में जीव के अन्य भावों को पुद्गल के भाव अर्थात् परभाव कहा है; न कि लोगों को स्वच्छन्दता से परिणमने के लिये।**

आत्मा में राग होता ही नहीं, ऐसा शास्त्र का अभिप्राय नहीं है परन्तु उस राग रूप विभावभाव से भेदज्ञान कराने के लिये उसे पुद्गल का बताया है। जैन सिद्धान्त का विवेक तो यह है कि 'मैंपन' मात्र शुद्धात्मा में और ज्ञान प्रमाण का अर्थात् अशुद्ध रूप से परिणमित पूर्ण आत्मा का और ऐसा विवेक करके, वह मुमुक्षु वैसे राग रूप उदयभाव से हमेशा के लिये मुक्त होने का प्रयत्न (पुरुषार्थ) करता है, न कि वे मेरे नहीं, मैं कर्ता नहीं इत्यादि कह कर उन्हें पोषण करने को स्वच्छन्द आचरता है। ऐसी है विपरीत समझ की मुश्किल।

ऐसा विपरीतभाव ज्ञानी अथवा मुमुक्षु जीव को एक समय भी सहन करने जैसा नहीं लगता। इस कारण ऐसे जीवों के प्रति करुणा आती है। वह भाव तो आत्मा को (अर्थात् मुझे) बन्धन रूप है, दुःख रूप है। इसलिये ऐसे भाव का पोषण तो कोई (ज्ञानी अथवा मुमुक्षु कोई) भी नहीं करता। जो स्वच्छन्दता से ऐसे भावों का पोषण करते हैं, वे अपना परम अहित ही कर रहे हैं और वे शास्त्रों का मर्म समझे ही नहीं हैं ऐसा अत्यन्त दुःख और करुणा के साथ कहना पड़ेगा।

हमने इस पुस्तक में यहाँ तक जो शुद्धात्मा का वर्णन किया है, वही भाव हम बारम्बार अनुभवते हैं और उसे ही शब्दों में वर्णित करने का हमने प्रयत्न किया है, जो कि पूर्ण रूप से शक्य ही नहीं क्योंकि उस अनुभव को शब्दों में भगवान भी नहीं कह सकते। इसलिये हम आप से निवेदन करते हैं कि आप यहाँ तक की हुई स्पष्टता के आधार पर और आगे समयसार के आधार पर हम जो विशेष स्पष्टता करनेवाले हैं, उन दोनों का मर्म समझकर आप भी 'स्व-तत्त्व' का अनुभव करके परमसुख-शान्ति-परमानन्द रूप मुक्ति को प्राप्त करें। बस इसी एकमात्र प्रयोजन से यह सब लिखा गया है।

* * *

३६

समयसार के अनुसार सम्यग्दर्शन का विषय

आचार्य अमृतचन्द्र कृत समयसार टीका गाथा २ : गाथार्थ :- 'हे भव्य! जो जीव दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित है, उसे निश्चय से स्व-समय जान (अर्थात् जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र और अनन्त गुणों के सहज परिणमन रूप परमपारिणामिकभाव में ही 'मैंपन' स्थापित करके उस में ही स्थित हुआ है उसे स्व-समय अर्थात् सम्यग्दृष्टि जान); और जो जीव पुद्‌गल कर्मों के प्रदेशों में स्थित है उसे पर-समय (अर्थात् जो विभावभावसहित के जीव में 'मैंपन' करते हैं उन्हें मिथ्यात्वी जीव) जान।'

यहाँ सम्यग्दर्शन का विषय (दृष्टि का विषय) बताया है। उसे हम दर्पण के दृष्टान्त से समझेंगे। जैसे दर्पण के स्वच्छत्व रूप परिणमन में जो 'मैंपन' करता है वह स्व-समय, अर्थात् प्रतिबिम्ब को गौण करके मात्र दर्पण को जानना - जैसे कि आत्मा के सहज परिणमन रूप परमपारिणामिकभाव = ज्ञानसामान्यभाव = निष्क्रियभाव में प्रतिबिम्ब रूप से बाक़ी के चार भाव रहे हुए हैं तो उन चार भावों को गौण करके मात्र स्वच्छत्व रूप परमपारिणामिकभाव = स्व-समय में ही 'मैंपन' करना।

ऐसा किस प्रकार किया जा सकता है? तो उस की विधि आचार्य भगवन्त ने गाथा ११ में बतायी है कि फिटकरी जैसी बुद्धि से ऐसा हो सकता है। गाथा २९४ में प्रज्ञाछैनी द्वारा यही प्रक्रिया करने को बताया है। यहाँ समझना यह है कि पर्यायरहित द्रव्य अर्थात् आत्मा के चार भावों को गौण करके = रहित करके पंचमभाव रूप द्रव्य की प्राप्ति जो कि फिटकरी जैसी बुद्धि से अथवा प्रज्ञा रूपी छैनी से ही हो सकती है, अन्यथा नहीं। आचार्य भगवन्त ने किसी भौतिक छैनी से या कपड़े का उदाहरण देकर कैंची से जीव में भेदज्ञान करने को नहीं कहा है क्योंकि जीव एक अभेद-अखण्ड-ज्ञानघन रूप द्रव्य है। इसलिये वह पर्यायरहित द्रव्य प्राप्त करने के लिये प्रज्ञाछैनी रूप बुद्धि से चार भाव को गौण करके शेष रहे हुए एक भाव जो कि परमपारिणामिकभाव रूप है जो कि सदा वैसा का वैसा ही उपजता है, उस में 'मैंपन' करने को कहा है, उसे ही 'स्व-समय' कहा है कि जिस में 'मैंपन' करने से ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और साथ में सम्यक्‌ज्ञान रूप से उसी 'स्व-समय' का अनुभव होता है, जिसे आचार्य भगवन्तों ने आत्मा की अनुभूति बताया है।

गाथा २ : टीका : आचार्य भगवन्त टीका में बताते हैं कि :- '....यह जीव पदार्थ कैसा है? सदा ही परिणाम स्वरूप स्वभाव में रहा हुआ होने से (परमपारिणामिकभाव रूप होने से) उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की एकता रूप अनुभूति (अर्थात् अनुभूति अभेद द्रव्य की ही होती है। अनुभूति रूप भगवान आत्मा = जीवराजा = द्रव्य-पर्याय की एकता रूप होता है। क्योंकि पर्याय न हो तो वह द्रव्य ही न हो अर्थात् कि भौतिक छैनी से पर्याय को न निकालकर, प्रज्ञाछैनी से परभाव रूप चार भावों को निकालकर अर्थात् गौण करके जो परमपारिणामिकभाव रूप = सहज भवन रूप आत्मा शेष रहे, उस में 'मैंपन' करते ही अनुभूति प्रगट होती है, वह अनुभूति) जिस का लक्षण है, ऐसी सत्ता से सहित है... और कैसा है? अपने और परद्रव्यों के आकारों को प्रकाशित करने का सामर्थ्य होने से (अर्थात् स्व-पर प्रकाशकपना स्वभाविक है, उस में भी यदि पर को निकाल देंगे तो स्व ही नहीं रहेगा, क्योंकि जहाँ पर का प्रकाशन होता है वहाँ स्व तो ज्ञान ही है = आत्मा ही है। वहाँ भी प्रकाशन गौण करना है, निषेध नहीं; पर प्रकाशन गौण करते ही ज्ञान = आत्मभाव = ज्ञायकभाव प्राप्त होता है) जिस ने समस्त रूप को प्रकाशित करनेवाला एकरूपपन प्राप्त किया है (अर्थात् जो समस्त रूप को प्रकाशित करता है, कि जिसे गौण करते ही जो भाव = ज्ञान शेष रहता है, वही ज्ञान रूप एकपना प्राप्त किया है अर्थात् ज्ञानघनपना प्राप्त किया है))। इस विशेषण से, ज्ञान अपने को ही जानता है पर को नहीं जानता ऐसे एकाकार ही माननेवाले का तथा अपने को नहीं जानता परन्तु पर को जानता है ऐसा अनेकाकार ही माननेवाले का व्यवच्छेद हुआ। (यहाँ समझना यह है कि कोई भी एकान्त मान्यता जिनमत बाह्य है और ऐसा जो कथन है कि अन्त में तो अनेकान्त भी सम्यक् एकान्त प्राप्त करने के लिये ही है - उस का हार्द इतना ही है कि जो पाँच भाव रूप जीव का वर्णन है जो कि अनेकान्त रूप है, वह परमपारिणामिकभाव रूप सम्यक् एकान्त प्राप्त करने के लिये है। न कि 'आत्मा वास्तव में पर को जानता ही नहीं' अथवा 'किसी भी अपेक्षा से उस आत्मा में राग-द्वेष हैं ही नहीं' - इत्यादि एकान्त प्ररूपणाओं रूप, जो कि जिनमत बाह्य ही गिनी जाती है) ....जब यह (जीव), सब पदार्थों के स्वभाव को प्रकाशित करने में समर्थ केवलज्ञान को उत्पन्न करनेवाली भेदज्ञान ज्योति का उदय होने से, सभी परद्रव्यों से छूटकर दर्शन-ज्ञान स्वभाव में (यहाँ सभी गुण समझना) नियत वृत्ति रूप (पर्याय रूप = परमपारिणामिकभाव रूप = कारण शुद्ध पर्याय रूप) आत्म तत्त्व के साथ एकत्वगत रूप से वर्तता है (मात्र उस में ही 'मैंपन' करता है) तब दर्शन-ज्ञान-चारित्र में (यहाँ सभी गुण समझना) स्थित होने से युगपद स्व को एकत्वपूर्वक जानता तथा स्व-रूप से एकत्वपूर्वक परिणमता (अर्थात् मात्र सहज आत्म परिणति रूप = परमपारिणामिकभाव रूप = कारण शुद्ध पर्याय रूप आत्मा

में ही 'मैंपन' करता हुआ) ऐसा वह 'स्व-समय' (सम्यग्दृष्टि है) ऐसी प्रतीति की जाती है... मोह उस के उदय अनुसार प्रवृत्ति के आधीनपने से, दर्शन-ज्ञान स्वभाव में नियत वृत्ति रूपी आत्म तत्त्व से (दृष्टि का विषय = कारण शुद्ध पर्याय = परमपारिणामिकभाव से) छूटकर पर द्रव्य के निमित्त से उत्पन्न मोह-राग-द्वेषादि भावों के साथ एकत्वगत रूप से (एकपना मानकर) (पाँच भाव रूप जीव में 'मैंपन' करके) वर्तता है तब... वह पर-समय है (अर्थात् मिथ्यात्वी ही है)।'

गाथा ३ : गाथार्थ :- 'एकत्व निश्चय को प्राप्त जो समय है (अर्थात् जिस ने मात्र शुद्धात्मा में ही 'मैंपन' करके सम्यग्दर्शन प्राप्त किया है, वैसा आत्मा) इस लोक में सर्वत्र सुन्दर है (अर्थात् वैसा जीव भले नरक में हो या स्वर्ग में, दुःख में हो या सुख में, वह सुन्दर अर्थात् स्व में स्थित है) इसलिये एकत्व में दूसरे के साथ बन्ध की कथा (अर्थात् बन्ध रूप विभावभावों में 'मैंपन' करते ही मिथ्यात्व का उदय होने से) विसंवाद-विरोध करनेवाली (अर्थात् संसार में अनन्त दुःख रूप फल देनेवाली) है।' और दूसरे, जो आत्मद्रव्य अन्य कर्म-नोकर्म रूपी पुद्‌गल द्रव्य के साथ बन्ध कर रहा है उस में विसंवाद है अर्थात् दुःख है, जब वही आत्मद्रव्य उस पुद्‌गल द्रव्य के साथ के बन्धन से मुक्त होता है, तब वह सुन्दर है अर्थात् आव्याबाध सुखी है।

गाथा ४ : गाथार्थ :- 'सभी लोगों को काम-भोग सम्बन्धी बन्ध की कथा तो सुनने में आ गयी है (अर्थात् संसारी जन उस में तो बहुत ही होशियार होते ही हैं), परिचय में आ गयी है और अनुभव में भी आ गयी है (अर्थात् दूसरों को वैसा करते देखा है और स्वयं भी उस रूप परिणमकर अनुभव किया है) इसलिये सुलभ है (अर्थात् वह उसे बराबर समझते हैं और उसे ही एकमात्र जीव के लक्ष्य रूप मानकर, उस के पीछे दौड़ते हैं); परन्तु भिन्न आत्मा का (अर्थात् भेदज्ञान से प्राप्त शुद्धात्मा का) एकपन होना कभी नहीं सुना (अर्थात् उस में ही 'मैंपन'= एकत्व प्राप्त करने योग्य है, ऐसा कभी सुना ही नहीं), परिचय में आया नहीं (अर्थात् बात में अथवा पढ़ने में अथवा उपदेश में नहीं आया), और अनुभव में भी नहीं आया (इसलिये उसे अनुभव भी नहीं किया अर्थात् स्वात्मानुभूति भी नहीं हुई) इसलिये एक वह सुलभ नहीं है।'

पाँच इन्द्रियों के जो विषय हैं, उन में से शब्द और रूप को काम कहा जाता है तथा गन्ध, रस और स्पर्श को भोग कहा जाता है। पाँचों मिलकर काम-भोग कहलाते हैं, जिस के विषय में बहुभाग लोगों को रस होने से (कि जिस में रस रखने योग्य नहीं है) उन की कथा सुलभ है परन्तु इस काल में शुद्धात्मा की बात अति दुर्लभ है जो कि हम यहाँ (समयसार में) बतानेवाले हैं, ऐसा भाव है आचार्य भगवन्त का इस गाथा में। वर्तमान के जैन सम्प्रदायों में प्रायः क्रिया

को ही अहमियत दी जाती है और आत्मज्ञान की बातें बहुत ही कम सुनाई देती हैं क्योंकि क्रियाधर्म हठयोग के रूप में हमने कई बार किया है परन्तु आत्मज्ञान न होने से हम अभी तक संसार में भटक रहे हैं। इसलिये अज्ञानी को लगता है कि क्रिया करने से ही अपना मोक्ष हो जायेगा। ऐसी मिथ्या मान्यता सँजोये अज्ञानी उत्साहपूर्वक क्रियाधर्म तो करता है परन्तु आत्मज्ञान का विचार भी नहीं करता।

गाथा ५ : गाथार्थ :- 'वह एकत्व-विभक्त (अर्थात् अभेद रूप और भेद रूप) आत्मा को मैं आत्मा के निज वैभव से दिखाता हूँ; (अर्थात् बताता हूँ), यदि मैं दिखाऊँ तो प्रमाण (स्वीकार) करना और यदि कहीं चूक जाऊँ तो छल (अर्थात् उल्टा-विपरीत-नुक़सानकारक) ग्रहण नहीं करना।' अर्थात् इस शास्त्र से स्वच्छन्द ग्रहण करके तुम ठगे जाओ, ऐसा मत करना, क्योंकि स्वच्छन्द तो अनन्त संसार का कारण है, ऐसा आचार्य भगवन्त ने इस गाथा में बताया है। वर्तमान में प्राय: इस शास्त्र में से लोगों ने एकान्त ही लिया है ऐसा दिख रहा है। आचार्य भगवन्त ने इसीलिये सभी को चेतावनी दी है कि हम यहाँ जिस बात को, जिस कारण से प्रस्तुत कर रहे हैं; उस बात को, उसी अर्थ में और उसी परिप्रेक्ष्य में ग्रहण करना अन्यथा यह शास्त्र आप के लिये अनन्त संसार का कारण भी बन सकता है।

गाथा ६ : गाथार्थ :- 'जो ज्ञायकभाव है (अर्थात् जो ज्ञानसामान्य रूप, सहज परिणमन रूप, परमपारिणामिकभाव रूप शुद्धात्मा है) वह अप्रमत्त भी नहीं और प्रमत्त भी नहीं (अर्थात् उस में सभी विशेषभावों का अभाव है क्योंकि वह सामान्यज्ञानमात्रभाव अर्थात् गुणों के सहज परिणमन रूप सामान्यभाव ही है कि जिस में विशेष का अभाव ही होता है)-इस प्रकार उसे शुद्ध कहते हैं (अर्थात् वर्तमान में शुद्ध न होने पर भी उस का जो सामान्यभाव है वह त्रिकाली शुद्ध होने के कारण उसे शुद्ध कहने में आता है), और जो ज्ञायक रूप से ज्ञात हुआ (अर्थात् जो जाननेवाला है) वह तो वही है (अर्थात् जो जानने की क्रिया है, उस में से प्रतिबिम्ब रूप ज्ञेय अर्थात् ज्ञानाकार को गौण करते ही वह ज्ञायक अर्थात् परमपारिणामिकभाव रूप शुद्धात्मा ज्ञात होता है, अनुभव में आता है; यही सम्यग्दर्शन की विधि है अर्थात् जो जाननेवाला है, वही ज्ञायक है), दूसरा कोई नहीं।'

अर्थात् ज्ञायक दूसरा और जानने की क्रिया दूसरी, ऐसा नहीं है अर्थात् ज्ञायक ही जानने रूप परिणमित हुआ है। इसलिये ही जानने की क्रिया में से ज्ञानाकार रूप प्रतिबिम्ब गौण करते ही, ज्ञायक उपस्थित ही है अर्थात् आत्मा में से अप्रमत्त और प्रमत्त इन दोनों विशेषभावों को

गौण करते ही ज्ञायकभाव प्राप्त होता है। पूर्व में हमने यह बात सिद्ध की ही है कि पर्याय ज्ञायकभाव की ही बनी हुई है, इसलिये उस में से विशेषभाव को गौण करते ही ज्ञायक अर्थात् सामान्यभाव प्रगट होता है, प्राप्त होता है; यही विधि है सम्यग्दर्शन की। आत्मा जो चार भाव रूप परिणमता है, वह विशेषभाव है। उदय, क्षायोपशमिक, उपशम और क्षायिक इन चार भाव रूप से आत्मा परिणमता है। ये चार भाव विशेषभाव हैं और ये जिस भाव के बने हुए हैं, उसे परमपारिणामिकभाव या स्वभाव या आत्मा का सहज परिणमन कहते हैं। उस में 'मैंपन' करने से और उस का अनुभव करने से ही सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है।

गाथा ६ : टीका :- 'जो स्वयं अपने से ही सिद्ध होने से (अर्थात् किसी से उत्पन्न हुआ नहीं होने से) अनादि सत्ता रूप है और कभी विनाश को प्राप्त नहीं होने से अनन्त है, नित्य उद्योत रूप होने से (अर्थात् सहज आत्म परिणमन रूप = परमपारिणामिकभाव रूप = कारण शुद्ध पर्याय रूप होने से) क्षणिक नहीं है और स्पष्ट प्रकाशमान ज्योति है, ऐसा जो ज्ञायक एक 'भाव' है (अर्थात् परमपारिणामिकभाव है), वह संसार की अवस्था में अनादि बन्ध पर्याय की निरूपणा से (अपेक्षा से) क्षीर-नीर की भाँति कर्म पुद्‌गलों के साथ एक रूप होने पर भी (अर्थात् परमपारिणामिकभाव रूप जीव के सहज परिणमन में ही बाकी के चार भाव होते हैं जो कि हमने पूर्व में बताये ही हैं और समयसार गाथा १६४-१६५ में भी बताया ही है कि 'संज्ञ आस्रव जो कि जीव में ही होते हैं, वे जीव के ही अनन्य परिणाम हैं'= जीव ही उस रूप में परिणमित होता है। जीव में एक शुद्ध भाग और दूसरा अशुद्ध भाग ऐसा नहीं समझकर, समझना यह है कि जीव उदय-क्षयोपशमभाव रूप परिणमित हुआ है अर्थात् जीव में छिपे हुए स्वच्छत्व रूप जो जीव का परिणमन है जो कि परमपारिणामिकभाव कहलाता है, वह भाव ही अन्य चार भाव का सामान्यभाव है अर्थात् जीव में अन्य चार भावों को गौण करके परमपारिणामिकभाव में 'मैंपन' करते ही एक ज्ञायकभाव अनुभव में आता है, यही अनुभव की विधि है। जैसे कि राग-द्वेष रूप परिणमित जीव रागी-द्वेषी ज्ञात होने पर भी, वर्तमान में उस रूप होने पर भी, उन राग-द्वेष को गौण करते ही परमपारिणामिकभाव ज्ञात होता है, वह उस का 'स्व' भाव है कि जिस में 'मैंपन' करते ही वह जीव 'स्व-समय'= सम्यग्दृष्टि होता है) द्रव्य के स्वभाव की अपेक्षा से (ऊपर बताया हुआ द्रव्य का 'स्व' भाव = परमपारिणामिकभाव = कारण शुद्ध पर्याय से) देखा जाये तो दुरन्त कषाय चक्र के उदय की (अर्थात् कषाय के समूह के अपार उदयों की) विचित्रता के वश प्रवर्तमान जो पुण्य-पाप को उत्पन्न करनेवाले समस्त अनेक रूप शुभ-अशुभ भाव, उन के स्वभाव रूप

नहीं परिणमता (अर्थात् द्रव्य का स्वभाव, वह परमपारिणामिकभाव है जो कि प्रमत्त भी नहीं और अप्रमत्त भी नहीं; वह मात्र एक ज्ञायकभाव है) इसलिये प्रमत्त भी नहीं और अप्रमत्त भी नहीं। वही समस्त अन्य द्रव्यों के भावों से (अर्थात् जीव के चार भाव कि जिस में अन्य द्रव्य का नैमित्तिकपना है) भिन्न रूप से (अर्थात् जीव के चार भावों को गौण करने पर पंचमभाव रूप = परमपारिणामिकभाव रूप) उपासित किये जाने पर शुद्ध कहलाता है। (यहाँ यह समझना आवश्यक है कि राग किसी भी अपेक्षा से जीव में नहीं है ऐसी एकान्त प्ररूपणा जिनमतबाह्य है। इसलिये वैसी प्ररूपणा करनेवाले और उस में अटके हुए भोले जीव = वैसा माननेवाले भोले जीव भ्रम में रह कर अति उत्तम ऐसा मानव जन्म और वीतराग धर्म को बेकार गँवाते हैं और इस से वे वीतरागी बनने का एक अमूल्य अवसर भी गँवाते हैं)।

दाह्य के (जलने योग्य पदार्थ के) आकार रूप होने से अग्नि को दहन कहा जाता है (अर्थात् ज्ञान को ज्ञेयाकार रूप परिणमने से स्व-पर को जाननेवाला कहा जाता है) तथापि दाह्यकृत अशुद्धता उस में नहीं है। इसी प्रकार ज्ञेयाकार होने से उस 'भाव' (ज्ञानाकार) को ज्ञायकता प्रसिद्ध है (अर्थात् ज्ञान का स्व-पर को जानना प्रसिद्ध है) तथापि ज्ञेयकृत अशुद्धता उस में नहीं है। (क्योंकि वह ज्ञेय को ज्ञेय रूप से = तद् रूप से परिणम कर नहीं जानता अर्थात् ज्ञेय को ज्ञान के साथ व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध नहीं है; उसे अपने आकार = ज्ञानाकार के साथ व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है कि जिस से अशुद्धता उस में प्रवेश नहीं करती); क्योंकि ज्ञेयाकार अवस्था में (अर्थात् स्व-पर को जानने के काल में) जो ज्ञायक रूप से (जाननेवाले रूप से) ज्ञात हुआ वह स्वरूप-प्रकाशन की (स्वरूप जानने की = अर्थात् उन ज्ञेयों को ज्ञानाकार रूप से देखने पर और उन्हें ही ज्ञान रूप से देखने पर अर्थात् ज्ञेयों को गौण करते ही परमपारिणामिकभाव अनुभव में आता है। दर्पण के उदाहरण अनुसार प्रतिबिम्ब को गौण करते ही दर्पण का स्वच्छत्व ज्ञात होता है, ऐसी) अवस्था में भी, दीपक की भाँति, कर्ता-कर्म का अनन्यपन होने से (अर्थात् कि जो स्वच्छत्व रूप परिणमन = परमपारिणामिकरूप = ज्ञानसामान्य = निष्क्रियभाव है कि जो स्व-पर को जाननेवाले विशेषभाव का ही सामान्य भाव है, इसलिये यदि पर को जानने का निषेध किया जाये तो वह स्वच्छत्व का = भगवान आत्मा के निषेध रूप परिणमेगा और समझे बिना निषेध करनेवाले भ्रम को = भ्रमित दशा को पायेंगे और यह अमूल्य मनुष्य जन्म तथा वीतराग का शासन मिला, उसे व्यर्थ गँवायेंगे अर्थात् जो जाननेवाला है वह) ज्ञायक ही है-स्वयं जाननेवाला इसलिये स्वयं कर्ता और स्वयं को जाना इसलिये स्वयं ही कर्म....' यहाँ स्व-पर को जानना वह भगवान आत्मा में जाने

की सीढ़ी रूप से दर्शाया गया है क्योंकि स्थूल से ही सूक्ष्म में जाया जाता है। प्रगट से ही अप्रगट में जाया जाता है। व्यक्त से ही अव्यक्त में जाया जाता है, यही नियम है। क्योंकि ज्ञायक ही स्वयं जाननेवाला है। जानना और ज्ञायक (जाननेवाला) को अनन्यपना बताकर जानना (प्रतिबिम्ब) गौण करते ही ज्ञायक (जाननेवाला) ज्ञात होता है, इसलिये सीढ़ी रूप है।

भावार्थ में पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा बताते हैं कि ''.... 'ज्ञायक' ऐसा नाम भी उसे (अर्थात् शुद्धात्मा को = दृष्टि के विषय को = परमपारिणामिकभाव रूपी आत्मा को) ज्ञेय को जानने से दिया जाता है क्योंकि ज्ञेय का प्रतिबिम्ब जब झलकता है, तब ज्ञान में वैसा ही अनुभव में आता है, तथापि ज्ञेय कृत अशुद्धता उस में नहीं है क्योंकि जैसा ज्ञेय ज्ञान में प्रतिभासित हुआ, वैसा ज्ञायक का ही अनुभव करने पर (ज्ञेय को गौण करते ही वहाँ) ज्ञायक ही है। 'यह मैं जाननेवाला हूँ, वह मैं ही हूँ, अन्य कोई नहीं।' ऐसा हमें अपना अभेद रूप अनुभव हुआ, तब उस जानने रूप क्रिया का कर्ता स्वयं ही है और जिसे जाना, वह कर्म भी स्वयं ही है (यहाँ समझना यह है कि 'आत्मा वास्तव में पर को नहीं जानता' ऐसी बातें करके आत्मा में जाने का रास्ता = सीढ़ी बन्द करके क्या मिलेगा? मात्र भ्रम ही मिलेगा, क्योंकि पर को जानने का निषेध करने से जाननेवाले का ही निषेध होता है।) ऐसा एक ज्ञायकपना मात्र (जाननेवाला) स्वयं शुद्ध है- यह शुद्ध नय का विषय है।'' यहाँ समझना यह है कि पहले जो 'दृष्टि के विषय' के सम्बन्ध में बताया है, वैसे पर्याय से रहित द्रव्य अर्थात् प्रतिबिम्ब से रहित अर्थात् प्रतिबिम्ब को गौण करते ही वहाँ जाननेवाले के रूप में ज्ञायक उपस्थित है ही, वही दृष्टि का विषय है। वही परमपारिणामिकभाव है, वही कारण शुद्ध पर्याय है, वही कारण शुद्ध परमात्मा है। वही समयसार रूप जीवराजा है। यहाँ किसी भी भौतिक छैनी की आवश्यकता नहीं है क्योंकि आत्मा अभेद-अखण्ड है। उस में से कुछ भी निकले ऐसा नहीं है और यदि निकालने की कोशिश होगी तो आत्मा स्वयं ही निकल जायेगी अर्थात् आत्मा का ही लोप होगा और निकालनेवाला स्वयं आकाश के फूल की भाँति भ्रम में ही पड़ेगा। इसलिये यहाँ प्रज्ञा रूपी छैनी का उपयोग करके = फिटकरी रूपी बुद्धिपूर्वक उन प्रतिबिम्ब रूप अर्थात् उदय, क्षयोपशम रूपी भावों को गौण करते ही वहाँ साक्षात् शुद्धात्म रूप परमपारिणामिकभाव हाज़िर ही है। यही सम्यग्दर्शन की विधि है, जो कि आचार्य भगवान ने और पण्डित जी ने गाथा ६ में बतायी है।

पण्डितजी आगे बताते हैं कि :- ''....यहाँ ऐसा भी जानना कि जिनमत का कथन स्याद्वाद रूप है इसलिये अशुद्ध नय को सर्वथा असत्यार्थ नहीं मानना; (यहाँ समझना यह है कि पूर्व में

बताये अनुसार गाथा-१६४-१६५ में भावास्रवों को जीव से अनन्य कहा है और इसलिये 'जीव में किसी भी अपेक्षा से राग नहीं होता' जैसी प्ररूपणायें जिनमतबाह्य ही हैं) क्योंकि स्याद्वाद प्रमाण से शुद्धता और अशुद्धता दोनों वस्तु के धर्म हैं और वस्तु धर्म वस्तु का सत्त्व है (अर्थात् वह वस्तु ही है = आत्मा ही है) (यहाँ समझना यह है कि गाथा १६४-१६५ में बताये अनुसार राग-द्वेष रूप परिणाम होते तो आत्मा में ही हैं - आत्मा ही उस रूप परिणमता है और उस परिणमन की उपस्थिति में भी राग-द्वेष को गौण करते ही उन में छिपा हुआ परमपारिणामिकभाव रूप = समयसार रूप = कारण शुद्ध पर्याय रूप आत्मा हाज़िर ही है); अशुद्धता परद्रव्य के संयोग से होती है, यही अन्तर है... अशुद्ध नय को असत्यार्थ कहने से ऐसा नहीं समझना कि आकाश के फूल की भाँति वह वस्तु धर्म सर्वथा ही नहीं है। (अर्थात् जैसा है ठिक वैसा समझना, अर्थात् वह है, परन्तु उसे गौण करते ही ज्ञायक हाज़िर ही है, अन्यथा) ऐसा सर्वथा एकान्त समझने से मिथ्यात्व है (यहाँ पण्डितजी ने एकान्त प्ररूपणा करते हुए लोगों को सावधान किया है) इसलिये स्याद्वाद की शरण लेकर शुद्ध नय का अवलम्बन करना (अर्थात् जीव को पाँच भाव रूप जानकर चार भावों को गौण करते ही सम्यक् एकान्त रूप शुद्ध निश्चय नय का विषय ऐसा शुद्धात्मा = परमपारिणामिकभाव प्रगट होता है कि जिस का अवलम्बन करना) चाहिये....''

गाथा ७ : गाथार्थ :- ''ज्ञानी को चारित्र, दर्शन, ज्ञान - ये तीन भाव व्यवहार से कहने में आते हैं (अर्थात् ज्ञानी को एकमात्र अभेदभाव रूप 'शुद्धात्मा' में ही 'मैंपन' होने से, जो भी विशेषभाव हैं और जो भी भेद रूप भाव हैं, वे व्यवहार कहे जाते हैं); निश्चय से ज्ञान भी नहीं, चारित्र भी नहीं, दर्शन भी नहीं (अर्थात् निश्चय से कोई भेद शुद्धात्मा में नहीं, वह एक अभेद सामान्यभाव रूप होने से उस में भेद रूप भाव और विशेषभाव, ये दोनों भाव नहीं हैं)। ज्ञानी तो एक शुद्ध ज्ञायक ही है।'' अर्थात् शुद्ध निश्चय नय का विषय मात्र अभेद ऐसा शुद्धात्मा ही है। इसीलिये लोग जब हम से पूछते हैं कि आप ने कारण शुद्ध पर्याय को अभेद कैसे लिया अर्थात् जो परमपारिणामिकभाव है, उसी को कारण शुद्ध पर्याय क्यों कहा? दूसरा, यह भी पूछते हैं कि आपने सम्यग्दर्शन के विषय में प्रमाण का द्रव्य क्यों लिया है? और पर्याय का निषेध क्यों नहीं किया? तब उन को हम उत्तर देते हैं कि निश्चय से आत्मा अभेद-एक है, उस में जो भी भेद किये हैं, वे सिर्फ़ समझाने के लिये ही किये हैं न कि वास्तविक, इसलिये ज्ञानी को अनुभव के समय में कोई भेद नहीं; इस कारण से वे अभेद आत्मा के ही अलग-अलग नाम होने से परमपारिणामिकभाव को ही कारण शुद्ध पर्याय या कारण शुद्ध परमात्मा कहा है। दूसरा, निश्चय से आत्मा अभेद-एक होने से उस में जो भी भेद किये जाते हैं, वे सिर्फ़ समझाने के लिये ही

किये जाते हैं, न कि वास्तविक इसलिये जिन के ऐसे प्रश्न होते हैं कि सम्यग्दर्शन के विषय में प्रमाण का द्रव्य क्यों लिया है या सम्यग्दर्शन के विषय में पर्याय का निषेध क्यों नहीं किया है या जो लोग द्रव्य के ध्रुव को और पर्याय के ध्रुव को अलग मानते हों इत्यादि, उन को अपना द्रव्य-गुण-पर्याय का ज्ञान जाँचने की आवश्यकता है और द्रव्य की अभेदता समझने की आवश्यकता है क्योंकि ये दोनों व्यवस्थाएँ समझ लेने के बाद ये सब समस्याएँ नहीं रहेंगी। अन्यथा आप मिथ्या भ्रम में ही रहेंगे, यह बात इस गाथा में समझायी है। निषेध निश्चय नय का पक्ष है और अनुभव पक्षातीत होता है, इसलिये किसी भी नय के पक्षवाले को अनुभव नहीं होता, बल्कि वह एकान्त रूप ही परिणमता है।

गाथा ७ : टीका :- '...क्योंकि अनन्त धर्मोंवाले एक धर्मी में (अर्थात् भेद से समझकर अभेद रूप अनुभूति में) जो निष्णात नहीं है ऐसे निकटवर्ती शिष्यजन को, धर्मी को बतानेवाले कितने ही धर्मों द्वारा (अर्थात् भेदों द्वारा), उपदेश करते हुए आचार्य का-यद्यपि धर्म और धर्मी का स्वभाव से अभेद है तो भी नाम से भेद उत्पन्न करके (अभेद द्रव्य में द्रव्य-गुण-पर्याय ऐसे भेद उत्पन्न करके) व्यवहार मात्र से ही ऐसा उपदेश है कि ज्ञानी को दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है परन्तु परमार्थ से (अर्थात् वास्तव में) देखने में आवे तो अनन्त पर्यायों को एक द्रव्य पी गया होने से जो एक है... (अर्थात् जो द्रव्य तीनों काल में उन-उन पर्याय रूप परिणमता होने पर भी अपना द्रव्यपना नहीं छोड़ा है - जैसे कि मिट्टी घट पिण्ड रूप से परिणमने पर भी मिट्टीपन नहीं छोड़ती और प्रत्येक पर्याय में वह मिट्टीपन व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध से है इसलिये पर्याय अनन्त होने पर भी वह द्रव्य तो एक ही है)। ....एक शुद्ध ज्ञायक ही है।'

गाथा ८ : गाथार्थ :- 'जैसे अनार्य (म्लेच्छ) जन को अनार्य भाषा के बिना कुछ भी वस्तु का स्वरूप ग्रहण कराने में कोई समर्थ नहीं है, वैसे व्यवहार बिना परमार्थ का उपदेश करने में कोई समर्थ नहीं है।' अर्थात् मिथ्यात्वी को भेद रूप व्यवहार भाषा के बिना वस्तु का स्वरूप समझाने में कोई समर्थ नहीं है, इसलिये अभेद तत्त्व में अलग-अलग प्रकार से भेद रूप व्यवहार किया जाता है, जैसे कि द्रव्य-गुण-पर्याय, ज्ञान-दर्शन-चारित्र, उत्पाद-व्यय-ध्रुव, सैंतालीस शक्तियाँ इत्यादि, यह मात्र समझाने के लिए है; न कि अनुभव के लिये। अनुभव तो यथार्थ अभेद आत्मा का ही होता है। परमार्थिक आत्मा में कुछ भी भेद न समझना। जब तक भेद में होगा तब तक अभेद का अनुभव होगा ही नहीं क्योंकि भेद तो व्यवहार रूप उपचार मात्र अज्ञानी को स्वरूप ग्रहण कराने के लिये किये गये हैं, वास्तव में नहीं हैं।

गाथा ११ : गाथार्थ :- 'व्यवहार नय अभूतार्थ है (अर्थात् ऊपर बताये अनुसार भेद रूप व्यवहार अभूतार्थ है, क्योंकि जो भेद में ही रमता है, वह कभी भी सम्यग्दर्शन के विषय रूप अभेद द्रव्य का अनुभव कर ही नहीं सकता और दूसरा, निश्चय से द्रव्य अभेद होने से जो भेद उपजाकर कहने में आता है, वैसे व्यवहार रूप - उपचार रूप भेद आदरणीय नहीं है अर्थात् 'मैंपन' करने योग्य नहीं है, इसलिये अभूतार्थ है) और शुद्ध नय भूतार्थ है (अर्थात् शुद्ध नय का विषय अभेद रूप 'शुद्धात्मा' है जो कि सम्यग्दर्शन का विषय होने से आदरणीय है - भूतार्थ है) ऐसा ऋषीश्वरों ने दर्शाया है, जो जीव भूतार्थ का (अर्थात् शुद्धात्मा का) आश्रय करता है, वह जीव निश्चय से सम्यग्दृष्टि है।' अर्थात् कोई भी जीव अभेद रूप शुद्धात्मा में ही 'मैंपन' करके और उस का ही अनुभव करके सम्यग्दृष्टि हो सकता है, अन्यथा नहीं। कुछ लोगों ने व्यवहार से द्रव्य के इतने भेद किये कि उन को लगने लगा कि द्रव्य और पर्याय भिन्न-प्रदेशी हैं, द्रव्य अपरिणामी (कूटस्थ नित्य) और पर्याय परिणामी है, परमपारिणामिकभाव और कारण शुद्ध पर्याय अलग-अलग है, जीव को चतुर्थ गुणस्थानक में शुद्धात्मा का अनुभव नहीं होता, इत्यादि। यह सभी भ्रम निकालने के लिये अभेद शुद्ध नय सम्यक् रूप से समझने की आवश्यकता है क्योंकि वही भूतार्थ है। इसलिये जब अभेद शुद्ध नय सम्यक् रूप से समझ में आयेगा तभी ऐसे मिथ्या आग्रह या भ्रम दूर होंगे अन्यथा नहीं, यही बात इस गाथा से समझनी है।

गाथा ११ : टीका :- 'व्यवहार नय सभी अभूतार्थ होने से (भेद रूप व्यवहार जो कि मात्र आत्मा के स्वरूप का ग्रहण कराने को हस्ताम्लवत् जानकर प्ररूपित किया है वह) अविद्यमान, असत्य, अभूत अर्थ को प्रगट करता है (अर्थात् जैसा अभेद आत्मा है, वैसा उस से अर्थात् व्यवहार रूप भेद से वर्णन नहीं किया जा सकता)...... यही बात दृष्टान्त से बताते हैं - (दृष्टान्त में जीव को = आगमों में वर्णन किये अनुसार पाँच भाव सहित बताकर उस में से उपादेय ऐसा जीव जो कि चार भावों को गौण करते ही पंचमभाव रूप = परमपारिणामिकभाव रूप = दृष्टि के विषय रूप प्रगट होता है जो कि 'समयसार' जैसे आध्यात्मिक शास्त्र का प्राण है, उसे ग्रहण कराते हैं)। जैसे प्रबल कीचड़ के मिलने से (प्रबल उदय-क्षयोपशमभाव सहित) जिस का सहज एक निर्मलभाव (परमपारिणामिकभाव) आच्छादित हो गया है ऐसे जल का अनुभव करनेवाले (अज्ञानी) पुरुष - जल और कीचड़ का विवेक नहीं करनेवाले बहुत से तो, उसे (जल को = जीव को) मलिन ही अनुभव करते हैं (उदय, क्षयोपशम रूप ही अनुभव करते हैं), परन्तु कितने ही (ज्ञानी) अपने हाथ से डाली हुई फिटकरी (निर्मली औषधि = बुद्धि रूपी प्रज्ञाछैनी) के पड़ने मात्र से उत्पन्न जल-कीचड़ के विवेक से (अर्थात् कीचड़ जल में होने पर भी जल को स्वच्छ

अनुभव कर सकनेवाले = आत्मा वर्तमान में उदय, क्षयोपशम रूप परिणमित होने पर भी उस में छिपे हुये अर्थात् उदय और क्षयोपशम भाव को गौण करते ही जो भाव प्रगट होता है, वह अर्थात् उदय और क्षयोपशमभाव जिस का बना हुआ है वह अर्थात् एक सहज आत्म परिणमन रूप – परमपारिणामिकभाव रूप आत्मा को), अपने पुरुषार्थ द्वारा आविर्भूत किये गये सहज एक निर्मल भावपने के (परमपारिणामिकभाव के) कारण उसे (जल को = आत्मा को) निर्मल ही अनुभव करते हैं। उसी प्रकार प्रबल कर्म के मिलने से जिस का सहज एक ज्ञायकभाव (परमपारिणामिकभाव) तिरोभूत हो गया है, ऐसी आत्मा का अनुभव करनेवाले पुरुष (अज्ञानी)– आत्मा और कर्म का विवेक नहीं करनेवाले, व्यवहार से विमोहित हृदयवाले तो उसे (आत्मा को) जिस में भावों का विश्वरूपपना (अनेकरूपपना) प्रगट है, ऐसा अनुभव करते हैं, परन्तु भूतार्थदर्शी (शुद्ध नय को देखनेवाले = ज्ञानी) अपनी बुद्धि से डाले हुए शुद्ध नय (प्रज्ञाछैनी) अनुसार बोध होने मात्र से उत्पन्न हुए आत्मा – कर्म के विवेकपने से (भेदज्ञान से) अपने पुरुषार्थ द्वारा आविर्भूत किये गये सहज एक ज्ञायक भावपने के (परमपारिणामिकभाव के) कारण उसे (आत्मा को) जिस में एक ज्ञायकभाव (परमपारिणामिकभाव) प्रकाशमान है, ऐसा अनुभव करते हैं.....’

भावार्थ में पण्डितजी ने समझाया है कि जीव को ‘जैसा है वैसा’ सभी नयों से निर्णय करके सम्यक् एकान्त रूप शुद्ध जानना (मैंपन करना), न कि एकान्त से अपरिणामी ऐसा शुद्ध जानना। उस से तो मिथ्यादर्शन का ही प्रसंग आता है क्योंकि जिनवाणी स्याद्वाद रूप है। प्रयोजनवश नय को मुख्य–गौण करके कहती है। जैसे कि मलिन पर्याय को गौण करते ही शुद्धभाव रूप परमपारिणामिकभाव हाज़िर ही है, न कि पर्याय को भौतिक रीति से अलग करके। क्योंकि अभेद द्रव्य में भौतिक रीति से पर्याय को अलग करने की व्यवस्था है ही नहीं, इसलिये विभावभाव को गौण करते ही (पर्यायरहित का द्रव्य) परमपारिणामिकभाव रूप अभेद–अखण्ड आत्मा का ग्रहण होता है, यही सम्यग्दर्शन की विधि है।

गाथा १२ : गाथार्थ :– ‘परम भाव के (शुद्धात्मा के) देखनेवालों को (अनुभव करनेवालों को) तो शुद्ध (आत्मा) का उपदेश करनेवाला शुद्ध नय जानने योग्य है (अर्थात् शुद्ध नय के विषय रूप शुद्धात्मा का ही आश्रय करने योग्य है क्योंकि उस के आश्रय से ही श्रेणी चढ़कर वे सम्यग्दृष्टि जीव घाति कर्म का नाश करते हैं और केवली होते हैं), और जो जीव अपरम भाव में स्थित हैं (अर्थात् मिथ्यात्वी हैं), वे व्यवहार द्वारा (अर्थात् भेद रूप व्यवहार द्वारा वस्तु स्वरूप समझाकर तत्त्वों का निर्णय कराने के लिये) उपदेश करने योग्य है।’

भावार्थ में पण्डित जयचन्दजी बताते हैं कि 'अगर कोई जीव जो कि अपरम भाव में स्थित है (अज्ञानी है) वह व्यवहार छोड़े (भेद रूप और व्यवहार धर्म रूप दोनों) और उसे साक्षात् शुद्धोपयोग की प्राप्ति तो हुई नहीं (अर्थात् निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ नहीं) इसलिये उल्टा अशुभोपयोग में ही आ कर, भ्रष्ट हो कर चाहे जैसे स्वेच्छाचार रूप से (स्वच्छन्दता से) प्रवर्ते तो नरकादि गति तथा परम्परा से निगोद को प्राप्त हो कर संसार में ही भ्रमण करता है।'

यहाँ समझना यह है कि आत्मा अज्ञान अवस्था में चौबीस घण्टे कर्म का बन्ध करती ही है इस कारण से करुणावन्त आचार्य भगवन्तों ने बताया है कि जब तक तत्त्व का निर्णय और अनुभव न हो तब तक उसी के लक्ष्य से (शुद्ध के ही एकमात्र लक्ष्य से) नियम से शुभ में ही रहने योग्य है, न कि अशुभ में, क्योंकि अशुभ से तो देव-शास्त्र-गुरु रूप संयोग मिलना भी कठिन हो जाता है। इस बात में जिस का विरोध हो, वह हमें क्षमा करे क्योंकि यह बात हम किसी भी पक्ष रहित - निष्पक्ष भाव से बताते हैं कि जो सभी आचार्य भगवन्तों ने भी बतायी है और जहाँ-जहाँ (जिन भी गाथाओं में) इन बातों का सर्वथा निषेध करना बताया है, वह एकमात्र शुद्धभाव का लक्ष्य कराने को बताया है, न कि अशुभ में रमने के लिये। और मुनिराज को छठवें गुणस्थानक में इस बात का निषेध सातवें गुणस्थान रूप अभेद आत्मानुभूति में स्थित होकर आगे बढ़कर केवलज्ञान और मोक्ष प्राप्त करने के लिये बताया है, न कि छठवें गुणस्थानक में सहज होनेवाले शुभ का निषेध करके नीचे गिराने को अर्थात् अविरति अथवा अज्ञानी होने को।

इसलिये सभी मुमुक्षु जनों को यह बात यथार्थ 'जैसा है वैसा' समझना अत्यन्त आवश्यक है। समझना यह है कि अहोभाव केवल शुद्धता का ही होना चाहिये, शुभ का नहीं ही, परन्तु जब तक शुद्ध रूप नहीं परिणमता तब तक रहना तो नियम से शुभ में ही।

श्लोक ४ :- 'निश्चय और व्यवहार-इन दो नयों को विषय के भेद से परस्पर विरोध है, उस विरोध को नाश करनेवाला 'स्यात्' पद से चिह्नित जो जिन भगवान का वचन में जो पुरुष रमते हैं (प्रचुर प्रीति सहित अभ्यास करते हैं अर्थात् दोनों नयों का पक्ष छोड़कर मध्यस्थ रहते हैं) वे पुरुष अपने आप (अन्य कारण बिना) मिथ्यात्व कर्म के उदय का वमन करके इस अतिशय रूप परम ज्योति प्रकाशमान शुद्ध आत्मा को तुरन्त देखते ही हैं। (कौन देखता है? तो कहते हैं कि 'स्यात्' वचनों में रमता पुरुष, न कि एकान्त का आग्रही पुरुष अर्थात् सम्यग्दर्शन जो कि सम्यक् एकान्त रूप होने पर भी आग्रह तो एकान्त का होता ही नहीं, प्ररूपणा एकान्त की होती ही नहीं। प्ररूपणा जैसी है वैसी स्यात् वचन रूप ही होती है)। कैसी है समयसार रूपी शुद्धात्मा?

नवीन उत्पन्न नहीं हुई। पहले कर्म से आच्छादित थी, अब प्रगट व्यक्ति रूप हो गयी (अर्थात् पहले जो अज्ञानी को उदय-क्षयोपशम रूप से अनुभव में आती थी, वही अब ज्ञानी को उदय-क्षयोपशमभाव गौण हो जाने पर या करते ही समयसार रूप = परमपारिणामिकभाव रूप = परम ज्योति रूप प्रगट होती है = ज्ञात होती है = अनुभव में आती है = व्यक्ति रूपी होती है) और कैसी है वह? सर्वथा एकान्त रूप कुनय के पक्ष से खण्डित नहीं होती और निर्बाध है (अर्थात् जो सम्यग्दर्शन के लिये सर्वथा एकान्त नय की प्ररूपणा में रचते हैं, उन्हें शुद्धात्मा कभी प्राप्त ही नहीं होती, ऐसा ही यहाँ बताया गया है)।'

कई सम्प्रदायों में ऐसी मान्यता है कि शुद्धोपयोग सातवें या तेरहवें गुणस्थानक में ही होता है, चौथे गुणस्थानक में नहीं होता; ऐसा मानकर वे अपने ही सम्यग्दर्शन का मार्ग बन्द कर रहे हैं। उन के लिये ऊपर बताया है कि अधिकतर लोग कीचड़ वाले जल को मलिन ही अनुभव करते हैं क्योंकि उन को जिनशासन की नयों की लक्ष्मी समझ नहीं आती या फिर कोई नय का आग्रह/पक्ष होता है। शुद्धनयाभासी लोगों को छोड़कर सभी को यह बात विदित है कि अज्ञानी जीव अभी अशुद्ध रूप से ही परिणम रहा है, फिर भी भगवान ने उस जीव में ही द्रव्यदृष्टि से अर्थात् द्रव्यार्थिक नय से शुद्धात्मा देखने को और अनुभव करने को कहा है और उसी को सम्यग्दर्शन की विधि कहा है। इसलिये चौथे गुणस्थानक में भी शुद्धोपयोग होता है, यह मानना आवश्यक है अन्यथा वह जिनमतबाह्य ही कहलायेगा क्योंकि अगर ऐसा होता तब कुन्दकुन्दाचार्य जैसे आचार्य भगवन्त बार-बार शुद्धात्मा का अनुभव करके ज्ञानी होने को नहीं कहते। यह बात हम भी अपने अनुभव के आधार पर कहते हैं।

श्लोक ५ :- गाथा ११ और १२ को ही दृढ़ कराता है जो कि भेद रूप व्यवहार नय है वह अज्ञानी को मात्र समझाने के लिये है परन्तु वैसे भेद रूप आत्मा है नहीं इसलिये आश्रय तो अभेद रूप आत्मा का = शुद्धात्मा का, कि जिस में परद्रव्यों से होनेवाले भावों को गौण किया है, उसी का करना है। वही आत्मा उपादेय है। द्रव्य-पर्याय रूप भेद अथवा पर्याय के निषेध रूप भेद का जो आश्रय लेते हैं, उन्हें अभेद आत्मा का आभास भी नहीं आता। वे भेद में ही रमते हैं। वे विकल्प में ही रमते हैं और भेद का ही आदर करते हैं क्योंकि उन्हें निषेध रहित दृष्टि का विषय ही मान्य नहीं होता। ऐसी है करुणाजनक परिस्थिति।

श्लोक ६ :- यहाँ आचार्य भगवान बताते हैं कि जो नौ तत्त्व की परिपाटी है उसे छोड़कर अर्थात् गौण करके देखने पर - उस भाव को अनुभव में लाते ही आत्मा प्राप्त होती है।

श्लोक ७ में आचार्य भगवन्त गाथा १३ का ही भाव व्यक्त करते हैं कि नौ तत्त्व में व्याप्त ऐसी आत्मज्योति (अर्थात् परमपारिणामिकभाव), नौ तत्त्वों को गौण करते ही एक अखण्ड आत्मज्योति (अर्थात् परमपारिणामिकभाव) प्राप्त होती है।

गाथा १३ : गाथार्थ :- 'भूतार्थ नय से जाने हुए (अर्थात् अभेद ऐसे शुद्ध नय से जाने हुए) जीव, अजीव और पुण्य, पाप तथा आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, और मोक्ष - ये नौ तत्त्व सम्यक् हैं।'

अभेद शुद्ध नय से जो ऐसा जानता है कि यह सभी नौ तत्त्व रूप परिणमित जीव विशेष अपेक्षा से नौ तत्त्व रूप भासित होता है, परन्तु अभेद शुद्ध नय द्वारा ये नौ तत्त्व जिस के बने हुए हैं, वह एकमात्र सामान्यभाव रूप अर्थात् अभेद शुद्धजीवत्वभाव रूप 'शुद्धात्मा' ही है और इसी प्रकार जो नौ तत्त्व को जानता है, उसे ही सम्यग्दर्शन है। वही सम्यक्त्व है। यह गाथा समयसार का सार है। सभी अधिकारों का उल्लेख इस गाथा में करके उन सभी अधिकारों के सार के रूप में सम्यग्दर्शन रूपी आत्मा का स्वरूप समझाया है।

गाथा १३ : टीका :- 'ये जीवादि नौ तत्त्व भूतार्थ नय से जाने हुए सम्यग्दर्शन ही हैं (भूतार्थ नय से अर्थात् अभेद नय से = इन जीवादि नौ तत्त्वों रूप से आत्मा ही परिणमती है, इसलिये इन नौ तत्त्वों को गौण करते ही शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है = सम्यग्दर्शन होता है।) क्योंकि तीर्थ की (व्यवहार धर्म की) प्रवृत्ति के लिये अभूतार्थ (व्यवहार) नय से (ये नौ तत्त्व) कहने में आते हैं (अर्थात् जो जीव अपरम भाव में स्थित है - अज्ञानी है, उसे आगम की भाषा में उदय-उपशम-क्षयोपशम-क्षायिक-पारिणामिक - ऐसे पाँच भाव रूप से प्ररूपित किया जाता है) ऐसे ये नौ तत्त्व - जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष - उन में एकत्व प्रगट करनेवाले भूतार्थ नय से एकत्व प्राप्त करके (अर्थात् उन सभी तत्त्व रूप जो आत्मा परिणमित है, वह बाह्य निमित्त के भाव अथवा अभाव से परिणमित है, उन नौ तत्त्व रूप परिणमित ऐसी आत्मा में विशेषभावों को गौण करते ही, एक अभेद सहज परिणमन रूप आत्मा जो कि परमपारिणामिकभाव रूप है = समयसार रूप है, वह प्राप्त होती है, उसे प्राप्त करते ही), शुद्ध नय रूप से स्थापित आत्मा की अनुभूति - कि जिस का लक्षण आत्मख्याति है - उस की प्राप्ति होती है (अर्थात् सम्यग्दर्शन रूप - समयसार रूप आत्मा की प्राप्ति होती है)। (अर्थात् शुद्ध नय से नौ तत्त्व को जानने से आत्मा की अनुभूति होती है, इस हेतु से यह नियम कहा)। वहाँ, विकारी होने योग्य (आत्मा) और विकार करनेवाला (कर्म) ये दोनों पुण्य हैं.... क्योंकि एक को ही (आत्मा

को) अपने आप (स्वभाव से) पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष की उपपत्ति (सिद्धि – उस भाव रूप आत्मा का परिणमना) नहीं होती। वे दोनों जीव (भावकर्म) और अजीव (द्रव्यकर्म) हैं (अर्थात् उन दोनों में एक जीव है और दूसरा अजीव है)।

बाह्य (स्थूल) दृष्टि से देखा जाये तो – जीव-पुद्गल के अनादि बन्ध पर्याय के समीप जाकर एकत्व अनुभव करने पर ये नौ तत्त्व भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं (अर्थात् आगम में निरूपित पाँच भावयुक्त जीव में ये नौ तत्त्व भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं) और एक जीव द्रव्य के स्वभाव ('स्व' का भाव ='स्व' का सहज परिणमन रूप भाव = परमपारिणामिकभाव = कारण शुद्ध पर्याय = कारण शुद्ध परमात्म रूप भाव) के समीप जाकर अनुभव करने पर वे अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं। (समयसार जैसे अध्यात्म ग्रन्थ में निरूपित शुद्धात्म रूपी जीव में वे अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं)। (जीव के एकाकार स्वरूप में वे नहीं हैं)। इसलिये इन नौ तत्त्वों में भूतार्थ नय से एक जीव ही प्रकाशमान है...' यही गाथा का भाव श्लोक ८ में विशेष रूप से समझाया गया है।

श्लोक ८ :- 'इस प्रकार नौ तत्त्वों में बहुत काल से छिपी हुई इस आत्मज्योति को (अर्थात् आत्मा के उदय – क्षयोपशम रूप जो भाव हैं, वे सभी जीवों को अनादि से होते हैं और जो जीव अज्ञानी है, वह उन्हीं भावों में रमता है। फिर भी प्रत्येक जीव में अनादि से परमपारिणामिक भाव रूपी छिपी हुई आत्मज्योति मौजूद ही होती है, हाज़िर ही होती है। मात्र उदय-क्षयोपशम रूप भावों को गौण करके उस का लक्ष्य करते ही वह प्राप्त होती है अर्थात् इन नौ तत्त्वों को गौण करते ही जो सामान्य जीवत्वभाव शेष रहता है, वह तीनों काल शुद्ध होने से, कहा है कि नौ तत्त्वों में बहुत काल से छिपी हुई आत्मज्योति को), जैसे वर्णों के समूह में छिपे हुए एकाकार स्वर्ण को बाहर निकाले वैसे (अशुद्धात्मा में से अशुद्धि को गौण करते ही, उस में छिपी हुई एकाकार = अभेद शुद्धात्मा साक्षात् होती है वैसे), शुद्ध नय से (अर्थात् ऊपर कहे अनुसार अशुद्ध भावों को गौण करते ही) बाहर निकालकर प्रगट की गयी है। इसलिये हे भव्य जीवो! हमेशा उसे अन्य द्रव्यों से (अर्थात् पुद्गल रूप कर्म-नोकर्म से) तथा उन से होनेवाले नैमित्तिक भावों से (अर्थात् औदयिक भावों से) भिन्न (अर्थात् हमने पूर्व में जो दो प्रकार से भेदज्ञान करने का बताया था वैसे) एक रूप देखो। यह (ज्योति = परमपारिणामिकभाव), पद-पद पर अर्थात् पर्याय-पर्याय में एक रूप चिद्चमत्कार रूप उद्योतमान है।' अर्थात् प्रत्येक पर्याय में पूर्ण जीव व्यक्त होता ही होने से अर्थात् पर्याय में पूर्ण द्रव्य होने से ही ऐसा बताया है। अर्थात् पर्याय ही वर्तमान जीव द्रव्य है, ऐसा जो हमने पूर्व में बताया है, वही समझ यहाँ दृढ़ होती है।

यहाँ यह समझना आवश्यक है कि आगम और अध्यात्म में ज़रा भी विरोध नहीं है। आगम से जीव का स्वरूप 'जैसा है वैसा' समझकर अर्थात् जीव को सभी नयों से जानकर अध्यात्म रूप शुद्ध नय द्वारा ग्रहण करते ही सम्यग्दर्शन रूप आत्मज्योति प्रगट होती है, प्राप्त होती है अर्थात् पर्याय में विशेषभाव को गौण करते ही एकरूप - अभेद रूप चिद्‌चमत्कार मात्र ज्योति अर्थात् सामान्यभाव रूप परमपारिणामिकभाव हाज़िर ही है जो कि सम्यग्दर्शन का विषय (दृष्टि का विषय) है और उस में ही 'मैंपन' करने से स्वानुभूति प्रगट हो सकती है। यह सम्यग्दर्शन की विधि है।

श्लोक ९ :- 'आचार्य शुद्ध नय का अनुभव करके कहते हैं कि इन सभी भेदों को गौण करनेवाला जो शुद्ध नय (अर्थात् जीव में भेद रूप द्रव्य-गुण-पर्याय, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य अथवा उदय-उपशम-क्षयोपशम रूप भावों को गौण करके परमपारिणामिकभाव रूप समयसार रूप शुद्ध नय) का विषयभूत चैतन्य-चमत्कार मात्र (ज्ञानमात्र = परमपारिणामिकभाव रूपी) तेजपुंज आत्मा का अनुभव होने पर नयों की लक्ष्मी उदय को प्राप्त नहीं होती (अर्थात् सब नय विकल्प रूप ही हैं, जबकि परमपारिणामिकभाव सभी विशेषभाव रहित होने से अर्थात् उस में कुछ भी विकल्प न होने से उस में नय-निक्षेप, स्व-पर रूप भाव नहीं है। वहाँ मात्र एक अभेदभाव में ही 'मैंपन' है, इसलिये) प्रमाण अस्त को प्राप्त होता है और निक्षेपों का समूह कहाँ चला जाता है, वह हम नहीं जानते। इस से अधिक क्या कहें? द्वैत प्रतिभासित ही नहीं होता।' स्वानुभूति के काल में मात्र मैं का ही आनन्द - वेदन होता है, वहाँ स्व-पर रूप कोई द्वैत होता ही नहीं।

श्लोक १० :- 'शुद्ध नय आत्मा के स्वभाव को प्रगट करता हुआ ('स्व' के भावन रूप = स्व का सहज परिणमन रूप = परमपारिणामिकभाव रूप प्रगट करता हुआ) उदय होता है। वह आत्मस्वभाव को कैसे प्रगट करता है? (वह प्रगट किया हुआ आत्मस्वभाव कैसा है?) परद्रव्य, परद्रव्य के भाव तथा परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले अपने विभाव - ऐसे परभावों से भिन्न करता है। (अर्थात् परद्रव्य तो प्रगट भिन्न है, इसलिये उन के साथ उन के लक्षण से भेदज्ञान करता है और परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले अपने जो विभाव हैं, वे जीव रूप हैं, इसलिये उन विभावों को गौण करता है और विभावों में छिपी हुई आत्मज्योति को मुख्य करता है) और वह आत्मस्वभाव सम्पूर्ण रूप से पूर्ण है - सम्पूर्ण लोकालोक को जाननेवाला है ऐसा प्रगट करता है। (यहाँ समझना यह है कि परमपारिणामिकभाव रूप आत्मा का अर्थात् ज्ञान का लक्षण -ज्ञान का स्वभाव प्रतिबिम्ब रूप से पर को झलकाने का है, उस प्रतिबिम्ब को गौण करते ही वहाँ दर्पण की भाँति स्वच्छत्व रूप परिणमन हाज़िर है ही और ज्ञान का स्वभाव लोकालोक को झलकाने का है इसलिये ही

वह 'ज्ञान' नाम पाता है, अन्यथा नहीं। उस ज्ञेय रूप झलकने को गौण करते ही वहाँ ज्ञानमात्र रूप = परमपारिणामिकभाव रूप = ज्ञायक हाज़िर ही है। इसलिये 'आत्मा वास्तव में पर को जानती ही नहीं' ऐसी प्ररूपणा करके आत्मा के लक्षण का अभाव करने से आत्मा का ही अभाव होता है) वह आत्मस्वभाव को आदि-अन्त से रहित प्रगट करता है (परमपारिणामिकभाव वह आत्मा का अनादि-अनन्त 'स्व' भावन रूप 'स्व' भाव है। वह त्रिकाल शुद्ध होने से उसे आदि-अन्त से रहित कहा है) और वह आत्मस्वभाव को एक - सभी भेदभावों से (द्वैत भावों से) रहित एकाकार प्रगट करता है। (सभी प्रकार के भेद रूप भाव जैसे कि द्रव्य-गुण-पर्याय, ज्ञान-दर्शन-चारित्र, निषेध रूप, स्व-पर रूप भावों से रहित प्रगट करता है) और जिस में समस्त संकल्प-विकल्प के समूह विलय हो गये हैं ऐसा प्रगट करता है। (अर्थात् उदय, क्षयोपशम भावों को गौण करते ही परमपारिणामिकभाव रूप आत्मा में कुछ भी संकल्प-विकल्प, नय-प्रमाण-निक्षेप इत्यादि रहते ही नहीं - ऐसा आत्मा प्रगट करता है)। ऐसा शुद्ध नय प्रकाश रूप होता है।'

गाथा १४ : गाथार्थ :- 'जो नय आत्मा को (१) बन्ध रहित और (२) पर के स्पर्श रहित, (३) अन्यपन रहित, (४) चलाचलता रहित, (५) विशेष रहित (अर्थात् विशेष को गौण करते ही जो एक सामान्य रूप भाव अर्थात् परमपारिणामिकभाव रूप जीव है वह अन्य के लक्ष्य से होनेवाले सभी भाव जो कि विशेष हैं, उन से रहित ही होता है), अन्य के संयोग रहित - ऐसे पाँच भाव रूप देखता है, उसे हे शिष्य! तू शुद्ध नय जान।' अर्थात् जैसा हमने पहले बताया, वैसे सभी परद्रव्य तथा परद्रव्य के लक्ष्य से होनेवाले आत्मा के भावों से (उन्हें गौण करके) भेदज्ञान करने से शुद्ध नय रूप अर्थात् अभेद ऐसा पंचमभाव रूप सम्यग्दर्शन का विषय (दृष्टि का विषय) प्राप्त होता है।

गाथा १४ : टीका :- 'निश्चय से अबद्ध-अस्पृष्ट (आत्मा के उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक ऐसे चार भावों से अबद्ध-अस्पृष्ट), अनन्य (तथापि आत्मा के परिणमन = पर्याय से अनन्य परमपारिणामिकभाव रूप = कारण शुद्ध पर्याय रूप), नियत (नियम से एक समान सहज परिणमन रूप), अविशेष (जिस में विशेष रूप चारों ही भावों का अभाव है ऐसा सामान्य परिणमन रूप = सहज परिणमन रूप) और असंयुक्त (कि जो ऊपर कहे, वैसे चार भावों से संयुक्त नहीं है - इन चार भावों को गौण करते ही शुद्ध नय की आत्मा प्राप्त होती है, वैसी असंयुक्त) ऐसी आत्मा की जो अनुभूति, वह शुद्ध नय है और वह अनुभूति आत्मा ही है, इस प्रकार आत्मा एक ही प्रकाशमान है....'

श्लोक ११ :- 'जगत के प्राणियो! उस सम्यक् स्वभाव का अनुभव करो जहाँ ये बद्ध-स्पृष्टादि भाव (ऊपर कहे वे चार भाव) स्पष्ट रूप से उस स्वभाव के ऊपर तैरते हैं (अर्थात् वे भाव होते हैं तो आत्मा के परिणाम में ही अर्थात् आत्मा में ही) तो भी (वे परमपारिणामिकभाव में) प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं होते, क्योंकि द्रव्य स्वभाव (द्रव्य रूप आत्मा के 'स्व' का भावन रूप 'स्व'भाव) तो नित्य है (वैसे का वैसा ही होता है), एक रूप है (अनन्य रूप है, अभेद है, वहाँ कोई भेद नहीं) और ये भाव (अर्थात् कि अन्य चार भाव) अनित्य है, अनेक रूप है, पर्यायें (चार भाव रूप पर्यायें - विभावभाव) द्रव्यस्वभाव में प्रवेश नहीं करती, ऊपर ही रहती हैं (वे चार भाव परमपारिणामिकभाव रूप द्रव्यस्वभाव में प्रवेश पाती ही नहीं क्योंकि परमपारिणामिकभाव रूप द्रव्यस्वभाव सामान्यभाव रूप है इसलिये उस में विशेषभाव का तो अभाव ही होता है अर्थात् विशेषभाव द्रव्यस्वभाव में प्रवेश नहीं करते, ऊपर ही रहते हैं) यह शुद्ध स्वभाव ('स्व' के भावन रूप = परमपारिणामिकभाव) सभी अवस्थाओं में प्रकाशमान है। (आत्मा में तीनों काल हैं इसलिये ही त्रिकाली शुद्धभाव कहलाता है) ऐसे शुद्ध स्वभाव का, मोह रहित होकर जगत अनुभव करो, क्योंकि मोह कर्म के उदय से उत्पन्न मिथ्यात्व रूप अज्ञान जहाँ तक रहता है, वहाँ तक यह अनुभव यथार्थ नहीं होता।'

श्लोक १२ :- 'यदि कोई सुबुद्धि (अर्थात् जिसे तत्त्वों का निर्णय हुआ है, ऐसा कि जो सम्यग्दर्शन प्राप्ति की पूर्व की पर्यायों में स्थित है ऐसा) भूत, वर्तमान और भावी ऐसे तीनों काल के (कर्मों के) बन्ध को अपने आत्मा से तत्काल-शीघ्र भिन्न करके (अर्थात् कर्म रूपी पुद्गलों को अपने से भिन्न जानकर - जड़ जानकर अपने को चेतन रूप अनुभव कर) तथा उन कर्मों के उदय के निमित्त से हुए मिथ्यात्व (अज्ञान) को अपने बल से (पुरुषार्थ से) रोककर अथवा नाश करके (ऊपर श्लोक ११ में बताये अनुसार चार भावों को गौण करके, अपने को परमपारिणामिकभाव रूप अनुभवते ही मिथ्यात्व उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय को प्राप्त होता है अर्थात् अपने को त्रिकाली शुद्धभाव रूप = परमपारिणामिकभाव रूप जानना/अनुभव करने रूप पुरुषार्थ करे अर्थात्) अन्तरंग में अभ्यास करे - देखे तो यह आत्मा अपने अनुभव से ही ज्ञात होने योग्य जिस की प्रगट महिमा है, ऐसी व्यक्त (अनुभवगोचर) ध्रुव (निश्चल) शाश्वत नित्य कर्मकलंक कर्दम से रहित (परमपारिणामिकभाव रूप) ऐसी स्वयं स्तुति करने योग्य देव विराजमान है।'

श्लोक १३ :- ''इस प्रकार जो पूर्व कथित शुद्ध नय स्वरूप आत्मा की अनुभूति है (अर्थात् शुद्धात्मा की अनुभूति है) वही वास्तव में ज्ञान की अनुभूति है, ऐसा जानकर (अर्थात् जो आत्मा

की अनुभूति है, वही ज्ञान की अनुभूति है, उन दोनों में कुछ भी भेद नहीं है) तथा आत्मा में, आत्मा को निश्चल स्थापित कर (अर्थात् उस शुद्धात्मा का निश्चल – एकाग्ररूप से ध्यान करके) 'सदा सब ओर एक ज्ञानघन आत्मा है' ऐसा देखना।'' अर्थात् जो शुद्धात्मा है उसे ज्ञान अपेक्षा से ज्ञानघन, ज्ञानमात्र, ज्ञानसामान्य इत्यादि अनेक नामों से पहचाना जाता है, यहाँ विशेष इतना ही है कि जिस गुण से शुद्धात्मा को देखने में आता है, उस गुणमय ही पूर्ण रूप से शुद्धात्मा ज्ञात होती है अर्थात् शुद्धात्मा में कोई भेद ही नहीं है।

गाथा १५ : गाथार्थ :– 'जो पुरुष आत्मा को अबद्धस्पृष्ट (अर्थात् किसी भी प्रकार के बन्ध रहित शुद्ध और जिस में सभी विभावभाव अत्यन्त गौण हो गये होने से, विभावभाव से नहीं स्पर्शित ऐसा कि जिसे सम्यक् एकान्त रूप भी कहा जाता है ऐसा), अनन्य (वह स्वयं निरन्तर अपने रूप में ही परिणमता होने से अन्य रूप नहीं होता अर्थात् उस के सभी गुणों का सहज परिणमनयुक्त परमपारिणामिकभाव रूप), अविशेष (अर्थात् सारा विशेष जिस में गौण हो गये होने से, मात्र सामान्य रूप अर्थात् जो औदयिक आदि चार भाव हैं, वे विशेष हैं परन्तु यह परमपारिणामिकभाव रूप पंचमभाव सामान्यभाव रूप होने से विशेष रहित होता है। जैसे हमने पूर्व में देखा वैसे। वे विशेषभाव सामान्य के ही बने हुए होते हैं अर्थात् जीव एक पारिणामिकभाव रूप ही होता है, परन्तु विशेष में जो कर्म के उदय निमित्त से भाव होते हैं, उस अपेक्षा से वह पारिणामिकभाव ही औदयिक इत्यादि नाम पाता है और उन औदयिकादिभावों का सामान्य अर्थात् परमपारिणामिकभाव में अभाव होने से उसे अविशेष) देखता है वह पूरे जिनशासन को देखता है (अर्थात् जिसने एक आत्मा जाना, उसने सब जाना) – कि जो जिनशासन बाह्य में द्रव्यश्रुत तथा अभ्यन्तर ज्ञानरूपी भावश्रुतवाला है।'

गाथा १७-१८ : गाथार्थ :– 'जैसे कोई धन का अर्थी पुरुष (उसी प्रकार कोई आत्मा का अर्थी पुरुष) राजा को जानकर श्रद्धा करता है (अर्थात् जीवरूपी राजा रूप शुद्धात्मा को जानकर श्रद्धा करता है), तत्पश्चात् उस का प्रयत्नपूर्वक अनुचरण करता है (अर्थात् उस शुद्धात्मा का प्रयत्नपूर्वक अनुभव करने का पुरुषार्थ करता है) अर्थात् सुन्दर रीति से सेवा करता है (अर्थात् उसी का बारम्बार मनन-चिन्तन-ध्यान-अनुभवन करता है), इसी प्रकार मोक्ष की इच्छावाले को जीवरूपी राजा को जानना, पश्चात् उसी प्रकार उस का श्रद्धान करना और तत्पश्चात् उस का अनुसरण करना अर्थात् अनुभव द्वारा तन्मय हो जाना।'

गाथा ३५ : गाथार्थ :– ''जैसे लोक में कोई पुरुष परवस्तु को 'यह परवस्तु है' ऐसा जाने तब ऐसा जानकर परवस्तु को त्यागता है; उसी प्रकार ज्ञानी सभी परद्रव्यों के भावों को 'ये परभाव

हैं' ऐसा जानकर उन्हें छोड़ता है।''

पर के लक्ष्य से होनेवाले अपने भाव में ज्ञानी का 'मैंपन' न होने से वह उन्हें छोड़ता है ऐसा कहा जाता है अर्थात् उन पर-लक्ष्य से होनेवाले भावों को ज्ञानी अपनी कमज़ोरी समझता है और कोई भी जीव अपनी कमज़ोरी का पोषण करना चाहता ही नहीं। इसी प्रकार ज्ञानी भी उन पर-लक्ष्य से होनेवाले भावों को बिलकुल नहीं चाहता और इसीलिये उन से छूटने के प्रयत्न करता है। शक्ति अनुसार चारित्र ग्रहण करता है। ऐसा है जैन सिद्धान्त का अनेकान्तमय ज्ञान।

गाथा ३६ : गाथार्थ :- ''ऐसा जाने कि 'मोह के साथ मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, एक उपयोग है वह ही मैं हूँ' (अर्थात् सम्यग्दर्शन के विषय में मोह रूपी विभावभाव नहीं होने से, जब ज्ञानी शुद्धात्मा में ही 'मैंपन' करता है तब वह मात्र उतना ही है, उसे किसी विभावभाव के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं अर्थात् उसे एकमात्र सामान्य उपयोग रूप ज्ञायकभाव में ही 'मैंपन' होने से, उस का तब मोह के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं, एक शुद्धात्मा है, वही मैं हूँ) - ऐसा जो जानना, उसे सिद्धान्त के अथवा स्व-पर के स्वरूप के जाननेवाले मोह से निर्ममत्व कहते हैं।'' अर्थात् ज्ञानी को मोह में 'मैंपन' और 'मेरापना' नहीं, इसलिये ज्ञानी को निर्ममत्व है।

गाथा ३८ : गाथार्थ :- 'दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप परिणमित आत्मा (अर्थात् परमपारिणामिकभाव रूप सहज दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप परिणमन करता भाव जो कि शुद्धात्मा है, उस में ही 'मैंपन' करती हुई ऐसी सम्यग्दृष्टि आत्मा) ऐसा जानती है कि निश्चय से मैं एक हूँ (अर्थात् वह अभेद का ही अनुभव करती है), शुद्ध हूँ (अर्थात् एकमात्र शुद्धात्मा में ही 'मैंपन' होने से मैं शुद्ध हूँ, ऐसा अनुभवती है), दर्शन ज्ञानमय हूँ (अर्थात् मात्र जानने-देखनेवाली ही हूँ), सदा अरूपी हूँ (अर्थात् किसी भी रूपी द्रव्य में और उस से होते भावों में 'मैंपन' नहीं होने से अपने को मात्र अरूपी ही अनुभवती है); कोई भी अन्य परद्रव्य परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है, यह निश्चय है।'

श्लोक ३२ :- 'यह ज्ञान समुद्र भगवान आत्मा (अर्थात् ज्ञानमात्र शुद्धात्मा) विभ्रम रूपी आड़ी चादर को डुबो कर (अर्थात् शुद्ध नय से सभी विभावभावों को अत्यन्त गौण करके, पर्याय को द्रव्य में अन्तर्गत कर लेता है अर्थात् शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से शुद्धात्मा में ही दृष्टि करके) स्वयं सर्वांग प्रगट हुई है (अर्थात् ऐसी शुद्धात्मा का अनुभव हुआ है); अब यह समस्त लोक (अर्थात् समस्त विकल्प रूप लोक - विभाव रूप लोक) उस के शान्त रस में (अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्द रूप अनुभूति में) एक साथ ही अत्यन्त मग्न हो (अर्थात् अपने को निर्विकल्प अनुभवता है वह)

कैसा है शान्त रस (अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्द) ? समस्त लोकपर्यन्त उछल रहा है।' अर्थात् अमाप, अनहद, उत्कृष्ट है। ऐसी है आत्मा की अनुभूति जो कि हम अनेक बार अनुभवते हैं और यह सभी मुमुक्षु जीवों को प्राप्त हो ऐसा चाहते हैं।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन की सिद्धि होने से, यहीं समयसार पूर्ण हो जाता है; अब बाद का जो विस्तार है, वह तो मात्र विस्तार रुचि जीवों को, विस्तार से इसी शुद्धात्मा में 'मैंपन' कराकर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये, विस्तार से भेदज्ञान समझाया है। अर्थात् यह जीव अनादि से जो नौ तत्त्वों रूप अलग-अलग वेश में परिणम कर और पर में कर्ता भाव को पोषण कर ठगा जाता है। उस ठगाई को स्पष्ट करके उस ठगाई से बचने के लिये विस्तार से सभी भावों से भेदज्ञान कराया है। किसी को ऐसा नहीं समझना चाहिये कि यह नौ तत्त्व रूप भाव एकान्त से जीव के नहीं हैं अर्थात् ये नौ तत्त्व रूप भाव हैं तो जीव के ही, परन्तु वे त्रिकाल नहीं होने से उन में 'मैंपन' करने योग्य वे भाव नहीं हैं, इस अपेक्षा से उन्हें जीव के नहीं हैं ऐसा कहा है और उन्हें उसी प्रकार से समझना अति आवश्यक है। यदि कोई एकान्त से ऐसा कहे कि ये नौ तत्त्व रूप भाव मेरे भाव हैं ही नहीं तो वह भ्रम में परिणमकर अनन्त संसार को बढ़ानेवाला बनेगा। इसलिये जिस अपेक्षा से जहाँ जो कहा है, उसी अपेक्षा से वहाँ वह समझना और वैसा ही आचरण करना अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा तो स्वच्छन्दता से भ्रम में परिणम कर अपने को ज्ञानी मानता हुआ वह जीव अपना और कई दूसरों का अहित करते हुए, स्वयं तो भ्रष्ट है ही और अनेक दूसरों को भी भ्रष्ट करेगा।

❦

३७

समयसार के अधिकारों का विहंगावलोकन

अब हम विस्तार रुचि जीवों के लिये आचार्य अमृतचन्द्र कृत टीका आधारित समयसार शास्त्र के सभी अधिकारों का विहंगावलोकन करेंगे। हम सभी अधिकारों का सार मात्र बतायेंगे, इसलिये विस्तार रुचि जीवों को उपरोक्त पूर्वरंग में विस्तार से बताये भाव अनुसार और सभी अधिकारों के यहाँ बताये सार अनुसार उन सभी अधिकारों का अभ्यास करना है, अन्यथा नहीं। स्वच्छन्दता से नहीं। स्वच्छन्दता ही हमारे अब तक के अनन्त संसार का कारण है कि जिस का अब फिर कभी भी पोषण नहीं करना, ऐसा हमारा सभी मुमुक्षु जीवों से निवेदन है।

१. जीव-अजीव अधिकार :- यह अधिकार जीव को, अजीव रूप कर्म-नोकर्म और उन के लक्ष्य से होनेवाले अपने विभावभावों से भेदज्ञान कराने के लिये है अर्थात् वे सब भाव जैसे कि-रस, गन्ध, स्पर्श, शरीर, संस्थान, संहनन, राग, द्वेष, मोह, मिथ्यात्व, कर्म, पर्याप्ति, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्म स्थान, अनुभाग स्थान, मन-वचन-काया के योग, बन्ध स्थान, उदय स्थान, मार्गणा, स्थितिबन्ध स्थान, संक्लेश स्थान, विशुद्धि स्थान, जीव स्थान इत्यादि जीव को नहीं है, ऐसा कहा है।

प्रश्न :- यहाँ प्रश्न होता है कि वे भाव जीव के क्यों नहीं है?

उत्तर :- वे भाव दो प्रकार के हैं, एक तो पुद्गल रूप हैं और दूसरे जीव के विशेषभाव रूप हैं; उन में जो पुद्गल रूप हैं, वे तो जीव से प्रगट भिन्न ही हैं और जो जीव के विशेषभाव रूप हैं, उन भावों में 'मैंपन' करने योग्य न होने से अर्थात् उन सभी भावों से भिन्न ऐसा 'शुद्धात्मा' वह सम्यग्दर्शन का विषय (दृष्टि का विषय) होने की अपेक्षा से, शुद्धात्मा रूप जीवराजा में वे भाव नहीं हैं, ऐसा कहा है। ऐसा सम्यग्दर्शन प्राप्त कराने के लिये कहा है, अन्यथा नहीं, एकान्त से नहीं; इसलिये जैसा है वैसा समझकर मात्र शुद्धात्मा जो कि इन सभी भावों से भिन्न है, उस में ही 'मैंपन' करने पर, स्वात्मानुभूतिपूर्वक सम्यग्दर्शन प्रगट हो सकता है और तत्पश्चात् ही ज्ञान मध्यस्थ होने से अर्थात् प्रमाण रूप होने से ही जीव को जैसा है वैसा जानता है और विवेक से आत्मस्थिरता रूप पुरुषार्थपूर्वक सभी कर्मों का क्षय करने के प्रति कार्यरत होता है यानी सभी कर्मों का क्षय करने को व्रत-तप-ध्यान रूप पुरुषार्थ आदरता है, यही मोक्षमार्ग है। यही विधि है मोक्ष प्राप्ति की।

श्लोक ४३ :- 'इस प्रकार पूर्वोक्त भिन्न लक्षण के कारण जीव से अजीव भिन्न है, उसे (अजीव को) अपने आप ही विलसता - परिणमता ज्ञानी पुरुष अनुभव करते हैं, तो भी अज्ञानी को अमर्याद रूप फैला हुआ मोह (अनन्तानुबन्धी चतुष्टय रूप) क्यों नाचता है - यह हमें महा आश्चर्य और खेद है!' आचार्य भगवन्त को अज्ञानी पर परम करुणाभाव वर्तता है, उपजता है।

श्लोक ४४ :- 'इस अनादि काल के महा अविवेक के नाटक में अथवा नाच में पुद्‌गल ही नाचता है (परिणमता है), अन्य कोई नहीं (शुद्धात्मा नहीं) और यह जीव तो (अर्थात् शुद्धात्मा) रागादि पुद्‌गल विकारों से विलक्षण (भिन्न) शुद्ध चैतन्य धातुमय मूर्ति (अर्थात् ज्ञानघन) है।' अर्थात् ऐसा जीव ही अनुभव करने का है अर्थात् ऐसा जीव ही सम्यग्दर्शन का विषय है।

श्लोक ४५ :- 'इस प्रकार ज्ञान रूपी करवत का (अर्थात् तीक्ष्ण बुद्धि से भेदज्ञान करने का) जो बारम्बार अभ्यास (अर्थात् बारम्बार भेदज्ञान का अभ्यास करने योग्य है) उसे नचाकर (अर्थात् उस से भेदज्ञान करके) जहाँ जीव और अजीव दोनों प्रगट रूप से भिन्न नहीं हुए (अर्थात् उस भेदज्ञान रूपी करवत् से अर्थात् प्रज्ञाछैनी से जो अजीव रूप कर्म-नोकर्म और उन के लक्ष्य से हुए सभी भावों से भिन्न स्वयं अर्थात् शुद्धात्मा प्रगट भिन्न है, ऐसा अनुभव होने से अर्थात् अपनी इन अजीव रूप कर्म-नोकर्म और उन के लक्ष्य से हुए सभी भावों से प्रगट भिन्न अनुभूति होते ही) वहाँ तो ज्ञाताद्रव्य (अर्थात् जाननेवाला शुद्धात्मा) अत्यन्त विकास रूप होती अपनी प्रगट (अर्थात् प्रगट अनुभूति स्वरूप) चिन्मात्र शक्ति से विश्व को व्याप कर (अर्थात् कृतकृत्य होकर अद्वितीय आनन्द रूप परिणम कर और स्व विश्व को व्याप कर) अपने आप ही अति वेग से तथा उग्रता से अत्यधिक प्रकाशित हो उठी (अर्थात् ऐसा सहज सम्यग्दर्शन प्रगट हो गया कि जो स्वात्मानुभूति रूप सत्-चित्-आनन्द स्वरूप है)।'

२. कर्ता-कर्म अधिकार :- जीव का दूसरा वेष कर्ता-कर्म रूप है। जीव अन्य का कर्ता होता है कि जिसे वह उपादान रूप से परिणमाने को शक्तिमान ही नहीं है यानी सभी द्रव्य अपने उपादान से ही अपनी परिणति करते हैं अर्थात् अपना कार्य करते हैं - परिणमते हैं, उस में अन्य द्रव्य निमित्त मात्र ही होते हैं।

दूसरे सम्यग्दर्शन के लिये जो मात्र अपने भाव हों, वे ही अर्थात् 'स्व' भाव हों उन में ही 'मैंपन' होने से और उस सम्यग्दर्शन के विषय रूप 'स्व'-भाव, मात्र सामान्यभाव रूप ही होने से वह निष्क्रिय भाव ही होता है अर्थात् सम्यग्दर्शन के विषय रूप 'स्व' भाव में उदय-क्षयोपशम रूप कर्ता-कर्म भाव जो कि विशेषभाव हैं, वे न होने से, निमित्त तथा उस के लक्ष्य से हुए विशेषभावों

का उस में निषेध ही होता है अर्थात् निमित्त का ही निषेध होता है, इस कारण से और इस अपेक्षा से भी निमित्त को परम अकर्ता कहा जाता है।

परन्तु यदि निमित्त को कोई एकान्त से अकर्ता माने और स्वच्छन्दता से निर्बल निमित्तों का ही सेवन करे तो वह जीव अनन्त संसारी होकर, अनन्त दुःख को प्राप्त होता है। विवेक ऐसा है कि – जीव सब ख़राब निमित्तों से बचकर, शास्त्र स्वाध्याय इत्यादि अच्छे निमित्तों का सेवन करके, शीघ्रता से मोक्षमार्ग में आगे बढ़ता है; न कि एकान्त से निमित्त को अकर्ता मानकर, स्वच्छन्दता से सब निर्बल निमित्तों को सेवन करता हुआ अनन्त संसारी अर्थात् अनन्त दुःखी होता है।

विवेकीजन जानते हैं कि 'मात्र निमित्त से कुछ भी नहीं होता और निमित्त बिना भी कुछ नहीं होता' अर्थात् स्व का सम्यग्दर्शन रूप जो परिणमन है, वह मात्र निमित्त मिलने से होगा, ऐसा नहीं परन्तु उस के लिये स्वयं अपना–उपादान रूप पुरुषार्थ करे तो ही होगा यानी सभी जनों को सम्यग्दर्शन के लिये नियति इत्यादि कारणों के सामने न देखकर अपना पुरुषार्थ उस दिशा में स्फुरित करना अति आवश्यक है।

दूसरा विवेकी जीव समझते हैं कि जो अपने भाव बिगड़ते हैं वे वैसे निमित्त मिलने से बिगड़ते हैं; ऐसा जानकर, वे ख़राब निमित्तों से निरन्तर दूर ही रहने का प्रयत्न करते है, जैसे कि ब्रह्मचर्य और आत्मध्यान के लिये भगवान ने एकान्तवास का सेवन करना बताया है। ऐसा है विवेक निमित्त –उपादान रूप सम्बन्ध का, इसलिये उसे इस परिप्रेक्ष्य में ही समझना, अन्यथा नहीं। यहाँ सम्यग्दर्शन कराने को अर्थात् पर से दृष्टि हटाने के लिये निमित्त को परम अकर्ता कहा है, अन्यथा नहीं।

श्लोक ६९ :– 'जो नय पक्षपात को छोड़कर (अर्थात् हमने पूर्व में अनेक बार बताये अनुसार जिसे किसी भी एक नय का आग्रह हो अथवा तो कोई मत–पन्थ–व्यक्ति विशेष रूप पक्ष का आग्रह हो और जो वैसे पूर्वाग्रह–हठाग्रह छोड़ सकते हैं वे) स्वरूप में गुप्त हो कर (यानी स्व में अर्थात् शुद्धात्मा में ही 'मैंपन' करके सम्यग्दर्शन रूप परिणम कर) सदा रहते हैं वे ही (यानी नय और पक्ष को छोड़ते हैं, वैसे मुमुक्षु जीव ही सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर सकते हैं), जिन का चित्त विकल्प मल से रहित शान्त हुआ है ऐसे होते हुए (निर्विकल्प 'शुद्धात्मा' का अनुभव करते हुए) साक्षात् अमृत को (अर्थात् अनुभूति रूप अतीन्द्रिय आनन्द को) पीते हैं (अनुभव करते हैं)।' अर्थात् सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये सभी को नय और पक्ष का आग्रह छोड़ना चाहिये।

श्लोक ९० :- 'इस प्रकार जिस में बहुत विकल्पों का जाल अपने आप उठ रहा है ऐसी महा नय पक्ष कक्षा का (नय के आग्रह को) उल्लंघन करके (तत्त्ववेदी = सम्यग्दृष्टि होकर) अन्दर और बाहर (अर्थात् पूर्ण आत्मा में) समता रस रूपी एक रस ही जिस का स्वभाव है, ऐसी अनुभूति मात्र एक अपने भाव को (परमपारिणामिकभाव रूप शुद्धात्मा को) प्राप्त करते हैं।'

श्लोक ९९ :- 'अचल (अर्थात् तीनों काल वैसा का वैसा ही परिणमता), व्यक्त (अनुभव प्रत्यक्ष) और चित् शक्तियों के समूह के भार से अत्यन्त गम्भीर (अर्थात् मात्र ज्ञानघन रूप) यह ज्ञानज्योति (यानी ज्ञानसामान्यभाव रूप ज्ञायक = शुद्धात्मा) अन्तरंग में उग्र रूप से इस प्रकार से जाज्वल्यमान हुई कि–आत्मा अज्ञान में (पर की) कर्ता होती थी वह अब कर्ता नहीं होती (यानी पर का कर्तापना धारण करनेवाले भाव में एकत्व नहीं करती) और अज्ञान के निमित्त से पुद्गल कर्म रूपी होती थी, वह कर्म रूपी नहीं होती (अर्थात् अज्ञान के निमित्त से जो बन्ध होता था वह अज्ञान जाते ही, उस के निमित्त से होनेवाला बन्ध भी अब नहीं); और ज्ञान, ज्ञान रूपी ही रहता है (मतलब ज्ञानी अपने को सामान्यज्ञान रूपी शुद्धात्मा ही अनुभव करता है जो कि त्रिकाल ज्ञान रूपी ही रहता है) और पुद्गल, पुद्गल रूपी ही रहता है (यानी ज्ञानी पुद्गल को पुद्गल रूप और उस से होनेवाले भावों को भी उस रूप ही जानकर, उन में 'मैंपन' नहीं करता अर्थात् ज्ञानी इस प्रकार भेदज्ञान करता है)।' इस प्रकार सम्यग्दर्शन प्रगट करता है।

३. पुण्य–पाप अधिकार :– इस अधिकार में भी सम्यग्दर्शन प्राप्त कराने के लिये जो सम्यग्दर्शन का विषय (दृष्टि का विषय) है यानी जो शुद्धात्मा है, उस में बन्ध रूप कोई भी भाव न होने से उस में सभी विभावभाव का अभाव होने से, बन्ध मात्र भाव यानी शुभभाव और अशुभभाव, ये दोनों (सम्यग्दर्शन के विषय में) नहीं हैं ऐसा बताने के लिये दोनों को एक समान कहा है। पुण्य और पाप यानी शुभभाव और अशुभभाव, सम्यग्दर्शन के विषय रूप परमपारिणामिकभाव रूपी – सहज परिणमन रूपी शुद्धात्मा में न होने से, दोनों को समान अपेक्षा से हेय कहा है अर्थात् दोनों विभावभाव होने से – बन्ध रूप होने से एक समान हेय है।

यहाँ किसी को एकान्त से ऐसा नहीं समझना क्योंकि अशुभभाव में परिणमने का कभी कोई उपदेश होता ही नहीं, परन्तु यहाँ बताये अनुसार सम्यग्दर्शन कराने को, दोनों भावों से भेदज्ञान कराया है और भेदज्ञान की अपेक्षा से दोनों समान ही हैं, अन्यथा नहीं।

यदि कोई अन्यथा पुण्य को हेय समझकर अथवा तो पुण्य–पाप को समान रूप से हेय

समझकर, स्वच्छन्दता से पाप रूप अर्थात् अशुभभाव से परिणमते हों, उसी में रचते हों तो वह उन के महा अनर्थ का कारण है। यदि कोई इसी प्रकार से एकान्त समझकर, इसी प्रकार से एकान्त प्रतिपादन करता हो तो वह स्वयं तो भ्रष्ट है ही और दूसरों को भी भ्रष्ट कर रहा है। जैन सिद्धान्त में विवेक का ही बोलबाला है यानी सारा कथन जिस अपेक्षा से कहा हो, उसी अपेक्षा से ग्रहण करना चाहिये, यही विवेक है; इसलिये सभी मोक्षार्थियों को पूर्व में बताये अनुसार एकमात्र आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से नियम से शुभ में ही रहने योग्य है, यही जिनसिद्धान्त का सार है जो हमने पूर्व में बार-बार बताया है। इसलिये यहाँ बताये अनुसार ही अर्थात् विवेकपूर्वक ही सभी सम्यग्दर्शन को पाते हैं और विवेकपूर्वक ही निर्वाण को पाते हैं।

गाथा १५१ : गाथार्थ :- 'निश्चय से जो परमार्थ है (अर्थात् परमपारिणामिकभाव रूपी - सहज परिणमन रूपी शुद्धात्मा है), समय है, शुद्ध है, केवली है, मुनि है, ज्ञानी है, उस स्वभाव में (शुद्धात्मा में) स्थित मुनि निर्वाण पाते हैं।'

गाथा १५२ : गाथार्थ :- 'यदि परमार्थ में अस्थित (अर्थात् मिथ्यादृष्टि) जीव तप करता है तथा व्रत धारण करता है, उस के सब तप और व्रत को सर्वज्ञ बाल तप और बाल व्रत कहते हैं।' मतलब इन बाल तप और बाल व्रत छोड़ने को नहीं कहते परन्तु इन से भी परम उत्कृष्ट ऐसा आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिये प्रोत्साहित करते हैं और जो परमार्थ में स्थित हैं, उन्हें तो नियम से आगे व्रत-तप इत्यादि आते ही हैं, ऐसा है जिनसिद्धान्त का विवेक जो कि आत्मा को ऊपर चढ़ने को ही कहता है, न कि अन्यथा। यानी व्रत-तप छोड़कर नीचे गिरने को कभी नहीं कहता।

श्लोक १११ :- ''कर्म नय के अवलम्बन में तत्पर (यानी कर्म नय के पक्षपाती यानी कर्म को ही सर्वस्व माननेवाले) पुरुष डूबे हुए हैं क्योंकि वे ज्ञान को नहीं जानते (यानी ज्ञान रूप आत्मा की यानी अपनी शक्ति में विश्वास नहीं परन्तु कर्म की यानी पर की शक्ति में विश्वास है)। ज्ञान नय के इच्छुक पुरुष भी डूबे हुए हैं (क्योंकि उन्हें एकान्त से ज्ञान का ही पक्ष होने से वे कर्म को कुछ वस्तु ही नहीं मानते और एकान्त से निश्चयाभासी रूप से परिणमते हैं) क्योंकि वे स्वच्छन्दता की वजह से अति मन्द उद्यमी हैं (क्योंकि वे निश्चयाभासी होने से, पुण्य और पाप को समान रूप से हेय अर्थात् सभी अपेक्षा से हेय अर्थात् एकान्त से हेय मानते होने से, कुछ भी पुरुषार्थ नहीं करते। एकान्त से समझते हैं और वैसा ही बोलते हैं कि 'मैं तो ज्ञानमात्र ही हूँ' और रमते हैं संसार में, अर्थात् आत्मज्ञान के लिये योग्यता इत्यादि रूप अभ्यास भी नियतिवादियों की तरह नहीं करते क्योंकि वे मानते हैं कि आत्मज्ञान के लिये योग्यता तो उस के काल में आ

ही जायेगी; इस प्रकार अपने को ज्ञानमात्र मानते हुए और वैसे ही भ्रम में रहते होने से, धर्म में योग्यता करने के लिये मन्द उद्यमी हैं और इसलिये वे विषय कषाय में बिना संकोच वर्तते हैं)।

(अब यथार्थ समझ युक्त जीव की बात करते हैं कि जो सम्यग्दृष्टि हैं) वे जीव विश्व के ऊपर तैरते हैं (यानी विश्व की अन्य किसी वस्तु में जिन का 'मैंपन' और 'मेरापन' नहीं, इसलिये उन में उन्हें कुछ भी लगाव नहीं। इसलिये वे जीव विश्व के ऊपर तैरते हैं)। वे स्वयं निरन्तर ज्ञान रूप होते – परिणमते हुए (अपने को परमपारिणामिकभाव रूपी अर्थात् सहज परिणमन रूपी अर्थात् सामान्यज्ञान रूपी अनुभवते हुए) कर्म नहीं करते (यानी कोई भी कर्म अथवा उस के निमित्त से होते भाव में 'मैंपन' और 'मेरापन' नहीं करते, कर्ता बुद्धि पोषित नहीं करते) और कभी प्रमाद के वश भी नहीं होते (यानी बुद्धिपूर्वक स्व में रहने का सतत् पुरुषार्थ करते हैं)।'

४. आस्रव अधिकार :– इस अधिकार में भी सम्यग्दर्शन प्राप्त कराने के लिये, भेदज्ञान कराने के लिये, जो सम्यग्दर्शन का विषय (दृष्टि का विषय) है यानी जो शुद्धात्मा है, उस में आस्रव रूप भाव न होने से यानी उस में सभी विभावभाव का अभाव होने से कहा है कि ज्ञानी को आस्रव नहीं है। यानी ज्ञानी को आस्रवभाव रूप जो अपना परिणमन है, उस में 'मैंपन' नहीं होता और उस में कर्तापना भी नहीं है क्योंकि ज्ञानी वे भाव स्वेच्छा से नहीं करता परन्तु मजबूरी या कमज़ोरी के कारण परिणमता है। इसलिये उस का कर्तापना नहीं माना जाता है।

ज्ञानी को अल्प आस्रव होता अवश्य है, परन्तु ज्ञानी को अनन्तानुबन्धी कषायों और मिथ्यात्व का आस्रव न होने से ज्ञानी को आस्रव नहीं है, ऐसा कहा जाता है। परन्तु यदि कोई इस बात को एकान्त से ग्रहण करके स्वच्छन्दता से आस्रवभावों का सेवन करे अथवा कोई अपने को ज्ञानी समझकर स्वच्छन्दता से आस्रवभावों का सेवन करे तो यह उस के महा अनर्थ का कारण है। यदि कोई इस प्रकार से एकान्त से समझकर इसी प्रकार एकान्त से प्रतिपादन करता हो तो वह स्वयं तो भ्रष्ट है ही और दूसरों को भी भ्रष्ट कर रहा है। जैन सिद्धान्त में विवेक की ही प्रधानता है। सारा कथन जिस अपेक्षा से कहा हो, उसी अपेक्षा से ग्रहण करना चाहिये। यही विवेक है। इसलिये सभी मोक्षार्थियों को पूर्व में बताये अनुसार एकमात्र आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से नियम से आस्रव के कारणों से दूर ही रहना योग्य है, यही जिनसिद्धान्त का सार है।

श्लोक ११६ :– 'आत्मा जब ज्ञानी होती है तब व्यक्ति स्वयं अपने समस्त बुद्धिपूर्वक राग को निरन्तर छोड़ता हुआ अर्थात् नहीं करता हुआ (यानी ज्ञानी को अभिप्राय में मात्र मुक्ति होने से किसी भी राग रूप परिणमित होने की अंश मात्र भी इच्छा नहीं होती) और जो अबुद्धिपूर्वक

राग है, उसे भी जीतने को बारम्बार (ज्ञानानुभवन रूप) स्वशक्ति को स्पर्शता हुआ और (इस प्रकार से) समस्त परवृत्तियों को – परपरिणतियों को उखाड़ता हुआ (अर्थात् अपूर्व निर्जरा करता हुआ) ज्ञान के पूर्ण भाव रूप होता हुआ वास्तव में सदा निरास्रव है।'

ऐसी है ज्ञानी की साधना – स्वयं मात्र शुद्धात्मा में ही 'मैंपन' करता हुआ और उसी की अनुभूति करता हुआ बुद्धिपूर्वक यानी प्रयत्नपूर्वक यानी पूर्ण जागृतिपूर्वक, जो भी उदय आता है, उस के सामने लड़ता है यानी उदय से परास्त हुए बिना, उदय में मिले बिना, स्वयं शुद्धात्मा में ही बारम्बार स्थिरता का प्रयत्न करता है और यदि वैसी स्थिरता अन्तर्मुहूर्त से अधिक हो जाये, तो ज्ञानी सभी घाति कर्मों का नाश करके केवली हो जाता है और फिर कुछ ही काल में मुक्त हो जाता है। यह है मोक्षमार्ग।

श्लोक १२० :– 'उद्यत ज्ञान (ज्ञानमात्र) जिस का लक्षण है ऐसे शुद्ध नय में रहकर अर्थात् शुद्ध नय का आश्रय करके जो सदा एकाग्रपने का ही अभ्यास करते हैं (यानी शुद्धात्मा में ही 'मैंपन' करके, उसी का अनुभव करके, उसी में स्थिरता का अभ्यास करते हैं) वे निरन्तर रागादि से रहित चित्तवाले वर्तते हुए (यानी शुद्धात्मा में रागादि का कण भी नहीं और उस में ही 'मैंपन' करते हुए) बन्ध रहित ऐसे समयसार को (यानी अपने शुद्ध आत्म स्वरूप को) देखते हैं – अनुभव करते हैं।'

श्लोक १२२ :– 'इस अधिकार का यही उद्देश्य है कि शुद्ध नय त्यागने योग्य नहीं (यानी मात्र शुद्ध नय में ही रहने योग्य है, क्योंकि उस में आस्रव नहीं होता), क्योंकि उस के अत्याग से (कर्म का) बन्ध नहीं होता और उस के त्याग से ही बन्ध होता है।'

श्लोक १२३ :– 'धीर और उदार (सर्वथा परद्रव्यों का जिस में त्याग है, ऐसी शुद्धात्मा परम उदार है) जिस की महिमा है ऐसे अनादि-निधन ज्ञान में (यानी त्रिकाली शुद्ध ज्ञान जो कि परमपारिणामिकभाव रूपी ज्ञानसामान्यमात्र है, उस में) स्थिरता को बाँधता हुआ (यानी उस में ही 'मैंपन' करता हुआ और उस का ही अनुभव करता हुआ) शुद्ध नय – जो कि कर्मों को मूल से नाश करनेवाला है – पवित्र धर्मी (सम्यग्दृष्टि) पुरुषों के कभी भी छोड़ने योग्य नहीं है (यानी निरन्तर ग्रहण करने योग्य है। उस में ही स्थिरता करने योग्य है। उस का ही ध्यान करने योग्य है)। शुद्ध नय में स्थित उन पुरुषों को (यानी स्वात्मानुभूति में स्थित पुरुषों को) बाहर निकलते अपनी ज्ञानकिरणों के समूह को (यानी कर्म के निमित्त से पर में जानेवाली ज्ञान की विशेष व्यक्तियों को) अल्पकाल में समेटकर पूर्ण ज्ञानघन के पुंज रूप (मात्र ज्ञानघन स्वरूप) एक, अचल शान्त

तेज को – तेज पुंज को देखते हैं अर्थात् अनुभव करते हैं।'

५. संवर अधिकार :– इस अधिकार में आचार्य भगवन्त बताते हैं कि जो सम्यग्दर्शन है यानी जो शुद्धात्मा की अनुभूति है और उस में ही स्थिरता है, वही साक्षात् संवर है। इस कारण इस अधिकार में भी आचार्य भगवन्त आत्मा के औदयिकादिभावों से भेदज्ञान कराकर जीवों को परमपारिणामिकभाव रूपी आत्मा के सहज परिणमन रूपी शुद्धात्मा में ही स्थापित करते हैं और कहते हैं कि उस शुद्धात्मा का वेदन, अनुभवन और स्थिरता ही निश्चय से संवर का कारण है; इसलिये अज्ञानी को कार्यकारी संवर नहीं है, जब कि ज्ञानी को वह सहज ही होता है। जैसे इस श्लोक में बताया है :–

श्लोक १२९ :– 'यह साक्षात् (सच्चा) संवर वास्तव में शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि से (अर्थात् सम्यग्दर्शन से) होता है; और उस शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि भेदविज्ञान से ही होती है इसलिये वह भेदविज्ञान अत्यन्त भाने योग्य है।' मतलब एकमात्र भेदविज्ञान का ही पुरुषार्थ कार्यकारी है।

श्लोक १३० :– 'यह भेदविज्ञान अविच्छिन्न धारा से (अर्थात् जिस में विच्छेद – विक्षेप न पड़े, ऐसे अखण्ड प्रवाह से) इतना भाना ताकि परभावों से छूटकर ज्ञान, ज्ञान में ही स्थिर हो जाये।' यानी केवली बनने तक यही भेदज्ञान का अभ्यास निरन्तर करने योग्य है।

श्लोक १३१ :– 'जो कोई सिद्ध हुए हैं, वे भेदविज्ञान से सिद्ध हुए हैं; और जो कोई बन्धे हैं, वे उस के (भेदविज्ञान के) ही अभाव से बन्धे हैं।' भेदविज्ञान जैनदर्शन का सार है और उस के लिये ही यह 'समयसार' नाम का पूर्ण शास्त्र रचा गया है; इसलिये समयसार में सम्यग्दर्शन प्राप्त कराने के लिये आत्मा को सम्यग्दर्शन के विषय रूप शुद्धात्मा से ही ग्रहण किया है और अन्य भावों से भेदविज्ञान कराया है।

६. निर्जरा अधिकार :– इस अधिकार में आचार्य भगवन्त बताते हैं कि जो सम्यग्दर्शन है यानी शुद्धात्मा की अनुभूति और उस में स्थिरता है, वही साक्षात् निर्जरा है, अन्यथा नहीं। इस कारण से इस अधिकार में साक्षात् निर्जरा के लिये भी अन्य सभी भावों से भेदज्ञान ही कराया है, क्योंकि एकमात्र शुद्धात्मा की शरण लेने से ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और उस सम्यग्दृष्टि को ही साक्षात् निर्जरा होती है, अन्यथा नहीं। जैसे कि –

गाथा १९५ :– 'जैसे वैद्य पुरुष विष को भोगता हुआ अर्थात् खाते हुए भी मरण को प्राप्त

नहीं होता (क्योंकि उसे उस की मात्रा, पथ्य-अपथ्य इत्यादि का ज्ञान होने से मरण को प्राप्त नहीं होता), इसी प्रकार ज्ञानी पुद्‌गल कर्म के उदय को भोगता है तथापि बन्धता नहीं।' क्योंकि ज्ञानी विवेकी होने से उन कर्मों के उदय को भोगते हुए भी उस परिणाम रूप नहीं होता अर्थात् स्वयं को उस परिणाम रूप नहीं मानता, परन्तु अपना 'मैंपन' एकमात्र शुद्धभाव में ही होने से और उस उदय को चारित्र की कमज़ोरी के कारण भोगता रहने से, उसे बन्ध नहीं है अर्थात् उस के अभिप्राय में भोग के प्रति ज़रा भी आदर भाव नहीं है क्योंकि उस का पूर्ण आदर भाव एकमात्र स्वतत्त्व रूप शुद्धात्मा में ही होता है और इस अपेक्षा से उसे बन्ध नहीं है परन्तु भोग में भी अर्थात् भोग भोगते हुए भी निर्जरा है, ऐसा कहा जाता है।

गाथा २०५ : भावार्थ :- 'ज्ञान गुण से रहित (विवेक रूप ज्ञान से रहित) बहुत से लोग (बहुत प्रकार की धर्मक्रिया करने पर भी) इस ज्ञान स्वरूप पद को प्राप्त नहीं करते (यानी सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं करते); इसलिये हे भव्य! यदि तू कर्म से सर्वथा मुक्त होना चाहता है (यानी अपूर्व निर्जरा करना चाहता है) तो नियत ऐसे इसे (ज्ञान को) (यानी परमपारिणामिकभाव रूपी आत्मा के सहज परिणमन को जो कि सामान्यज्ञान रूप है कि जिसे ज्ञायक अथवा शुद्धात्मा भी कहा जाता है, उसे) ग्रहण कर (यानी उस में ही 'मैंपन' करके उस का ही अनुभव करके, सम्यग्दर्शन प्रगट कर)।'

गाथा २०६ : गाथार्थ :- '(हे भव्य प्राणी)! तू इस में नित्यरत अर्थात् प्रीतिवाला हो, इस में नित्य सन्तुष्ट हो, और इस से तृप्त हो; (ऐसा करने से) तुझे उत्तम (उत्कृष्ट) सुख होगा।' मतलब शुद्धात्मा के आश्रय से ही मोक्ष मार्ग और मोक्ष प्राप्त होगा जो कि अव्याबाध सुख रूप है।

श्लोक १६२ :- 'इस प्रकार नवीन बन्ध को रोकता हुआ और (स्वयं) अपने आठ अंगों सहित होने के कारण (सम्यग्दृष्टि स्वयं सम्यग्दर्शन के आठ अंग सहित होता है, इस कारण से) निर्जरा प्रगट होने से पूर्वबद्ध कर्मों का नाश करता हुआ सम्यग्दृष्टि जीव स्वयं अति रस से (अतिन्द्रिय रस - सुधारस में मस्त होता हुआ) आदि-मध्य-अन्त रहित ज्ञान रूप होकर (यानी अनुभूति में मात्र ज्ञानसामान्य ही है, अन्य कुछ नहीं होने से कहा कि आदि-मध्य-अन्त रहित ज्ञान रूप होकर) आकाश के विस्तार रूपी रंगभूमि में अवगाहन करके (यानी सम्यग्दृष्टि जीव के लिये वह ज्ञान स्वरूप लोक ही उस का लोक होने से, उसी रंगभूमि में रहकर यानी चिदाकाश में अवगाहन करके) नृत्य करता है (अद्वितीय आनन्द का आस्वाद लेता है-अपूर्व आनन्द को भोगता है)।'

७. बँध अधिकार :- ज्ञानी को एकमात्र सहज परिणमन रूपी शुद्धात्मा में ही 'मैंपन'

होने से और उस का ही अनुभव करता होने से तथा उस भाव में बन्ध का सदा अभाव होने से ज्ञानी को बन्ध नहीं है ऐसा कहा जाता है।

दूसरे, ज्ञानी का विवेक जागृत हुआ होने से, जैसे वैद्य ज़हर खाने पर भी मरता नहीं, वैसे ज्ञानी भी विवेकपूर्वक अपने बल की कमी के कारण अर्थात् अपनी विवशता के कारण भोग भोगते हुए भी, उसे बहुत ही अल्प बन्ध होने से, उसे बन्ध नहीं है ऐसा कहा जाता है यानी ज्ञानी को राग में और बन्ध के अन्य कारणों में 'मैंपन' नहीं होता और स्वयं बन्ध रूप भी स्वेच्छा से परिणमित नहीं होता इसलिये इन दोनों अपेक्षाओं से उसे बन्ध नहीं है ऐसा कहा जाता है।

तीसरे, भेदज्ञान कराने को और सम्यग्दर्शन प्राप्त कराने को एकमात्र शुद्धात्मा की ही शरण लेना होने से, जो कि दृष्टि के विषय रूप शुद्धात्मा में बन्ध का सदा अभाव ही है, वही इस अधिकार का सार है।

गाथा २७८-२७९ : गाथार्थ :- 'जैसे स्फटिक मणि शुद्ध होने से (यानी ज्ञानी जिस में 'मैंपन' करता है वह शुद्धात्मा स्वयं शुद्ध होने से) लालिमा आदि रूप से (रागादि रूप से) अपने आप नहीं परिणमता (यानी ज्ञानी स्वेच्छा से राग रूप नहीं परिणमता यानी इच्छापूर्वक राग नहीं करता) परन्तु अन्य रक्त आदि द्रव्यों द्वारा वह रक्त (लाल) आदि किया जाता है, उसी प्रकार ज्ञानी (शुद्धात्मा में ही 'मैंपन' करते हुए) आत्मा शुद्ध होने से (यानी शुद्धात्मा स्वयं शुद्ध होने से) रागादि रूप अपने आप नहीं परिणमता परन्तु अन्य रागादि दोषों द्वारा (यानी उस के योग्य ऐसे कर्म के उदय के निमित्त कारण से) वह रागी आदि किया जाता है (वह अपनी विवशता के कारण रागी-द्वेषी होता है, राग-द्वेष रूप परिणमता है)।'

श्लोक १७५ :- 'सूर्यकान्त मणि की भाँति (जैसे सूर्यकान्त मणि स्वयं से ही अग्नि रूप नहीं परिणमती, उस के अग्नि रूपी परिणमन में सूर्य निमित्त है, उसी प्रकार) आत्मा स्वयं रागादि का निमित्त कभी भी नहीं होती (शुद्धात्मा स्वयं शुद्ध होने से, रागादि रूप अपने आप कभी नहीं परिणमती), उस में निमित्त परसंग ही (परद्रव्य का संग ही) है - ऐसा वस्तुस्वभाव प्रकाशमान है (सदा वस्तु का ऐसा ही स्वभाव है, किसी ने बनाया नहीं है)।'

अर्थात् आप ने पूर्व में जो 'निमित्त-उपादान' की चर्चा में देखा कि विवेकी मुमुक्षु निर्बल निमित्तों को त्यागता है यानी उन से दूर ही रहता है क्योंकि वह जानता है कि वस्तु का ऐसा ही स्वभाव है कि ख़राब निमित्त से उस का पतन हो सकता है। यह है जैन सिद्धान्त का अनेकान्तवाद।

यदि कोई निमित्त को एकान्त से अकर्ता माने और ऐसा ही प्ररूपण करे तो वह जिनमत बाह्य ही है अर्थात् वह अपने और दूसरों के पतन का कारण है, यही बात इस श्लोक में भी बतायी है कि शुद्धात्मा स्वयं शुद्ध होने से, रागादि रूप अपने आप कभी नहीं परिणमता, परन्तु उस में निमित्त परसंग ही है – ऐसा वस्तुस्वभाव प्रकाशमान है अर्थात् सदा वस्तु का ऐसा ही स्वभाव है, किसी ने बनाया नहीं है अर्थात् निमित्त स्वयं उपादान रूप से परिणमता न होने पर भी वह अमुक संयोगों में उपादान पर असर करता है और उसे ही वस्तुस्वभाव कहा है; इसीलिये जैन सिद्धान्त को विवेक से ग्रहण किया जाता है और अपेक्षा से समझा जाता है, न कि एकान्त से जो कि महा अनर्थ का कारण है।

८. मोक्ष अधिकार :– परमपारिणामिकभाव रूपी सहज परिणमनयुक्त शुद्धात्मा में 'मैंपन' करते ही स्वात्मानुभूतिपूर्वक सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और फिर उसी में निरन्तर स्थिरता करने से आत्मा क्षपकश्रेणी से चढ़कर घाति कर्मों का नाश करके केवलज्ञान–केवलदर्शन प्राप्त करती है और फिर आयु क्षय होने पर मोक्ष प्राप्त करती है; यही मोक्ष का मार्ग है और इसलिये सभी जीवों के लिये शुद्धात्मा ही सेवन करने योग्य है, यही मोक्ष अधिकार का सार है।

गाथा २९४ : गाथार्थ :– 'जीव तथा बन्ध नियत स्व लक्षणों से (अपने–अपने निश्चित लक्षणों से) छेदे जाते हैं (यानी जीव का लक्षण ज्ञान है और बन्ध का लक्षण पुद्गल रूप कर्म–नोकर्म और उन के निमित्त से होते जीव के भाव है); प्रज्ञा रूपी छैनी द्वारा (यानी तीक्ष्ण बुद्धि अथवा भगवती प्रज्ञा से उन दोनों के बीच भेदज्ञान से) छेदने में आने पर (भेदज्ञान करने पर) वे रूप भिन्न हो जाते हैं।' यानी द्रव्यदृष्टि में मात्र 'शुद्धात्मा' रूप जीव ही ग्रहण होता है और उस में ही 'मैंपन' होने पर/करने पर स्वात्मानुभूति सहित सम्यग्दर्शन प्रगट होता है यानी दोनों भावों में प्रगट भेदज्ञान हो जाता है।

गाथा २९४ : टीका :– '....आत्मा का स्वलक्षण चैतन्य है, क्योंकि वह समस्त शेष द्रव्यों से असाधारण है (यानी अन्य द्रव्यों में वह नहीं है)। वह (चैतन्य) प्रवर्तता हुआ (परिणमता हुआ) जिस–जिस पर्याय को व्याप्त कर प्रवर्तता है (जिस–जिस पर्याय रूप परिणमता है) और निवर्तता हुआ (छोड़ता हुआ – निवृत्त होता हुआ) जिस–जिस पर्याय को ग्रहण करके निवर्तता है (जिस–जिस पर्याय को छोड़ता है), वे–वे समस्त सहवर्ती या क्रमवर्ती पर्यायें आत्मा हैं ऐसा लक्षित करना.... (यहाँ समझना यह है कि आत्मद्रव्य अभेद ही है और वह अभेद रूप ही परिणमता

है। इसलिये कहा है कि समस्त सहवर्ती या क्रमवर्ती पर्यायें आत्मा हैं। जो सर्वप्रथम द्रव्य-गुण-पर्याय की समझ में बताया, वही भाव यहाँ पर दृढ़ होता है।)'

गाथा २९७ : गाथार्थ :- ''प्रज्ञा द्वारा (ज्ञान द्वारा आत्मा को) ऐसा ग्रहण करना कि जो चेतनेवाला (चैतन्यवाला) है, वह निश्चय से मैं हूँ (यानी जो जानने-देखनेवाला है, वही निश्चय से मैं हूँ क्योंकि ज्ञान वह आत्मा का लक्षण होने से आत्मा मात्र ज्ञान से ही ग्राह्य है परन्तु जो सामान्यज्ञान है, वह केवली की तरह छद्मस्थ के ज्ञान का विषय नहीं होता, वह मात्र अनुभूति का विषय है, इसलिये वह अनुभव में आता है परन्तु केवली जैसे जानते हैं वैसे छद्मस्थ को जानने में आता न होने से, सामान्यज्ञान को उस के लक्षण से यानी पदार्थ के ज्ञान से यानी पर के ज्ञान से ग्रहण किया जा सकता है। इसलिये अपेक्षा से कहा जाता है कि 'पर का जानना ज्ञायक में जाने की सीढ़ी है' यानी जिस तल पर परपदार्थ ज्ञात होते हैं, वह तल ही सामान्यज्ञान है। जो ज्ञेयाकार है, वह ज्ञान का बना हुआ होने से वास्तव में ज्ञानाकार ही है और उस में आकार को गौण करते ही, वहाँ ज्ञानमात्र अर्थात् सामान्यज्ञान रूप ज्ञायक ही है कि जो परमपारिणामिकभाव रूप यानी आत्मा के ज्ञान गुण के सहज परिणमन रूप है और उसे ही शुद्धात्मा यानी ज्ञायक कहा जाता है, वह प्राप्त होता है। उस में ही 'मैंपन' करने से, स्वात्मानुभूतिपूर्वक सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। यही विधि है सम्यग्दर्शन की।) बाक़ी के जो भाव हैं (यानी जो ज्ञेयाकार हैं, यानी जो राग-द्वेष इत्यादि विभावभाव हैं) वे मुझ से पर हैं (यानी उन से भेदज्ञान करना, किस प्रकार करना? उत्तर-उन राग-द्वेष इत्यादि विभावभावों को अत्यन्त गौण करने से वे दृष्टि में ही नहीं आते यही भेदविज्ञान की विधि है) ऐसा जानना।'' यही भाव आगे दृढ़ कराते हैं-

गाथा २९८-२९९ : गाथार्थ :- 'प्रज्ञा द्वारा ऐसा ग्रहण करना कि जो देखनेवाला है वह निश्चय से मैं हूँ, बाक़ी के जो भाव हैं वे मुझ से पर हैं ऐसा जानना और प्रज्ञा द्वारा ऐसा ग्रहण करना कि जाननेवाला है वह निश्चय से मैं हूँ, बाक़ी के जो भाव हैं, वे मुझ से पर हैं, ऐसा जानना।' पहले जो समझाया है, उसे ही यहाँ-इन गाथाओं में प्रतिपादित किया है।

गाथा ३०६-३०७ : गाथार्थ :- 'प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि-ये आठ प्रकार के विषकुम्भ हैं (यानी जो पूर्व में बताया, वैसे समयसार शास्त्र भेदज्ञान कराने के लिये होने से अर्थात् इस शास्त्र में एकमात्र शुद्धात्मा का ही लक्ष्य कराने का उद्देश्य होने से और उस में ही 'मैंपन' करा के स्वात्मानुभूतिपूर्वक सम्यग्दृष्टि बनाने का उद्देश्य होने से और उस सम्यग्दर्शन का विषय तथा सम्यग्दर्शन होने के बाद ध्यान का विषय भी शुद्धात्मा

ही है, जिस का स्वरूप सभी विकल्परहित ऐसा निर्विकल्प है, इसलिये यहाँ बताये सब विकल्पयुक्तभावों को विकल्प अपेक्षा से विषकुम्भ कहा है। क्योंकि जो जीव यहाँ बताये हुए सभी विकल्पयुक्तभावों में ही रहता है और धर्म हुआ मानता है तो वह उस के लिये विषकुम्भ समान हैं क्योंकि वह स्वयं को ये सभी कार्य करके कृतकृत्य मानता है और शुद्धात्मा का लक्ष्य भी नहीं करता तो ये समस्त भाव उस के लिये विषकुम्भ समान हैं अर्थात् यहाँ बतायी सभी अपेक्षा से और निर्विकल्प आत्मस्वरूप में ही स्थिरता कराने के लिये और उसे ही परम धर्म स्थापित करने के लिये इन सब भावों को विषकुम्भ कहा है; किसी ने इसे अन्यथा अर्थात् एकान्त से ग्रहण नहीं करना)। अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिन्दा, अगर्हा, और अशुद्धि - ये अमृतकुम्भ हैं (यानी ऊपर के सभी भावों के आगे यहाँ अ लगाकर सब विकल्पात्मक भावों का निषेध किया है यानी निश्चय नय निषेध रूप होने से और शुद्धात्मा विकल्प रहित यानी निर्विकल्प स्वभाव की होने से जो सम्यग्दर्शन का विषय है और बाद में ध्यान का भी विषय है यानी स्थिरता करने का विषय है उस में ही रहना, वह अमृतकुम्भ समान है यानी मुक्ति का कारण है इसलिये वह अमृतकुम्भ है ऐसा बताया है)।'

यहाँ किसी को छल ग्रहण नहीं करना यानी विपरीत समझ ग्रहण नहीं करना। जिस अपेक्षा से उपर्युक्त भावों को विषकुम्भ कहा है, उसे समझे बिना एकान्त से उन्हें विष रूप समझकर उन्हें छोड़ नहीं देना और स्वच्छन्दता से राग-द्वेष रूप नहीं परिणमना क्योंकि वह तो अभव्यपने अथवा दूर भव्यपने की ही निशानी है। वैसी आत्मा को अनन्त संसार समझना।

जैसे कि समाधितन्त्र गाथा ८६ में बताया है कि :- 'हिंसादि पाँच अव्रतों में अनुरक्त मनुष्य को अहिंसादि व्रतों को धारण कर के अव्रत अवस्था में होते विकल्पों का नाश करना तथा अहिंसादिक व्रतों के धारक को ज्ञान स्वभाव में लीन होकर व्रतावस्था में होते विकल्पों का नाश करना और फिर अरिहन्त अवस्था में केवलज्ञान से युक्त होकर स्वयं ही परमात्मा होना-सिद्ध स्वरूप को प्राप्त करना।' **यानी अशुभभाव तो नहीं ही, और शुद्धभाव का मूल्य चुकाकर शुभभाव भी नहीं। जिनसिद्धान्त का प्रत्येक कथन सापेक्ष ही होता है और यदि उसे कोई निरपेक्ष समझे - माने - ग्रहण करे तो वह उस के अनन्त संसार का कारण होता है, इसलिये वैसा करने योग्य नहीं नहीं नहीं है।**

९. सर्व विशुद्ध ज्ञान अधिकार :- यह अधिकार समयसार शास्त्र का हार्द है यानी इस शास्त्र का उद्देश्य है सम्यग्दर्शन प्राप्त कराना और फिर सिद्धत्व दिलाना यानी सम्यग्दर्शन प्राप्त

कराने के लिये भेदज्ञान कराने को, जो सम्यग्दर्शन का विषय (दृष्टि का विषय) है यानी जो शुद्धात्मा है, उस में कोई विभावभाव न होने से यानी उस में सभी विभावभावों का अभाव होने से, वह सर्व विशुद्ध है यानी वह अनादि-अनन्त विशुद्धभाव है जो कि परमपारिणामिकभाव, आत्मा का सहज परिणमन, गुणों का सहज परिणमन, ज्ञानमात्र, सामान्यज्ञान, सामान्य चेतना, सहज चेतना, कारण शुद्ध पर्याय, कारण समयसार, चैतन्य अनुविधायी परिणाम, कारण परमात्मा इत्यादि अनेक नामों से पहचाना जाता है, ऐसा इस अधिकार में बताया है।

ऐसे सर्व विशुद्ध (अर्थात् त्रिकाल विशुद्ध) भाव में जीव को 'मैंपन' करा के, स्वात्मानुभूति करा के सम्यग्दर्शन प्राप्त कराना और इसी भाव में बारम्बार स्थिरता करने से वह जीव घाति कर्मों का नाश करके केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त करे और पश्चात् आयु क्षय से मोक्ष प्राप्त करे अर्थात् सिद्ध हो अर्थात् सर्व-अर्थ-सिद्ध करे ऐसा सिद्धत्व दिलाना, यही इस शास्त्र का उद्देश्य है। इसीलिये केवल शुद्धात्मा को ही इस शास्त्र में आत्मा कहा है और उसी भाव का प्रतिपादन पूरे शास्त्र में किया है। वह भाव ही सर्व विशुद्धज्ञान है अर्थात् समयसार का सार है।

श्लोक १९३ :- 'समस्त कर्ता-भोक्ता आदि भावों का सम्यक् प्रकार से नाश करके (शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से गौण कर के अर्थात् आत्मा को द्रव्यदृष्टि से ग्रहण कर के) पद-पद पर (यानी जीव की प्रत्येक पर्याय में अर्थात् जो कि द्रव्य है, उस का वर्तमान भाव अर्थात् अवस्था ही पर्याय कहलाती है और उस पर्याय को द्रव्यदृष्टि से देखने से - ग्रहण करने से ही उस में रही हुई विभावभाव रूप अशुद्धि दृष्टि में आती ही न होने से उस का सम्यक् प्रकार से नाश हो पाता है यानी अत्यन्त गौण हो जाता है और उस में छिपी हुई आत्मज्योति यानी शुद्धात्मा अनुभव में आती है, वैसा भाव) बन्ध-मोक्ष की रचना से दूर वर्तता हुआ (यानी त्रिकाल शुद्ध रूप भाव-सामान्यभाव) शुद्ध-शुद्ध (यानी जो रागादिक मल तथा आवरण-दोनों से रहित है ऐसा) जिस का पवित्र अचल तेज निज रस के (ज्ञान चेतना रूपी रस के) विस्तार से भरपूर है ऐसा और जिस की महिमा टंकोत्कीर्ण (यानी वैसा का वैसा ही उपजता होने से) प्रगट है ऐसी यह ज्ञानपुंज आत्मा प्रगट होती है (यानी अनुभव में आती है)।'

गाथा ३०८ : गाथार्थ :- 'जो द्रव्य जिन गुणों से उत्पन्न होता है उन गुणों से उसे अनन्य जानो; जैसे जगत में कड़ा इत्यादि पर्यायों से सुवर्ण अनन्य है वैसे।'

जो पर्याय है वह द्रव्य की ही बनी हुई है यानी पर्याय रूप विशेषभाव को गौण करते ही साक्षात् द्रव्य हाज़िर ही है। इसीलिये पर्यायदृष्टि में जो पर्याय है वही द्रव्यदृष्टि से मात्र

द्रव्य ही है, वहाँ पर्याय अत्यन्त गौण होने से ज्ञात ही नहीं होती। यही विधि है शुद्ध द्रव्य की प्राप्ति की।

गाथा ३०९ : गाथार्थ :- 'जीव और अजीव के जो परिणाम सूत्र में बताये हैं, उन परिणामों से उस जीव अथवा अजीव को अनन्य जानो।' यही कारण है कि दृष्टि का विषय जो कि पर्याय से रहित द्रव्य कहलाता है, उसे प्राप्त करने की विधि गाथा २९४ में प्रज्ञा रूपी छैनी = भगवती प्रज्ञा = ज्ञानस्वरूप बुद्धि = तत्त्व के निर्णय सहित की बुद्धि कही है। इस कारण से विभावरूप भाव को गौण करते ही शुद्ध नय रूप = समयसार रूप आत्मा प्राप्त होती है।

गाथा ३१८ : गाथार्थ :- 'निर्वेद प्राप्त (वैराग्य को प्राप्त) ज्ञानी मधुर-कड़वे (सुख-दुःख रूप) बहुविध कर्मफल को जानता है इसलिये वह अवेदक है।' यानी उसे कर्म-नोकर्म और उस के आश्रय से होनेवाले भावों में 'मैंपन' नहीं होने से यानी उन भावों से अपने को भिन्न अनुभव करता होने से उन विशेषभावों को यानी सुख-दुःख को जानता है, तथापि अवेदक है।

श्लोक २०५ :- 'इस अरिहन्त मत के अनुयायियों अर्थात् जैनों (आत्मा) को, सांख्य मतियों की भाँति (सर्वथा) अकर्ता न मानो; भेदज्ञान होने से पहले उसे (यानी मिथ्यादृष्टि को) निरन्तर कर्ता मानो, और भेदज्ञान होने के बाद (यानी सम्यग्दृष्टि को) उद्यत ज्ञान धाम में निश्चित ऐसे (यानी मात्र सामान्यज्ञान में स्थित ऐसे) इस स्वयं प्रत्यक्ष आत्मा को कर्तापन रहित, अचल, एक परम ज्ञाता ही देखो।' यानी ज्ञानसामान्य रूप शुद्धात्मा मात्र ज्ञाता ही है, वह सामान्यभाव परम अकर्ता है परन्तु जिसे उस भाव का अनुभव नहीं, ऐसा अज्ञानी यदि अपने को अकर्ता माने तो वह एकान्त पाखण्ड मत रूप सांख्यमती जैसा होता है जो कि अनन्त संसार का कारण होता है।

गाथा ३५६ : गाथार्थ :- 'जैसे खड़िया पर की नहीं है, खड़िया तो खड़िया की ही है, वैसे ज्ञायक (जाननेवाली आत्मा) पर की नहीं है (ज्ञायक यानी जाननेवाली होने पर भी, स्व-पर को जानने का स्वभाव होने पर भी वह पर रूप से परिणम कर जानती नहीं होने से वह पर की नहीं है, परन्तु स्व-पर को जानना वह तो 'स्व' की ही परिणमन है) ज्ञायक (स्व-पर को जाननेवाला) वह तो ज्ञायक ही है (प्रतिबिम्ब को गौण करने पर मात्र परमपारिणामिकभाव रूप ज्ञायक ही है)।'

श्लोक २१५ :- ''जिस ने शुद्ध द्रव्य के निरूपण में बुद्धि को स्थापित किया है - लगाया है और जो तत्त्व को अनुभव करता है (यानी जो सम्यग्दृष्टि है) उस पुरुष को एक द्रव्य के भीतर

कोई भी अन्य द्रव्य रहता हुआ बिलकुल (कदापि) भासित नहीं होता। (जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब होने पर भी ज्ञानी दर्पण में कोई अन्य पदार्थ जो कि प्रतिबिम्ब है वह उस में घुस गया हुआ नहीं जानता यानी ज्ञानी उसे दर्पण का ही परिणमन जानता है यानी वहाँ प्रतिबिम्ब को गौण करके दर्पण को दर्पण रूप ही अनुभव करता है, उसी प्रकार) ज्ञान, ज्ञेय को जानता है (यानी ज्ञान का स्व-पर प्रकाशकपना है, 'आत्मा वास्तव में पर को नहीं जानती' ऐसा स्वरूप नहीं) वह तो इस ज्ञान के शुद्ध स्वभाव का उदय है, ऐसा है। (यानी ज्ञान स्वभाव से ही स्व-पर को जानता है ऐसा ही है) तो फिर लोग (अज्ञानी = मिथ्यादृष्टि लोग) ज्ञान को अन्य द्रव्य के साथ स्पर्श होने की मान्यता से व्याकुल बुद्धिवाले होते हुए (अर्थात् अज्ञानी = मिथ्यात्वी ज्ञान पर को जाने तो ज्ञान को पर के साथ स्पर्श हो गया मानकर आकुल बुद्धिवाले होते हुए) तत्त्व से (शुद्ध स्वरूप से) किस लिये च्युत होते हैं?' ऐसा सम्यक् स्वरूप है स्व-पर प्रकाशक का, जिसे अन्यथा समझने से मिथ्यात्व का दोष आता है जो कि उसे अनन्त संसार का कारण होता है।

श्लोक २२२ :- 'पूर्ण (यानी एक भाग शुद्ध और दूसरा भाग अशुद्ध ऐसा नहीं परन्तु जो प्रमाण के विषय रूप पूर्ण आत्मा है, वही पूर्ण आत्मा द्रव्यदृष्टि से पूर्ण शुद्ध रूप प्राप्त होती है), एक (यानी उस में कोई भाग नहीं अथवा भेद नहीं ऐसा), अच्युत और शुद्ध (यानी प्रत्येक समय वैसा का वैसा शुद्धभाव से परिणमता, प्रगट होता है। यानी विकार रहित होती है।) ऐसा ज्ञान जिस की महिमा है (ज्ञान वह आत्मा का लक्षण होने से, आत्मा मात्रज्ञान से ही ग्राह्य है और वही उस की महिमा है) ऐसी यह ज्ञायक आत्मा (यानी ज्ञानसामान्य रूप परमपारिणामिकभाव जो कि सर्व गुणों के यानी द्रव्य के सहज परिणमन रूप शुद्धात्मा है वह - जाननेवाली है) वह (असमीपवर्ती) या इन (समीपवर्ती) ज्ञेय पदार्थों से (परपदार्थों को जानने से) ज़रा भी विक्रिया को प्राप्त नहीं होती, जैसे दीपक प्रकाश्य पदार्थों से विक्रिया को प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार (यानी पर को जानने से आत्मा का ज़रा भी अनर्थ नहीं होता और दूसरा ज्ञानसामान्यभाव पर को जानने रूप क्षयोपशमभाव रूप परिणमता है तथापि वह अपना ज्ञानसामान्यपना यानी परमपारिणामिकभावपना नहीं छोड़ती यानी वह कोई विक्रिया को प्राप्त नहीं होती यानी वह परम अकर्ता ही रहती है, दर्पण के दृष्टान्त की भाँति प्रकाश्य पदार्थों से विक्रिया को प्राप्त नहीं होती)। ऐसी वस्तुस्थिति के ज्ञान से रहित जिन की बुद्धि है, ऐसे अज्ञानी जीव (यानी जिन्हें यह बात नहीं जँचती कि जो भाव विशेष में पर को जानता है वही भाव सामान्य रूप से परमपारिणामिकभाव रूप - सहज परिणमन रूप - शुद्धात्मा रूप - परमअकर्ताभाव है और वह पर को जानने से ज़रा भी विक्रिया को प्राप्त नहीं होता; ऐसे जीवों को अज्ञानी जीव मानना, ऐसे अज्ञानी जीव) अपनी सहज उदासीनता क्यों छोड़ते

हैं (अर्थात् वे अज्ञानी जीव अपने परमपारिणामिकभाव रूप – सहज परिणमन रूप ज्ञानसामान्यभाव का अनुभव क्यों नहीं करते) और राग–द्वेषमय क्यों होते हैं? (ऐसे आचार्यदेव ने करुणा की है)'।

वस्तुस्वरूप जैसा है, वैसा समझकर सभी लोग सम्यग्दर्शन प्राप्त करें, ऐसा ही आचार्यदेव का उद्देश्य है। जो कोई यहाँ बताये गये वस्तुस्वरूप से विपरीत मान्यता पोषित करते हों अथवा प्ररूपित करते हों, उन्हें शीघ्रता से अपनी मान्यता यथार्थ कर लेना अत्यन्त आवश्यक है, जिस से वे भ्रम में से बाहर निकल सकें और अपना तथा दूसरों के अहित का कारण बनने से बच सकें और वर्तमान मानव भव सार्थक कर सकें।

श्लोक २३२ :– 'पूर्व में अज्ञानभाव से किये हुए जो कर्म हैं, उन कर्म रूपी विषवृक्षों के फल को जो पुरुष (उन का स्वामी होकर) भोगता नहीं और वास्तव में अपने से ही (आत्मस्वरूप से ही – उस के अनुभव से ही) तृप्त है, वह पुरुष, जो वर्तमान काल में रमणीय है (यानी अतीन्द्रिय आनन्दयुक्त है) और भविष्य में भी जिस का फल रमणीय है, ऐसी निष्कर्म सुखमय (यानी सिद्ध दशारूप) दशान्तर को पाता है।'

इस अधिकार का मर्म यह है कि जो शुद्धात्मा में स्थित है, ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव, मात्र जानने में ही रहने से अभी भी अतीन्द्रिय आनन्द में है और उस का भविष्य भी वही है। भविष्य में सिद्ध के अनन्त सुख उस का स्वागत करने खड़े ही हैं। इसीलिये शुद्धात्मा की प्राप्ति ही सभी का कर्तव्य है। निश्चय से शुद्धात्मा ही सभी जनों के शरणभूत है।

◆

३८

समयसार के परिशिष्ट में से अनेकान्त का स्वरूप

वस्तु का स्वरूप अनेकान्तमय है और 'वह जैसा है वैसा ही' समझना अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा मिथ्यात्व का नाश शक्य ही नहीं। अनेकान्त का स्वरूप आचार्य अमृतचन्द्र कृत समयसार टीका के परिशिष्ट में बताया है, उस में से आवश्यक अंशो पर थोड़ा सा प्रकाश डालते हैं।

श्लोक २४७ (के बाद की टीका) :- "…….और जब वह ज्ञानमात्रभाव एक ज्ञान-आकार का ग्रहण करने के लिये अनेक ज्ञेयाकारों के त्याग द्वारा अपना नाश करता है (यानी परमपारिणामिकभाव की अनुभूति के लिये अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिये 'जीव वास्तव में पर को नहीं जानता' ऐसी प्ररूपणा करके ज्ञान में जो अनेक ज्ञेयों के आकार होते हैं, उन का त्याग करके अपने को नष्ट करता है अर्थात् ज्ञेयों के त्याग में ज्ञानसामान्य अर्थात् परमपारिणामिकभाव नष्ट होता है अर्थात् 'आत्मा वास्तव में पर को नहीं जानती' ऐसा कहने से ज्ञान के नाश का प्रसंग आता है। यही बात अपेक्षा लगाकर कही जाये तो समझी जा सकती है क्योंकि यह बात एकान्त से सत्य नहीं है।) तब पर्यायों से अनेकपना प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता (मतलब अनेकान्त ही बलवान है कि जिस के कारण आत्मा का स्व-पर प्रकाशकपन स्वभाविक है।) ४…..जब यह ज्ञानमात्रभाव जानने में आते हुए परद्रव्यों के परिणमन के कारण ज्ञातृद्रव्य को परद्रव्य रूप मानकर - अंगीकार कर के नाश को प्राप्त होता है, (मतलब आत्मा वास्तव में पर को जानती है परन्तु पर को जानने रूप वह जब स्वयं परिणमती है, तब उसे परद्रव्य रूप मान कर, स्वयं नाश को प्राप्त होती है यानी मिथ्यात्व पुष्ट करती है), तब (उस ज्ञानमात्रभाव का अर्थात् ज्ञेयों को) स्वद्रव्य से सत्पना प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जिलाता है - नाश को प्राप्त नहीं होने देता। ५….जब यह ज्ञानमात्रभाव अनित्य ज्ञान विशेषों द्वारा (पर को जानने रूप परिणमकर) अपना नित्य ज्ञानसामान्य खण्डित हुआ मानकर नाश को प्राप्त होता है, तब (उस ज्ञानमात्रभाव का) ज्ञानसामान्य रूप से नित्यपना प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जिलाता है-नाश को प्राप्त नहीं होने देता। (मतलब जो ऐसा मानते हैं कि 'आत्मा वास्तव में पर को नहीं जानती, ऐसा मानने से ही सम्यग्दर्शन होता है' वे भ्रमित हैं क्योंकि पर का जानना या जनवाना कभी भी सम्यग्दर्शन के लिये बाधाकारक नहीं होता, क्योंकि

उस पर के जानने के परिणमन रूप अपने विशेष आकारों को गौण करते ही समयसार रूप = परमपारिणामिकभाव की प्राप्ति होती है, सम्यग्दर्शन होता है अर्थात् वास्तव में तो 'पर का जानना, वह स्व में जाने की सीढ़ी है' क्योंकि स्थूल से ही सूक्ष्म में जाया जाता है। प्रगट से ही अप्रगट में जाया जाता है। व्यक्त से ही अव्यक्त में जाया जाता है, यही नियम है)। १३.(यही भाव श्लोक १४३ में भी दर्शाया है कि सहज ज्ञान के परिणमन द्वारा यानी परमपारिणामिकभाव द्वारा यह ज्ञानमात्र पद = समयसार रूपी आत्मा कर्म से वास्तव में व्याप्त है ही नहीं, कर्म से जीती जा सके ऐसी है ही नहीं; इसलिये निजज्ञान की कला के बल से = मतिज्ञानादि रूप - ज्ञेयाकार रूप परिणमन से इस पद को = समयसार रूप पद को = परमपारिणामिकभाव रूप पद को अभ्यास करने का जगत सतत प्रयास करो। यहाँ आत्मा का पर का जानना जो है, उसे सीढ़ी रूप से = आलम्बन रूप से प्रयोग कर के समयसार रूप भगवान आत्मा की प्राप्ति के लिये प्रयास करने को कहा है)।

और, जब यह ज्ञानमात्रभाव नित्य ज्ञानसामान्य का ग्रहण करने के लिये (समयसार रूप परमपारिणामिकभाव के ग्रहण के लिये = सम्यग्दर्शन के लिये) अनित्य ज्ञान विशेषों के त्याग द्वारा अपना नाश करता है (ज्ञान के विशेषों का त्याग करते ही स्वयं अपने को नष्ट करता है)। तब (उस ज्ञानमात्रभाव का) ज्ञान विशेष रूपी अनित्यपना प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता (यानी ऐसा मानने पर कि 'आत्मा वास्तव में पर को जानती ही नहीं' तो ज्ञेयों के = अनित्य ज्ञानविशेषों के त्याग द्वारा अपना ही नाश होता है। स्वयं भ्रम रूप परिणमता है, स्वयं मिथ्यात्व रूप परिणमता है। दूसरा, ज्ञानविशेष रूप पर्यायें यानी विभावपर्यायों का त्याग करने पर ज्ञान का = अपना नाश होता है और स्वयं भ्रम में ही रहता है, इसलिये जिनागम में 'पर्यायरहित द्रव्य' पाने के लिये ज्ञानविशेषों का त्याग नहीं यानी विभावपर्यायों का त्याग नहीं परन्तु उन्हें गौण करने का ही विधान है जो कि अनेकान्त स्वरूप आत्मा का नाश नहीं होने देता, मिथ्यात्व रूप परिणमने नहीं देता)। १४....."

श्लोक २५० :- 'पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, बाह्य पदार्थों को ग्रहण करने के (ज्ञान के) स्वभाव की अतिशयता के कारण (यहाँ बताया है कि आत्मा पर को जानती है, वह इस के स्वभाव की अतिशयता है), चारों ओर प्रगट होते अनेक प्रकार के ज्ञेयाकारों से जिस की शक्ति विदीर्ण हो गयी है, ऐसा होकर समस्त रूप से टूट जाता हुआ (खण्ड-खण्ड अनेक रूप हो जाता हुआ यानी अज्ञानी को खण्ड-खण्ड रूप विशेषभावों में रहा हुआ ज्ञानसामान्यभाव

ज्ञात नहीं होता = अखण्डभाव ज्ञात नहीं होता इसलिये खण्ड-खण्ड रूप विशेषभावों का निषेध करता है, क्योंकि वह उन से अखण्ड ज्ञान का = सामान्यज्ञान का नाश मानता है ऐसा स्वयं) नाश को प्राप्त होता है (अज्ञान को प्राप्त होता है यानी अनेक ज्ञेयों के आकार ज्ञान में ज्ञात होने से ज्ञान की शक्ति को छिन्न-भिन्न खण्ड-खण्ड रूप हो जाता मानकर अज्ञानी ऐसा कहता है कि जहाँ तक आत्मा पर को जानती है, ऐसा मानने में आवे, वहाँ तक सम्यग्दर्शन नहीं होगा = समयसार रूप आत्मा प्राप्त नहीं होगी और इसीलिये एकान्त से ऐसी प्ररूपणा करता है कि 'आत्मा वास्तव में पर को जानती ही नहीं' ऐसे लोगों को यहाँ पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी कहा है)। और अनेकान्त का जाननेवाला तो (ज्ञानी = सम्यग्दृष्टि), सदा उदित (प्रकाशमान = ज्ञानसामान्यभाव = परमपारिणामिकभाव = समयसार रूप भाव) एक द्रव्यपने के कारण (खण्ड-खण्ड रूप भासित होते ज्ञान में छिपे हुए अखण्डज्ञान की अनुभूति के कारण) भेद के भ्रम को नष्ट करता हुआ (ज्ञेयों के भेद से ज्ञान में सर्वथा भेद पड़ जाता है, ऐसे भ्रम को नाश करता हुआ यानी यदि ज्ञान को पर का जानपना मानेंगे तो सम्यग्दर्शन नहीं होगा, ऐसे भ्रम का नाश करता हुआ) जो एक है और जिस का अनुभव (समयसार रूप = परमपारिणामिकभाव रूप = ज्ञानसामान्य रूप एक अभेदआत्मा) निर्बाध है, ऐसे ज्ञान को देखता है - अनुभव करता है।' ऐसा है जैन शासन का अनेकान्तमय ज्ञान।

श्लोक २६१ : भावार्थ :- 'एकान्तवादी ज्ञान को सर्वथा एकाकार - नित्य प्राप्त करने की वाँछा से उत्पन्न होने वाली और नाश होने वाली चैतन्य परिणति से पृथक् कुछ ज्ञान को चाहता है (जैसे कि पर को जानने का निषेध करके अथवा तो पर्याय का दृष्टि के विषय में निषेध करके); परन्तु परिणाम (पर्याय = ज्ञेय) के अतिरिक्त दूसरा कोई पृथक् परिणामी नहीं होता (इस कारण से ज्ञेय अथवा पर्याय को निकालने से पूर्ण द्रव्यों का ही लोप होता है कि जिस से परिणामी हाथ नहीं आता = सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता परन्तु मात्र भ्रम का ही साम्राज्य फैलता है)। स्याद्वादी तो ऐसा मानता है कि यद्यपि द्रव्यापेक्षा ज्ञान नित्य है तथापि क्रमश: उत्पन्न होने वाली और नष्ट होने वाली चैतन्य परिणति के क्रम के कारण ज्ञान अनित्य भी है (ज्ञानसामान्य, नित्य है कि जिस का ज्ञानविशेष बना हुआ है कि जो अनित्य है) ऐसा ही वस्तुस्वभाव है।' यह बात सभी को सम्यग्दर्शन के लिये स्वीकार करना अत्यन्त आवश्यक है।

श्लोक २६२ :- 'इस प्रकार अनेकान्त अर्थात् स्याद्वाद अज्ञानी मूढ़ प्राणियों को ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व प्रसिद्ध करता हुआ स्वयमेव अनुभव में आता है।'

श्लोक २६५ : भावार्थ :- 'जो सत्पुरुष अनेकान्त के साथ सुसंगत दृष्टि के द्वारा अनेकान्तमय वस्तुस्थिति को देखते हैं, वे इस प्रकार स्याद्वाद की शुद्धि को प्राप्त करके - जान कर जिनदेव के मार्ग को - स्याद्वाद का उल्लंघन न करते हुए, ज्ञानस्वरूप होते हैं।' यानी सम्यग्दृष्टि होते है।

श्लोक २७० :- ''अनेक प्रकार की निज शक्तियों की समुदायमय यह आत्मा नयों की दृष्टि से खण्ड-खण्ड किये जाने पर तत्काल नाश को प्राप्त होता है (यदि किसी भी नय को एकान्त से ग्रहण किया जाये अथवा किसी भी नय की एकान्त प्ररूपणा की जाये अथवा किसी भी नय का एकान्त पक्ष किया जाये तो आत्मा खण्ड-खण्ड होने से तत्काल नाश को प्राप्त होती है। मिथ्यात्वी होती है और अनन्त संसार को बढ़ाती है) इसलिये मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि जिस में से खण्डों को बहिष्कृत नहीं किया गया है (यानी कि वह खण्ड-खण्ड रूप ज्ञेय हो या विभावपर्याय हो उसे आत्मा में से दूर नहीं करना) तथापि जो अखण्ड है, एक है, एकान्त शान्त है (यानी कि खण्ड-खण्ड विशेषभाव में अखण्ड सामान्यभाव रहा हुआ है, छिपा हुआ है, इसलिए खण्ड-खण्डभाव का निषेध नहीं, उसे गौण करते ही अखण्डभाव प्राप्त होता है)। और अचल है (कर्म के उदय से चलाया चलता नहीं) ऐसा चैतन्य मात्र वही 'मैं हूँ'।'' ऐसी है सम्यग्दर्शन के विषय को प्राप्त करने की विधि।

श्लोक २७१ : भावार्थ :- 'ज्ञानमात्रभाव (परमपारिणामिकभाव) जानन क्रिया रूप होने से ज्ञानस्वरूप है (यहाँ समझना ऐसा है कि जो अज्ञानी हैं और जिन्हें आत्मप्राप्ति की तड़प भी है, उन्हें ज्ञान जो कि आत्मा का लक्षण है, जो कि स्व-पर को जानता है, उस का सीढ़ी रूप से उपयोग करके आत्मा के ज्ञानमात्रस्वरूप की प्राप्ति करना अर्थात् जो ज्ञेय को जानता है, वह जाननेवाला, वही मैं हूँ - ऐसा चिन्तन करना और उस जानन क्रिया के समय ही ज्ञेय को गौण करते ही; निषेध करते नहीं - यह याद रखना; सामान्यज्ञान रूप - ज्ञानमात्रभाव की प्राप्ति होती है) और वह स्वयं ही निम्नानुसार ज्ञेय रूप है (ज्ञेय है वह ज्ञान ही है और ज्ञान है वह ज्ञायक ही है। तो पर को जानने का = ज्ञेय को जानने का निषेध करने से ज्ञान का निषेध होता है = ज्ञानमात्रभाव के अभाव का प्रसंग आता है) बाह्य ज्ञेय ज्ञान से भिन्न है, वे ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होते; ज्ञेयों के आकार की झलक ज्ञान में आने पर ज्ञान ज्ञेयाकार रूप दिखायी देता है परन्तु वे ज्ञान की ही लहरें हैं। (जब कि ज्ञेय को जानने का निषेध करने से ज्ञान कल्लोलों का ही निषेध होता है जो कि स्वयं ज्ञानमात्र के ही बने है। इसलिये ज्ञेय को जानने का निषेध करते ही ज्ञानमात्रभाव

के अभाव का प्रसंग आता है, जिस का परिणाम एकमात्र भ्रम ही है)। वे ज्ञान की लहरें ही ज्ञान द्वारा जानी जाती हैं। (यहाँ यह समझना आवश्यक है कि गाथा-६ की टीका में बताये अनुसार ज्ञान की लहरें = ज्ञेयाकार और ज्ञानमात्र ये दोनों अभिन्न ही हैं - अनन्य ही हैं और उन का अर्थात् कर्ता-कर्म का अनन्यपना होने से वे ही ज्ञायक हैं।) इस प्रकार स्वयं ही स्वयं से जानने योग्य होने से (यानी ज्ञान की लहरें और ज्ञान अनन्य हैं, और यदि उन में लहरों का निषेध किया जाये तो यानी परज्ञेय को जानने का निषेध किया जाये तो वह निषेध ज्ञायक का ही समझना। क्योंकि कर्ता-कर्म का अनन्यपना होने से ज्ञेयाकार ज्ञायक ही होता है) ज्ञानमात्रभाव (परमपारिणामिकभाव) ही ज्ञेय रूप है (यहाँ यदि ज्ञेयों को जानने का निषेध किया जाये तो ज्ञानमात्रभाव का/समयसार रूप भाव का ही निषेध होने से उन्हें आत्मा की प्राप्ति नहीं होती) और स्वयं ही (ज्ञानमात्रभाव) अपना (ज्ञेय रूप भाव = ज्ञान लहरों का) जाननेवाला होने से ज्ञानमात्रभाव ही ज्ञाता है = ज्ञायक है (यानी जो ज्ञेय को जानता है, वही मैं हूँ = वहाँ ज्ञेयों को गौण करते ही मैं प्रगट होता है नहीं कि ज्ञेयों को जानने का निषेध करने से)। इस प्रकार ज्ञानमात्रभाव, ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता इन तीनों भावों युक्त सामान्य विशेष स्वरूप वस्तु है। (सामान्य विशेष में नियम ऐसा है कि विशेष को निकालने पर सामान्य ही निकल जाता है क्योंकि वह विशेष, सामान्य का ही बना हुआ होने से, विशेष को गौण करते ही सामान्य हाज़िर होता है ऐसा समझना। इसलिये ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता में से किसी भी एक का निषेध, वह तीनों का यानी ज्ञायक का ही निषेध है, ऐसा समझना।) 'ऐसा ज्ञानमात्रभाव मैं हूँ' ऐसा अनुभव करनेवाला पुरुष अनुभव करता है (यानी यह जो जानता है, वह मैं हूँ, फिर वह जानना, स्व का हो या पर का परन्तु यहाँ यह समझना महत्त्व का है कि किसी भी प्रकार से यानी स्व का अथवा पर का, कोई भी जानपने का निषेध करते ही आत्मा का - ज्ञायक का निषेध होने से वह जिनमत बाह्य ही है जो कि समयसार गाथा-२ की टीका में भी स्पष्ट बताया है)।'

यही बात श्लोक-१४० में भी बतायी गयी है कि :- 'एक ज्ञायकभाव से भरे हुए महास्वाद को लेता हुआ (इस प्रकार ज्ञान में ही एकाग्र होने पर दूसरा स्वाद नहीं आता इसलिये) द्वन्द्वमय स्वाद के लेने में असमर्थ (यानी वर्णादिक, रागादिक तथा क्षायोपशमिकज्ञान के भेदों का स्वाद लेने में असमर्थ = इसलिये ऐसा कहा जा सकता है कि अनुभूति के काल में आत्मा पर को नहीं जानती) आत्मा के अनुभव के स्वाद के प्रभाव के अधीन होने से निज वस्तु वृत्ति को (आत्मा की शुद्ध परिणति को = परमपारिणामिकभाव को = समयसार रूप भाव को = कारण शुद्ध पर्याय को) जानता-आस्वादन करता हुआ (आत्मा के अद्वितीय स्वाद के अनुभव से बाहर नहीं आता

हुआ = यानी वहाँ कुछ भी स्व-पर नहीं, वहाँ द्रव्य-पर्याय ऐसा कुछ भी भेद नहीं, क्योंकि वर्तमान पर्याय में ही पूर्ण द्रव्य अन्तर्गत है = समाहित है) यह आत्माज्ञान के विशेषों के उदय को गौण करता हुआ (यहाँ समझना यह है कि विशेषों का निषेध नहीं, उन्हें मात्र गौण किया है। यही विधि है अनुभव की) सामान्य मात्र ज्ञान को अभ्यासता हुआ, सकल ज्ञान को एकपने में लाता है - एक रूप से प्राप्त करता है।'

श्लोक २७५ :- 'सहज (स्व के सहज भवन रूप = स्व का सहज परिणमन = परमपारिणामिकभाव = कारण शुद्ध पर्याय) तेज पुंज में (ज्ञानमात्र में) तीन लोक के पदार्थ मग्न होते होने से (ज्ञानमात्र ऐसे आत्मा का स्वभाव ही स्व-पर को जानने का है, इसलिये सारे ज्ञेय ज्ञात होते हैं = जानता है) जिस में अनेक भेद होते दिखते हैं (यानी ज्ञानमात्रभाव का ज्ञेय रूप से परिणमन दिखता है = होता है। तथापि उस से डरकर जो ज्ञानमात्रभाव का स्वभाव है, ज्ञेयों को जानने का, उस का निषेध किसी काल में हो सके ऐसा नहीं है) तो भी जिस का एक ही स्वरूप है (सामान्यभाव खण्ड-खण्ड नहीं होता, वह अभेद ही रहता है, इसलिये पर को जानने में डरने की कोई बात ही नहीं है).....'

सभी मुमुक्षु जन इस समयसार रूप शुद्धात्मा में स्थित हों और अक्षय सुख की प्राप्ति करें, इसी भावना के साथ हमने इतना विस्तार से लिखा है। तथापि मेरी छद्मस्थ दशा के कारण, इस पुस्तक में कुछ भी भूल-चूक हुई हो तो आप सुधारकर पढ़ें और मेरे द्वारा जिनाज्ञा विरुद्ध कुछ भी लिखा गया हो तो मेरा त्रिविध-त्रिविध मिच्छामि दुक्कडं। उत्तम क्षमा!

◆

३९

बारह भावना

- **अनित्य भावना :–** सारे संयोग अनित्य हैं, पसन्द या नापसन्द जैसे कोई भी संयोग मेरे साथ नित्य रहनेवाले नहीं हैं। इसलिये उन का मोह या उन के न मिलने का दुःख त्यागना। उन में 'मैंपन' और मेरापन त्यागना।

- **अशरण भावना :–** मेरे पापों के उदय के समय में मुझे माता–पिता, पत्नी–पुत्र, पैसा इत्यादि कोई भी शरण दे सके ऐसा नहीं है। वे मेरा दुःख हर सकें ऐसा भी नहीं है। इसलिये उन का मोह त्यागना, उन में मेरापन त्यागना चाहिये परन्तु कर्तव्य पूरी तरह निभाना है।

- **संसार भावना :–** संसार अर्थात् संसरण–भटकन और उस में एक समय के सुख के सामने अनन्त काल का दुःख मिलता है। अत: ऐसा संसार किसे रुचेगा? नहीं रुचेगा। इसलिये एकमात्र लक्ष्य संसार से छूटने का ही रहना चाहिये।

- **एकत्व भावना :–** अनादि से मैं अकेला ही भटकता रहा हूँ, अकेला ही दुःख भोगता रहा हूँ; मरण के समय मेरे साथ कोई भी आनेवाला नहीं है, मेरा कहा जानेवाला शरीर भी नहीं। अत: मुझे जितना सम्भव हो उतना अपने में ही (आत्मा में ही) रहने का प्रयत्न करना चाहिये।

- **अन्यत्व भावना :–** मैं कौन हूँ? यह चिन्तन करना अर्थात् पूर्व में बताये अनुसार पुद्गल और पुद्गल (कर्म) आश्रित भावों से अपने को भिन्न भाना और इसी भाव में 'मैंपन' करना चाहिये, इस का ही अनुभव करना चाहिये। इसे ही सम्यग्दर्शन कहा जाता है। यही इस जीवन का एकमात्र लक्ष्य और कर्तव्य होना चाहिये।

- **अशुचि भावना :–** हमें अपने शरीर को सुन्दर सजाने का जो भाव है, और विजातीय के शरीर का आकर्षण है, उस शरीर की चमड़ी को हटाते ही सिर्फ़ मांस, ख़ून, पीप, मल, मूत्र इत्यादि ही ज्ञात होते हैं, जो कि अशुचि हैं। ऐसा सोच कर अपने शरीर का और विजातीय के शरीर का मोह त्यागना, उस से मोहित नहीं होना।

- **आस्रव भावना :–** पुण्य और पाप ये दोनों मेरे (आत्मा के) लिये आस्रव हैं; इसलिये

विवेक द्वारा पहले तो पापों का त्याग करना और फिर एकमात्र आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से शुभभाव में रहना कर्तव्य है।

- **संवर भावना :–** सच्चे (कार्यकारी) संवर की शुरुआत सम्यग्दर्शन से ही होती है, इसलिये उस के लक्ष्य से पापों का त्याग करके एकमात्र सच्चे संवर के लक्ष्य से द्रव्य संवर पालना।
- **निर्जरा भावना :–** सच्ची (कार्यकारी) निर्जरा की शुरुआत सम्यग्दर्शन से ही होती है, इसलिये उस के लक्ष्य से पापों का त्याग करके एकमात्र सच्ची निर्जरा के लक्ष्य से यथाशक्ति तप करना।
- **लोक स्वरूप भावना :–** प्रथम, लोक का स्वरूप जानना, पश्चात् चिन्तन करना कि मैं अनादि से इस लोक में सभी प्रदेशों में अनन्त बार जन्मा और मरण को प्राप्त हुआ; मैंने अनन्त दुःख भोगे, अब कब तक यह सिलसिला चालू रखना है? अर्थात् इस के अन्त के लिये सम्यग्दर्शन आवश्यक है। अतः उस की प्राप्ति का उपाय करना। दूसरे, लोक में रहे हुए अनन्त सिद्ध भगवन्त और संख्यात अरहन्त भगवन्त और साधु भगवन्तों की वन्दना करना और असंख्यात श्रावक-श्राविकाओं तथा सम्यग्दृष्टि जीवों की अनुमोदना करना, प्रमोद करना।
- **बोधि दुर्लभ भावना :–** बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन। अनादि से अपनी भटकन का यदि कोई कारण है तो वह है सम्यग्दर्शन का अभाव। इसलिये समझ में आता है कि सम्यग्दर्शन कितना दुर्लभ है, किन्हीं आचार्य भगवन्त ने तो यह तक कहा है कि वर्तमान काल में सम्यग्दृष्टि अंगुली के पोर पर गिने जा सकें इतने ही होते हैं।
- **धर्म स्वरूप भावना :–**वर्तमान काल में धर्म स्वरूप में बहुत विकृतियाँ प्रवेश कर चुकी हैं। इसलिये सत्य धर्म की शोध और उस का ही चिन्तन करना; पूरा पुरुषार्थ उसे प्राप्त करने में ही लगाना।

– बारह भावना को विस्तार से जानने के लिये पृष्ठ ११२ देखिये।

◆

४०

नित्य चिन्तन कणिकाएं

◆ **एक समकित पाये बिना, जप तप क्रिया फोक।**
जैसा मुर्दा सिंगारना, समझ कहे तिलोक।।

अर्थात् सम्यग्दर्शन रहित सर्व जप-तप-क्रिया, श्रावकपना, क्षुल्लकपना, साधुपना इत्यादि मुर्दे को शृंगारित करने जैसा निरर्थक है। यहाँ कहने का भावार्थ यह है कि सम्यग्दर्शन के बिना तप-जप-क्रिया श्रावकत्व, क्षुल्लकत्व, साधुत्व भव का अन्त करने में कार्यकारी नहीं हैं। इस का अर्थ यह नहीं कि वे नहीं करने चाहिये। परन्तु उन से ही सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिये। उन्हें करके ही अपने को कृतकृत्य न समझकर, सारे प्रयत्न एकमात्र निश्चय सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये ही करने चाहिये।

◆ भगवान के दर्शन किस प्रकार करने चाहिये? भगवान के गुणों का चिन्तन करना और भगवान, भगवान बनने के लिये जिस मार्ग में चले, उस मार्ग में चलने का दृढ़ निर्णय करना, यही सच्चा दर्शन है।

◆ सम्पूर्ण संसार और सांसारिक सुखों के प्रति वैराग्य के बिना अर्थात् संसार और सांसारिक सुखों में रुचि रहते मोक्षमार्ग की शुरुआत होना अत्यन्त दुर्लभ है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है।

◆ जीव को चार संज्ञा-आहार, मैथुन, परिग्रह और भय अनादि से हैं; इसलिये उन के विचार सहज होते हैं। वैसे विचारों से जिन्हें छुटकारा चाहिये हो, उन्हें उन की ओर स्वयं की रुचि तलाशनी चाहिये। जब तक ये संज्ञाएँ रुचती हैं या इन में सुख भासित होता है तब तक उन से छुटकारा मिलना कठिन है। जैसे कि कुत्ते को हड्डी चूसने को देने पर वह ऐसा समझता है कि ख़ून हड्डी में से निकलता है और इसलिये उसे आनन्द आता है जो मात्र उस का भ्रम ही है, इसी तरह जीव अनादि से भ्रम में ही है। इस प्रकार जब तक उसे आहार, मैथुन, परिग्रह और भय अर्थात् बलवान का डर और कमज़ोर को डराना/दबाना रुचता है, तब तक उस जीव को इन चीज़ों के विचार सहज होते हैं और इसलिये उस के संसार का अन्त नहीं होता। इस कारण मोक्षेच्छु को इन अनादि के उल्टे संस्कारों को मूल से निकालने का पुरुषार्थ करने योग्य है जिस के लिये सर्वप्रथम

इन संज्ञाओं के प्रति आदर छूटना आवश्यक है। इस कारण से सारा पुरुषार्थ उन के प्रति वैराग्य हो, इस के लिये ही लगाना आवश्यक है। इस के लिये सद्वांचन और सच्ची समझ भी आवश्यक है।

◆ तुम्हें क्या रुचता है? यह है आत्म प्राप्ति का बैरोमीटर–थर्मॉमीटर। इस प्रश्न पर विचार करना। जब तक उत्तर में कोई भी सांसारिक इच्छा/आकांक्षा हो, तब तक अपनी गति संसार की ओर समझना और जब उत्तर एकमात्र आत्मप्राप्ति हो, तो समझना कि आप के संसार का किनारा बहुत नज़दीक़ आ गया है। इसलिये उस के लिये पुरुषार्थ बढ़ाना।

◆ तुम्हें क्या रुचता है? यह है तुम्हारी भक्ति का बैरोमीटर–थर्मॉमीटर अर्थात् भक्तिमार्ग की व्याख्या। जो आप को रुचता है, उस ओर आपकी सहज भक्ति समझना। भक्तिमार्ग अर्थात् चापलूसी अथवा व्यक्तिगत भक्ति नहीं समझना परन्तु जो आप को रुचता है, जिस में आपकी रुचि है, उसी ओर आप की पूरी शक्ति कार्य करती है। इसलिये जिसे आत्मा की रुचि जगी है और मात्र उस का ही विचार आता है, उस की प्राप्ति के ही उपाय विचारता है तो समझना कि अपनी भक्ति यथार्थ है। अर्थात् मैं सच्चे भक्तिमार्ग में हूँ। इसलिये जब तक तुम्हें क्या रुचता है, इस के उत्तर में कोई भी सांसारिक इच्छा/आकांक्षा हो अथवा कोई व्यक्ति हो, तब तक अपनी भक्ति संसार की ओर ही समझना और जब उत्तर एकमात्र आत्मप्राप्ति हो तो समझना कि आप के संसार का किनारा बहुत नज़दीक़ आ गया है। इसलिये भक्ति अर्थात् संवेग समझना और वह वैराग्य अर्थात् निर्वेद सहित ही आत्मप्राप्ति के लिये कार्यकारी है।

◆ अभय दान, ज्ञान दान, अन्न दान, धन दान, औषधि दान इत्यादि दानों में अभय दान अति श्रेष्ठ है। इसलिये सब को प्रतिदिन जीवन में जयणा/यत्न (प्रत्येक काम में कम से कम जीव हिंसा हो वैसी सावधानी) रखना अत्यन्त आवश्यक है।

◆ **प्रश्न :–** धन पुण्य से प्राप्त होता है या मेहनत से?

उत्तर :– धन की प्राप्ति में पुण्य का योगदान अधिक है और मेहनत अर्थात् पुरुषार्थ का योगदान न्यून है। क्योंकि जिस का जन्म धनी कुटुम्ब में होता है, उसे कुछ भी प्रयत्न बिना ही धन प्राप्त होता है। और कुछ व्यक्ति व्यापार में बहुत मेहनत करने पर भी धन गँवाते दिखायी देते हैं। धन कमाने के लिए प्रयत्न आवश्यक है परन्तु कितना? बहुत लोगों को बहुत अल्प प्रयत्न में अधिक धन प्राप्त होता दिखता है, जब कि किसी को

बहुत प्रयत्न करने पर भी कम धन प्राप्त होता ज्ञात होता है। इसलिये यह निश्चित होता है कि धन प्रयत्न की अपेक्षा पुण्य का अधिक वरण करता है। इसलिये जिसे धन के लिये मेहनत करना आवश्यक लगता हो, उसे भी अधिक से अधिक आधा समय ही अर्थोपार्जन में और कम से कम आधा समय तो धर्म में ही लगाने योग्य है। क्योंकि धर्म से अनन्त काल का दुःख मिटता है और साथ ही साथ पुण्य के कारण धन भी सहज ही प्राप्त होता है। जैसे गेहूँ बोने पर साथ में घास अपने-आप ही प्राप्त होती है, उसी प्रकार सत्य धर्म करने से पाप हल्के होते हैं और पुण्य तीव्र होते हैं, इसलिये भवान्त के साथ-साथ धन और सुख अपने आप ही प्राप्त होते हैं। भविष्य में अव्याबाध सुख तथा मुक्ति मिलती है।

◆ पुरुषार्थ से धर्म होता है और पुण्य से धन मिलता है। अर्थात् पूर्ण पुरुषार्थ धर्म में लगाना और धन कमाने में कम से कम समय गँवाना। क्योंकि वह धन मेहनत के अनुपात में नहीं मिलता बल्कि पुण्य के अनुपात में मिलता है।

◆ कर्मों का जो बन्ध होता है, उस के उदयकाल में आत्मा के कैसे भाव होंगे अर्थात् उन कर्मों के उदयकाल में नये कर्म कैसे बन्धेंगे, उसे उस कर्म का अनुबन्ध कहते हैं; वह अनुबन्ध, अभिप्राय का फल है; इसलिये सम्पूर्ण पुरुषार्थ अभिप्राय बदलने में लगाना अर्थात् अभिप्राय को सम्यक् करने में लगाना चाहिये।

◆ स्वरूप से मैं सिद्धसम होने पर भी, राग-द्वेष मेरे कलंक समान हैं, इसलिये उन्हें धोने के (मिटाने के) ध्येयपूर्वक धैर्य सहित धर्म रूपी पुरुषार्थ करना।

◆ सन्तोष, सरलता, सादगी, समता, सहिष्णुता, सहनशीलता, नम्रता, लघुता तथा विवेक आत्मप्राप्ति की योग्यता के लिये जीवन में उतारना अत्यन्त आवश्यक है।

◆ तपस्या में विशुद्ध ब्रह्मचर्य अति श्रेष्ठ है।

◆ सांसारिक जीव निमित्तवासी होते हैं, कार्य रूप तो नियम से उपादान ही परिणमता है परन्तु उस उपादान में कार्य हो, तब निमित्त की उपस्थिति अविनाभावी होती ही है। इसीलिये विवेक से मुमुक्षु जीव समझता है कि कार्य भले मात्र उपादान में हो परन्तु इस कारण से उन्हें स्वच्छन्दता से किसी भी निमित्त-सेवन की अनुमति नहीं मिल जाती और इसीलिये वे निर्बल निमित्तों के भीरु भाव से दूर ही रहते हैं।

- साधक आत्मा के लिये टीवी, सिनेमा, नाटक, मोबाईल, इंटरनेट इत्यादि कमज़ोर निमित्तों से दूर ही रहना अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि अच्छे से अच्छे भावों को बदल जाने में देरी नहीं लगती। दूसरे, यह सब निर्बल निमित्त अनन्त संसार अर्थात् अनन्त दु:ख की प्राप्ति के कारण बनने में सक्षम हैं।
- माता-पिता के उपकारों का बदला दूसरे किसी भी प्रकार से नहीं चुकाया जा सकता। एकमात्र उन्हें धर्म प्राप्त कराकर ही चुकाया जा सकता है। इसलिये माता-पिता की सेवा करना। माता-पिता का स्वभाव अनुकूल न हो तो भी उन की सेवा पूरी-पूरी करना और उन्हें धर्म प्राप्त कराना है। इसलिये प्रथम स्वयं धर्म प्राप्त करना आवश्यक है।
- धर्म लज्जित न हो, उस के लिये हम सभी को अपने कुटुम्ब में, व्यवसाय में, दुकान, ऑफ़िस इत्यादि में तथा समाज के साथ अपना व्यवहार अच्छा ही हो, इस का ध्यान रखना आवश्यक है।
- अपेक्षा, आग्रह, आसक्ति, अहंकार निकाल देना अत्यन्त आवश्यक है।
- स्वदोष देखो, परदोष नहीं; परगुण देखो और उन्हें ग्रहण करो, यह अत्यन्त आवश्यक है।
- अनादि से चली आ रही इन्द्रियों की गुलामी छोड़ने योग्य है।
- जिन इन्द्रियों के विषयों में जितनी ज़्यादा आसक्ति, जिन इन्द्रियों का जितना दुरुपयोग ज़्यादा, उतनी वे इन्द्रियाँ भविष्य में अनन्त काल तक मिलने की सम्भावना कम।
- मेरे ही क्रोध, मान, माया, लोभ मेरे कट्टर दुश्मन हैं, बाक़ी विश्व में मेरा कोई शत्रु ही नहीं है।
- एक-एक कषाय अनन्त परावर्तन कराने में शक्तिमान है। अगर मुझ में उन सभी कषायों का वास है तो मेरा क्या होगा? इसलिये शीघ्रता से सभी कषायों का नाश चाहना और उसी का पुरुषार्थ करना।
- अहंकार और ममकार अनन्त संसार का कारण होने में सक्षम हैं इसलिये उन से बचने का उपाय करना।
- निन्दा मात्र अपनी करना अर्थात् अपने दुर्गुणों की ही करना, दूसरों के दुर्गुण देखकर सर्वप्रथम स्वयं अपने भाव जाँचना और यदि वे दुर्गुण अपने में हों तो निकाल देना और उन के प्रति उपेक्षाभाव अथवा करुणाभाव रखना क्योंकि दूसरे की निन्दा से तो अपने

को बहुत कर्म बन्ध होता है। कोई भी किसी दूसरे के घर का कचरा अपने घर में नहीं लाता। इसी प्रकार दूसरे की निन्दा करने से उस के कर्म साफ़ होते हैं, जब कि हमें कर्मों का बन्ध होता है।

◆ ईर्ष्या करना हो तो मात्र भगवान से ही करना अर्थात् भगवान बनने के लिये भगवान की ईर्ष्या करना, अन्यथा नहीं। इस के अतिरिक्त किसी से भी ईर्ष्या करने से अनन्त दुःख देनेवाले अनन्त कर्मों का बन्ध होता है और जीव वर्तमान में भी दुःखी रहता है।

◆ जागृति हर समय रखना अथवा हर घण्टे अपने मन में परिणाम की जाँच करते रहना। मन का झुकाव किस ओर है, वह देखना और उस में आवश्यक सुधार करना। लक्ष्य एकमात्र आत्मप्राप्ति का ही रखना और वही भाव दृढ़ करते रहना।

◆ अनन्त काल तक रहने के दो ही स्थान हैं। एक सिद्ध अवस्था और दूसरा निगोद। पहले में अनन्त सुख है और दूसरे में अनन्त दुःख है। इसलिये अपने भविष्य को लक्ष्य में लेकर सभी जनों को अपने सारे प्रयत्न/पुरुषार्थ एकमात्र मोक्ष के लिये ही करना चाहिये।

◆ जो होता है, वह अच्छे के लिये होता है–ऐसा मानना। ऐसा मानने से आर्तध्यान और रौद्रध्यान से बचा जा सकता है। अर्थात् नये कर्मों के आस्रव से बचा जा सकता है।

◆ **प्रश्न :–** हमें किस का पक्ष–किस की तरफ़दारी करनी है? अर्थात् हमें कौन सा सम्प्रदाय अथवा किस व्यक्ति विशेष का पक्ष करना है?

उत्तर :– मात्र अपना ही यानी अपनी आत्मा का ही पक्ष करते रहना क्योंकि उसी में मेरा उद्धार है, अन्य किसी की तरफ़दारी नहीं, क्योंकि उस में मेरा उद्धार नहीं, नहीं और नहीं ही है, क्योंकि वह तो राग–द्वेष का कारण है। जब अपनी आत्मा का ही पक्ष लिया जाये, तब उस में सभी ज्ञानियों का पक्ष समाहित हो जाता है।

◆ जैनों को रात्रि में कोई भी कार्यक्रम–भोजन समारम्भ नहीं रखना चाहिये। किसी भी प्रसंग में फूल और पटाखे का उपयोग नहीं करना चाहिये।

◆ विवाह, यह साधक के लिये मजबूरी होती है, न कि महोत्सव। जो साधक पूर्ण ब्रह्मचर्य न पाल सकते हों, उन के लिये विवाह व्यवस्था का सहारा लेना योग्य है। इस से साधक अपना संसार निर्विघ्नता से श्रावक धर्म के अनुसार व्यतीत कर सकेगा और अपनी मजबूरी भी योग्य मर्यादा सहित पूरी कर सकेगा। ऐसी मजबूरी वाले विवाह का

महोत्सव नहीं होता क्योंकि कोई अपनी मजबूरी को उत्सव बनाकर, महोत्सव करते ज्ञात नहीं होते। इसलिये साधक को विवाह बहुत ज़रूरी हो तो ही करना चाहिये और वह भी सादगी से।

दूसरे, यहाँ बताये अनुसार विवाह को मजबूरी समझकर विवाह दिवस इत्यादि का महोत्सव करने योग्य नहीं। उस दिन तो विशेष धर्म करने योग्य है। और ऐसी भावना भाओ कि अब मुझे यह विवाह रूपी मजबूरी भविष्य में कभी न हो! जिस से मैं शीघ्रता से आत्मकल्याण कर सकूँ और सिद्धत्व प्राप्त कर सकूँ।

◆ जन्म आत्मा को अनादि का लगा हुआ भव रोग है, न कि महोत्सव क्योंकि जिसे जन्म है, उसे मरण अवश्य है और जन्म-मरण का दु:ख अनन्त होता है। इसलिये जब तक आत्मा का जन्म-मरण रूप चक्रवात चलता है, तब तक इसे अनन्त दु:खों से छुटकारा नहीं मिलता। अर्थात् प्रत्येक को एकमात्र सिद्धत्व अर्थात् जन्म-मरण से सदा के लिये छुटकारे की इच्छा करने योग्य है। इसलिये ऐसे जन्म के महोत्सव नहीं होते क्योंकि कोई अपने रोग को उत्सव बनाकर महोत्सव करते ज्ञात नहीं होता। यहाँ बताये अनुसार जन्म को अनन्त दु:ख का कारण भव रोग समझकर साधक के लिये जन्म-दिवस इत्यादि का महोत्सव करने योग्य नहीं है। अर्थात् उस दिन विशेष धर्म करने योग्य है। और ऐसी भावना भाओ कि अब मुझे यह जन्म, जो कि अनन्त दु:खों का कारण ऐसा भव रोग है, वह भविष्य में कभी भी न हो! अर्थात् साधक को एकमात्र सिद्धत्व की प्राप्ति के लिये अर्थात् अजन्मा बनने के लिये ही सारा पुरुषार्थ करने योग्य है।

◆ अनादि से पुद्गल के मोह में और उसी की तलाश में जीव दण्डित होता आया है अर्थात् उस के मोह के फल स्वरूप से वह अनन्त दु:ख भोगता आया है। इसलिये शीघ्रता से पुद्गल का मोह छोड़ने योग्य है। वह मात्र शब्दों से नहीं, जैसे कि धर्म की ऊँची-ऊँची बातें करने वाले भी पुद्गल के मोह में फँसे हुए ज्ञात होते हैं। यह जीव अनादि से इसी प्रकार स्वयं को ठगता आया है। इसीलिये सारे आत्मार्थियों से हमारा अनुरोध है कि आप अपने जीवन में अत्यन्त सादगी अपनायें। पुद्गल की जितनी हो सके उतनी आवश्यकता कम करें। आजीवन प्रत्येक प्रकार के परिग्रह की मर्यादा करें। सन्तोष रखना परम आवश्यक है जिस से स्वयं एकमात्र आत्मप्राप्ति के लक्ष्य के लिये ही जीवन जी सकते हैं। जिस से वे अपने जीव को अनन्त दु:खों से बचा सकते हैं और

अनन्त अव्याबाध सुख प्राप्त कर सकते हैं।

- आत्मार्थी को किसी भी मत-पन्थ-सम्प्रदाय-व्यक्ति विशेष का आग्रह, हठाग्रह, कदाग्रह, पूर्वाग्रह, अथवा पक्ष होना ही नहीं चाहिये क्योंकि वह आत्मा के लिये अनन्त काल की बेड़ी समान है। अर्थात् वह आत्मा को अनन्त काल भटकानेवाला है। आत्मार्थी के लिये 'अच्छा वह मेरा' और 'सच्चा वह मेरा' होना अति आवश्यक है, जिस से वह आत्मार्थी अपनी मिथ्या मान्यताओं का त्याग कर सत्य को सरलता से ग्रहण कर सके। वही उस की योग्यता कहलाती है।
- आत्मार्थी को दम्भ से हमेशा दूर ही रहना चाहिये। उसे मन-वचन और काया की एकता साधने का अभ्यास निरन्तर करते रहना चाहिये और उस में अड़चन रूप संसार से बचते रहना चाहिये।
- आत्मार्थी को एक ही बात ध्यान में रखने योग्य है कि यह मेरे जीवन का अन्तिम दिन है और यदि इस मनुष्य भव में मैंने आत्मप्राप्ति नहीं की तो अब अनन्त, अनन्त, अनन्त... काल के बाद भी मनुष्य जन्म, पूर्ण इन्द्रियों की प्राप्ति, आर्य देश, उच्च कुल, धर्म की प्राप्ति, धर्म की देशना इत्यादि मिले, ऐसा नहीं है। बल्कि अनन्त, अनन्त, अनन्त... काल पर्यन्त अनन्त, अनन्त, अनन्त... दुःख ही प्राप्त होंगे। इसलिये यह अमूल्य दुर्लभ मनुष्य जन्म मात्र शारीरिक - इन्द्रियजन्य सुख और उस की प्राप्ति के पीछे ख़र्च करने योग्य नहीं है। उस का एक भी पल को व्यर्थ न गँवाकर शीघ्रता से उसे मात्र और मात्र शाश्वत सुख, आत्मिक सुख की प्राप्ति के लिये ही लगाना योग्य है।

⁂

४१

रात्रिभोजन के सम्बन्ध में

रात्रिभोजन का त्याग मोक्ष मार्ग के पथिक के लिये तो आवश्यक है ही। उस के आधुनिक विज्ञान-अनुसार भी अनेक लाभ हैं। जैसे कि रात्रि नौ बजे शरीर की घड़ी (body clock) के अनुसार पेट में रहे हुए विष तत्त्वों की सफ़ाई का (detoxification) समय होता है। तब पेट यदि भरा हुआ हो तो शरीर वह कार्य नहीं करता अर्थात् पेट में कचरा बढ़ता है। जो रात्रि भोजन नहीं करते, उन का पाचन नौ बजे तक में हो जाने से उनका शरीर विष तत्त्वों की सफ़ाई का कार्य भली प्रकार से कर सकता है।

दूसरे, रात्रि में भोजन के पश्चात् दो से तीन घण्टे तक सोना निषिद्ध है और इसलिये जो रात्रि में देर से भोजन करते हैं, वे देर से सोते हैं। रात्रि में ग्यारह से एक बजे के दौरान गहरी नींद (deep sleep) लीवर की सफ़ाई और उस की नुक़सान भरपाई (cell regrowth) के लिये अत्यन्त आवश्यक है। यह रात्रिभोजन करनेवाले के लिये शक्य ही नहीं है। इसलिये यह भी रात्रिभोजन का बड़ा नुक़सान है। आरोग्य की दृष्टि से इसके अतिरिक्त भी रात्रिभोजन त्याग के दूसरे अनेक लाभ हैं।

आयुर्वेद, योगशास्त्र और जैनेतर दर्शनों के अनुसार भी रात्रि भोजन निषिद्ध है। जैनेतर दर्शन में तो रात्रिभोजन को मांस खाने के समान और रात्रि में पानी पीने को ख़ून पीने के समान बताया है। रात्रिभोजन करनेवाले के तप-जप-यात्रा सब व्यर्थ होते हैं और रात्रिभोजन का पाप सैकड़ों चन्द्रायतन तप करने से भी नहीं धुलता - ऐसा बताया है।

जैन दर्शन ने रात्रिभोजन को बहुत बड़ा पाप बताया है। यहाँ कोई यदि ऐसा कहे कि रात्रिभोजन त्याग इत्यादि व्रत अथवा प्रतिमाएँ तो सम्यग्दर्शन के बाद ही होती हैं तो हमें इस रात्रिभोजन का क्या दोष लगेगा? तो उन्हें हमारा उत्तर है कि रात्रिभोजन का दोष सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि को अधिक ही लगता है। क्योंकि मिथ्यादृष्टि उसे रच-पच कर सेवन करता है, जब कि सम्यग्दृष्टि तो आवश्यक न हो, अनिवार्य न हो तो ऐसे दोषों का सेवन ही नहीं करता। यदि किसी काल में ऐसे दोषों का सेवन करता है तो भी भीरुभाव से और रोग की औषधि रूप से करता है; न कि आनन्द से अथवा स्वच्छन्दता से। इस कारण किसी भी प्रकार का छल धर्मशास्त्रों से ग्रहण नहीं करना क्योंकि धर्मशास्त्रों में प्रत्येक बात अपेक्षा से होती है। इसलिये व्रत और प्रतिमाएँ पंचम गुणस्थान में कही हैं, उस का अर्थ ऐसा नहीं निकालना कि अन्य कोई निम्न भूमिकावाला उसे अभ्यास के लिये अथवा पाप से बचने के लिये ग्रहण नहीं कर सकता। रात्रिभोजन त्याग सभी के लिये अवश्य ग्रहण करने योग्य है, क्योंकि जिन्हें दुःख प्रिय नहीं है - ऐसे जीव, दुःख के कारण रूप पापों का किस प्रकार आचरण कर सकते हैं? कदापि नहीं कर सकते।

४२

समाधिमरण चिन्तन

सर्वप्रथम यह समझना आवश्यक है कि मरण अर्थात् क्या? और वास्तव में मरण किस का होता है?

उत्तर : आत्मा तो अमर होने से कभी मरण को पाती ही नहीं परन्तु आत्मा का पुद्गल रूपी शरीर के साथ जो एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध का अन्त होता है, उसे ही मरण कहा जाता है। इसलिये मरण अर्थात् आत्मा का एक शरीर छोड़कर दूसरे शरीर में जाना।

संसार में कोई एक घर छोड़कर, दूसरे अच्छे घर में रहने जाता है तब, अथवा कोई पुराने कपड़े बदलकर नये कपड़े पहनता है तब, शोक करता ज्ञात नहीं होता। ट्रेन में सब अपने-अपने स्टेशिन आने पर उतर जाते हैं परन्तु कोई उस का शोक करता ज्ञात नहीं होता।

मरण के प्रसंग में शोक क्यों होता है? इस का सब से बड़ा कारण है मोह, अर्थात् उन्हें अपना माना था, इसलिये शोक होता है। सब जानते हैं कि एक दिन सब को इस दुनिया से जाना है, तथापि अपने विषय में कभी कोई विचार नहीं करता और उस के लिये अर्थात् समाधिमरण की तैयारी भी नहीं करता। इसीलिये सब को अपने समाधिमरण के विषय में विचार कर, उस के लिये तैयारी करनी चाहिये।

प्रश्न :- समाधिमरण क्या है? उस की तैयारी कैसी होती है?

उत्तर :- समाधिमरण अर्थात् एकमात्र आत्मभाव से (आत्मा में समाधिभाव से) वर्तमान देह को छोड़ना। मैं आत्मा हूँ-ऐसे अनुभव के साथ अर्थात् सम्यग्दर्शन सहित मरण को समाधिमरण कहा जाता है। इसलिये समाधिमरण का महत्त्व इस कारण है कि वह जीव, सम्यग्दर्शन को साथ लेकर जाता है अन्यथा, समाधिमरण न होकर, वह जीव सम्यग्दर्शन का वमन कर जाता है। लोग समाधिमरण की तैयारी के लिये सन्थारा/संलेखना की भावना भाते हुए ज्ञात होते हैं। अन्त समय की आलोचना करते हुए/कराते हुए ज्ञात होते हैं, निर्यापकाचार्य (सन्थारे का निर्वाह करानेवाले आचार्य की) शोध करते ज्ञात होते हैं परन्तु सम्यग्दर्शन, जो कि समाधिमरण का प्राण है, उस के विषय में लोग अनजान ही हैं - ऐसा प्रतीत होता है। इसलिये समाधिमरण की तैयारी के लिये यह पूर्ण जीवन एकमात्र सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के उपाय में ही लगाने योग्य है, क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना अनन्त बार दूसरा सब करने पर भी आत्मा का उद्धार शक्य नहीं हुआ, भवभ्रमण का अन्त नहीं आया। सम्यग्दर्शन के बिना कोई भी उपाय करने पर, कदाचित्

एक-दो, थोड़े से भव अच्छे मिल भी जायें, लेकिन भवान्त नहीं होता। इस कारण अनन्त दु:खों का अन्त नहीं आता। अर्थात् नरक-निगोद से स्थायी बचाव नहीं होता। इसलिये ऐसे दुर्लभ सम्यग्दर्शन की प्राप्ति की तैयारी के लिये इस संसार के प्रति वैराग्य, संसार के सुखों के प्रति उदासीनता और शास्त्र स्वाध्याय से यथार्थ तत्त्व का निर्णय आवश्यक है।

यह मनुष्य भव अत्यन्त दुर्लभ है, इसलिये इस का उपयोग किस में करना - यह विचारना अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि जैसा जीवन जिया हो, प्राय: वैसा ही मरण होता है। इसलिये नित्य जागृति ज़रूरी है। जीवन में नीति-न्याय आवश्यक है। नित्य स्वाध्याय, मनन, चिन्तन आवश्यक है। आयुष्य का बन्ध चाहे जब पड़ सकता है और गति अनुसार ही मरण के समय लेश्या होती है। इसलिये जो समाधिमरण चाहते हों, उन्हें पूर्ण जीवन सम्यग्दर्शन सहित धर्ममय जीना आवश्यक है। जीवन भर तमाम प्रयत्न सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये ही करने योग्य हैं। सम्यग्दर्शन के लिये किये गये तमाम शुभभाव यथार्थ हैं, अन्यथा वे भवान्त के लिये अयथार्थ सिद्ध होते हैं। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बाद भी प्रमाद सेवन करने योग्य नहीं है क्योंकि भगवान की आज्ञा है कि एक समय भी प्रमाद मत करो।

सब को मात्र अपने ही परिणाम पर दृष्टि रखनी है। और उसी में सुधार करना है। 'दूसरा क्या करता है?' अथवा 'दूसरे क्या कहेंगे?' इत्यादि न विचारकर अपने लिये क्या योग्य है - यह विचारना। आर्तध्यान और रौद्रध्यान का सेवन नहीं करना। यदि भूल से, अनादि के संस्कारवश आर्तध्यान और रौद्रध्यान हो जाये तो तुरन्त ही उस में से पराङ्मुख होना (प्रतिक्रमण), उस का पश्चात्ताप करना (आलोचना) और भविष्य में ऐसा कभी न हो (प्रत्याख्यान) ऐसा दृढ़ निर्धारण करना। इस प्रकार दुर्ध्यान से बचकर, पूरा यत्न संसार के अन्त के कारणों में ही लगाने योग्य है। ऐसी जागृति सारे जीवन के लिये आवश्यक है। तभी मरण के समय जागृति सहित समाधि और समत्वभाव रहने की सम्भावना रहती है। इसी से समाधिमरण हो सकेगा। आप सभी को ऐसा समाधिमरण प्राप्त हो-इसी भावना के साथ....

जिनाज्ञा के विरुद्ध हमसे कुछ भी लिखा गया हो तो त्रिविध-त्रिविध हमारी ओर से मिच्छामि दुक्कडं! उत्तम क्षमा!

ॐ शान्ति: शान्ति: शान्ति:

* * *

४३

यूनिवर्सल लॉ - सभी को समानरूप से लागू होने वाली ब्रह्माण्ड की संचालन व्यवस्था

◆ मैंने जो दिया था वही मुझे मिल रहा है। मैं जो दूसरों के लिये चाहूँगा वही मेरे साथ होगा।

◆ मैं आत्मा हूँ। यह शरीर मुझे मिला हुआ किरदार है। आमतौर पर मैंने जिस की कामना की थी, वही किरदार मिलता है।

◆ मेरे साथ जो भी घट रहा है वह मेरे भूतकाल का ही प्रतिबिम्ब है। वह मेरे भूतकाल के कर्मों का फल है। मैंने जो कार्य मन-वचन-काय से नहीं किया या नहीं करवाया वह मेरे साथ कभी भी घटने वाला नहीं है।

◆ इससे तय है कि मेरे साथ भूत, वर्तमान, या भविष्य में कभी भी अन्याय न हुआ है न होगा। इसलिये मैं 'No Complaint Zone' 'शिकायत मुक्त भाव' में रह सकता हूँ। मेरे साथ जो भी होता है वह मेरे भूतकाल के कारण ही होता है। इसलिये 'मेरे साथ ही क्यों?' यह सवाल उपयुक्त नहीं है।

◆ मैं पुण्य करके और सप्त व्यसनों से (जुआ, शराब, मांस-भक्षण, वेश्या-गमन, चोरी, शिकार, परस्त्री-गमन या परपुरुष-गमन), तथा कन्द-मूल सेवन, रात्रि-भोजन और अभक्ष्य-भक्षण (अचार, मधु, अंजीर, मक्खन इत्यादि से) मुक्त रह कर अपने लिये सौभाग्य निर्मित कर सकता हूँ।

◆ यह समीकरण याद रखना है - पाप=दुःख, पुण्य=सुख।

◆ मुझे दुःख से भी फ़ायदा उठाने का तरीक़ा सीखना है।

◆ मैं यहाँ सिर्फ़ देने के लिये आया हूँ-वह भी बिना किसी शर्त या अपेक्षा के। इस तरह देकर मैं अपना पिछला कर्ज़ चुका रहा हूँ। या फिर नयी निधि जमा कर रहा हूँ। दोनों परिस्थितयों में फ़ायदा मेरा ही है।

◆ मुझे अपना फ़र्ज़ पूरे जोश से बग़ैर कोई अपेक्षा पूरा करना है। बाक़ी सभी ऐसा करें यह आग्रह भी नहीं रखना है। हम सभी को अपने परिवार, मित्र, सहयोगियों, समाज और राष्ट्र के प्रति अपना कर्तव्य पूरी निष्ठा से निभाना है।

◆ मुझे अपने साथ सख़्त और दूसरों के साथ मृदु/दयालु रहना है।

◆ जो भी हो रहा है वह अच्छे के लिये ही हो रहा है। अगर मैं यह मान लूँ तो हमेशा सकारात्मक बना रहूँगा।

◆ लोगों के साथ चार प्रकार से पेश आना है -

१. मैत्री - किसी से भी दुश्मनी नहीं होने के कारण अपनी प्रसन्नता बनी रहेगी। मित्रों का भला चाहने से अपना भला सुनिश्चित होता है।

२. प्रमोद - दूसरे के गुण देखने से वे गुण मुझमें प्रकट होंगे।

३. करुणा - पापी के प्रति करुणा रखने से अपनी प्रसन्नता बनी रहेगी।

४. माध्यस्थ्य – कोई प्रतिक्रिया नहीं। जब मुझे कोई आहत करे तब मुझे शान्त रहना है। मन में 'Thank you! धन्यवाद! स्वागतम्!' करना। इस धन्यवाद स्वागतम् के भी तीन चरण हैं।
प्रथम चरण – अपनी भूतकाल की भूल के लिये माफ़ी माँगना। (Sorry! Sorry!).
द्वितीय चरण – दोबारा ऐसी भूल कभी नहीं करूँगा यह तय करना। (Never again).
तृतीय चरण – सामनेवाले को अपने को साफ़ करनेवाला और उपकारी मानकर मन में धन्यवाद देना। (Thank You!) इससे मुझे उसके प्रति गुस्सा, घृणा या तुच्छता के भाव नहीं आयेंगे। जिससे हम इस गुस्सा, घृणा या तुच्छता के विषैले चक्र से बच जायेंगे। यह तीनों चरण हमारी प्रसन्नता के लिये रक्षा कवच हैं। इसलिये यह सिद्धान्त स्वागत योग्य है। (Welcome!) इस तरह मैं अपने आप को नकारात्मक भावों से बचा कर सकारात्मक सोच रख सकता हूँ।

◆ अपनी सोच समझपूर्वक बदलनी चाहिये, न कि बलपूर्वक। इससे अपनी प्रसन्नता भंग नहीं होती। इसीलिये हमारा मार्ग 'सहज योग' का है, 'हठ योग' का नहीं।

◆ इस जीवन में मुझे अपने शरीर और मन का उपयोग कर संसार से मुक्ति हेतु सम्यग्दर्शन प्राप्त करना है।

◆ सत्य हमारे भीतर है। उसे कहीं बाहर ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं है। हमें अपने आप को अन्दर से बदलने की आवश्यकता है।

◆ जिसने सत्य प्राप्त किया है वही मार्ग बता सकता है। वैसे लोग यश, कीर्ति, धन, वैभव, सम्मान इत्यादि के पीछे नहीं भागते।

◆ सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हेतु हमें सदैव सत्य स्वीकारने को तैयार (Ready to Accept) और अपने आप को बदलने को तैयार (Ready to Change) रहना चाहिए। सम्यग्दर्शन के लिये संसार की इच्छा, आकांक्षा, अपेक्षा छोड़ना नितान्त आवश्यक है; घर, परिवार, धन इत्यादि छोड़ने की आवश्यकता नहीं है। संसार की इच्छा, आकांक्षा, अपेक्षा छोड़ने के लिये हमें अपने आप को हर दो घण्टे में जाँचते रहना चाहिये और बारह भावना का चिन्तन करके उसे मूल से निरस्त करना है।

◆ मुझे अपने आपको बदलना है (जो आसान है), औरों को बदलने का आग्रह नहीं रखना है (जो मुश्किल है और निराशा, शोक, संताप, कष्ट इत्यादि की जनकहै); औरों को तो हम सिर्फ़ प्रेरणा दे सकते हैं।

◆ सभी संसारी जीवों के पास अनन्त काल तक रहने के दो ही स्थान हैं : १. मोक्ष (अनन्त सुख) और २. निगोद (अनन्त दुःख)। अगर मोक्ष नहीं मिला तो निगोद बिना किसी प्रयास के (by default) मिल जायेगा। इसलिये हमें मोक्ष के लिये ही सारे प्रयास करना है।

◆ अपनी औरों से तुलना न कर के अपने भूतकाल की तुलना अपने वर्तमान से करनी है और उसे बेहतर बनाना है। इस तरह हमें दैनिक प्रगति (Daily progress) करनी है।

◆ यह नियम दिन भर पालें और रात को सोने से पहले अपनी भूलों को जाँचना चाहिये।

Universal Law – Universal Operating System applicable to everyone

- I receive what I give. What I wish for others comes back to me.
- I am the soul. This body is a role that I have been given. Generally, we get the role we had hankered after.
- Whatever is happening to me is a mirror of my past. It is a reflection of my past deeds. What I have not done or not caused or allowed to be done through acts of mind, speech and body shall never happen to me.
- Therefore, no injustice is done to me either at present, or in the past or in the future. By realising this, I remain firmly in the **'No Complaint Zone'**. Whatever has caused me pain is a result of my own past actions. It has nothing to do with others. So there is no question of blaming others. Hence the **'Why Me?'** question does not arise.
- I create good luck by doing *punya* (merits) and stop doing *pâpa* (demerits).
- I create bad luck by committing *pâpa* (demerits) like indulging in the 7 vices (gambling, consuming alcohol, consuming non-vegetarian food, having relations with prostitutes, stealing, hunting and adultery/infidelity), eating root vegetables, eating after sunset, eating pickles, honey, figs, butter, etc.
- **Bear in mind:** *Pâpa* = Pain; *Punya* = Gain
- **Reflect on this**: I shall learn to gain from pain
- I am here to give unconditionally, without any expectations. By giving, I am either repaying my old debts or creating a new deposit. I benefit in both cases.
- I have to perform my duty to the best of my ability, without expecting others to do their best. All of us have to fulfill our duty towards family, friends, colleagues, society and country.
- I have to be strict with myself and lenient with others.
- Whatever happens, happens for good. This is the way of super positivity.
- I have to deal with people in four ways *(4 Bhâvanâs)*:

1. **मैत्री** *Maitri — **Universal Friendship**: It shall protect my happiness by not creating enmity with others. Wanting the welfare of others shall ensure my own welfare.*
2. **प्रमोद** *Pramoda — **Admiration**: By admiring others' virtues I shall imbibe them.*
3. **करुणा** *Karunâ — **Compassion**: Compassion for sinners because they are unaware of the Universal Law.*
4. **माध्यस्थ्य** *Mâdhyasthya — **Indifference or no response**: When anyone hurts me, I shall stay calm and contemplate upon 'Thank you! Welcome!' inside my heart. This protects my happiness.*

It is a 3-step process:

Step 1 – I shall apologise for my past mistakes **(Sorry! Sorry!)**

Step 2 – I shall not repeat my mistakes **(Never again!)**

Step 3 – I believe that my opponent has obliged me by cleaning me. So I shall say **'Thank you!'** in my heart. This will ensure that annoyance/irritation does not get triggered and that I do not get trapped in the vicious circle of anger and resentment, which leads to more and more anger and hatred.

These three steps are a shield for my happiness and good spirits. Hence, it is a **welcome** move. They save me from negative thoughts and emotions, and make space for positivity.

- Attitude changes through conviction and not by force because this is the path of *sahaja yoga* and not *hatha yoga'.*
- My goal is to use this body and mind to liberate myself by gaining *samyak darsana.*
- The truth lies within me. I do not have to go anywhere seeking it. I just need to look inwards.
- To attain *samyak darsana* (self-realisation), I am always **'Ready to Accept'** the truth/ good and **'Ready to Change'** accordingly.
- Only one who has attained samyaktva can guide others. Such a person never thrusts himself in the limelight. He never seeks fame and money. He remains in the background and helps true seekers on a one-on-one basis.
- In order to make real progress on the spiritual path, I have to rise above worldly desires, not give up my worldly home, family or wealth.
- I have to change myself, which is easy, and not others, which is not only difficult but also causes animosity, anger, anguish, disappointment, frustration and resentment.
- I have to remember this: Every soul has only two permanent abodes — ***Moksa*** *and* ***Nigoda***

Moksa = liberation, highest form of existence, the state of supreme and unending bliss
Nigoda = bondage, lowest form of existence, the state of uninterrupted grief, intense sorrow and endless pain and suffering

- I have to ask myself which option I would prefer, out of *Moksa* and *Nigoda.* If I choose *Mokca*, I have to work for it. Otherwise I will end up in *Nigoda* by default.

shall not compare myself with others. Instead, I have to compare my today with my yesterday and ensure daily improvement. This is the way to achieve ***daily progress****.*

have to check my ***Bucket List*** *and work on it with the Twelve Contemplations (bhâvanâs).*

I need to check my likes and dislikes every two hours and correct them.

have to apply this for the whole day and check for deviations at night before going to sleep.

* * *

मैत्री भावना – सर्व जीवों के प्रति मैत्री चिन्तवन करना, मेरा कोई दुश्मन ही नहीं ऐसा चिन्तवन करना, सर्व जीवों का हित चाहना।

प्रमोद भावना – उपकारी तथा गुणी जीवों के प्रति, गुण के प्रति, वीतरागधर्म के प्रति प्रमोदभाव लाना।

करुणा भावना – अधर्मी जीवों के प्रति, विपरीत धर्मी जीवों के प्रति, अनार्य जीवों के प्रति करुणाभाव रखना।

मध्यस्थ भावना – विरोधियों के प्रति मध्यस्थभाव रखना।

– मुखपृष्ठ की समझ –

अपने जीवन में सम्यग्दर्शन का सूर्योदय हो और उसके फलरूप अव्याबाध सुखस्वरूप सिद्ध अवस्था की प्राप्ति हो, यही भावना।

Ebook available on : **www.jayeshsheth.com**